Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222 ISSN-2250-2335

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

देवेश ठाकुर

जीवन के ९०वें वसंत में प्रवेश करने पर समीचीन परिवार की ओर से अनंत शुभकामनाएँ

● वर्ष-15 ● अंक 31 ● अप्रैल - जून 2022 ● पूर्णांक 69 मूल्य 100 रुपए

● प्रधान संपादक - देवेश ठाकुर ● संपादक - डॉ. सतीश पांडेय

देवेश ठाकुर रचनावली

(16 खंडों में)

(द्वितीय संस्करण)

संपादक :

डॉ. सतीश पांडेय, डॉ. बी. सत्यनारायण

मूल्य : 16,500/-

नमन प्रकाशन
4231/1, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISSN-2250-2335 Reg. No. MAHHIN/2008/26222

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की त्रैमासिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

प्रबंध संपादिका :
डॉ. रोहिणी शिवबालन
प्रधान संपादक-प्रकाशक :
डॉ. देवेश ठाकुर
संपादक :
डॉ. सतीश पांडेय
संयुक्त संपादक :
डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट
डिजिटल संपादक :
डॉ. मनीष कुमार मिश्रा

संपादकीय-संपर्क :
बी-23, हिमालय सोसाइटी,
असल्फा,
घाटकोपर (प.), मुंबई-400 084.
टेलिफोन : 25161446
Email: sameecheen@gmail.com
website-www.http//:
sameecheen.com

विशेष :
'समीचीन' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

परीक्षक विद्वत मंडल : (Peer Review Team)
1) प्रोफेसर ताकेशी फुजिई
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
टोक्यो यूनिवर्सिटी फॉर फॉरेन स्टडीज, टोक्यो
2) प्रो. (डॉ.) देवेन्द्र चौबे
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
3) प्रो. (डॉ.) वशिष्ठ अनूप
हिन्दी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उ. प्र.)
4) डॉ. नरेन्द्र मिश्र
प्रो. हिंदी, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू मैदानगढ़ी,
दिल्ली110068
5) प्रो. (डॉ.) करुणाशंकर उपाध्याय
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई
6) डॉ. अनिल सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन मंडल, मुंबई
विश्वविद्यालय, मुंबई
7) प्रो. (डॉ.) सदानंद भोसले
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
सवित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ, पुणे
8) प्रो. (डॉ.) शरेशचंद्र चुलकीमठ
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़
9) डॉ. अरुणा दुबलिश
पूर्व प्राचार्य, कनोहरलाल महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, मेरठ (उ. प्र.)

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : देवेश ठाकुर ने प्रिंटोग्राफी सिस्टम (इंडिया) प्रा. लि., 13/डी, कुर्ला इंडस्ट्रियल एस्टेट, नारी सेवा सदन रोड, नारायण नगर, घाटकोपर (प.) मुंबई-400 086 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

• वर्ष-15 • अंक 31 • अप्रैल-जून-2022 • पूर्णांक 69 • मूल्य 100 रुपए
सहयोग : एक प्रति रु. 100/-, वार्षिक रु. 400/-, पंच वार्षिक रु. 2000/-

सीधे समीचीन के खाते में भेजने के लिए : खातेधारक का नाम : **समीचीन** / sameecheen
A/C No. 60330431138, Bank of Maharashtra,
Dr. Ambedkar Road, Dadar, Mumbai. IFSC : MAHB0000045

अनुक्रमणिका

अपने तईं

1. **जंगल के जुगनू : नारी-संकल्प एवं संघर्ष का आख्यान**
   - डॉ. प्रविणचंद्र बिष्ट 05-10
2. **गोडसे@गांधी.कॉम : संवादहीनता बनाम संवाद**
   - डॉ. सदानंद भोसले, प्रा. प्रदीप रंगराव जटाल 11-15
3. **आदिवासी अस्मिता का पक्षधर कवि-अनुज लुगुन**
   - डॉ. आरिफ शौकत महात 16-21
4. **उनकी खामोशी अब भी बहुत कुछ कह रही है..**
   -डॉ. महेश दवंगे 22-27
5. **अज्ञेय का सृजनात्मक चिन्तन**-डॉ. राजन तनवर 28-32
6. **'बिखरे पन्ने' का आत्मनिरपेक्ष आत्म-** डॉ. मीना सुतवणी 33-38
7. **अब्बास किरोस्तामी की सिनेमाई प्रयोगधर्मिता का समीक्षात्मक अध्ययन-** डॉ. ईशान त्रिपाठी 39-44
8. **अमूर्त्त में मूर्त्त की सत्यताः भारत दुर्दशा-** डॉ. पूनम शर्मा 45-50
9. **गोरखनाथ के काव्य की भाषिक संरचना**-डॉ. दिनेश साहू 51-57
10. **मीरा : नारी का संघर्ष-** डॉ. सीमा रानी 58-63
11. **गुप्त जी के काव्य में व्याप्त पर्यावरण संरक्षण**-डॉ. मिथिलेश शर्मा 64-70
12. **रामानंद रामरस माते, कहहि कबीर हम कहि कहि थाके...**
    -डॉ. अशोक कुमार मीना 71-75
13. **रसानुभूति और महेश दिवाकर का काव्य**-डॉ. सुनील कुमार 76-81
14. **भविष्य की उम्मीद को टटोलती समकालीन कविता**
    -डॉ. शशि शर्मा 82-87
15. **डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' की 'बस एक ही इच्छा' में चित्रित स्त्री संवेदना**-डॉ. पठान रहीम खान 88-93
16. **'नत्थी टूट गयी थी' कहानी में चित्रित वेश्या जीवन**
    -डॉ.जाकिर हुसैन गुलगुंदी 94-98
17. **इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में ग्लोबल संस्कृति**
    -डॉ. ललित श्रीमाली 99-103
18. **बद्री सिंह भाटिया के कहानी संग्रह 'कवच' में राजनीतिक सन्दर्भ**-डॉ. अंजू बाला 104-108
19. **'झूमुर' गीतों में प्रेम**-प्रियंका दास 109-114
20. **आजादी के बाद मानवीय संवेदना का बिखरता मूल्य एवं स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास**-रविकान्त राय 115-119

21. **स्वातंत्र्योत्तर समीक्षा के नवीन प्रतिमान**–लवली रानी 120-123
22. **हिंदी ग़ज़ल में युगीन यथार्थ**– प्रो. सुधाकर शेंडगे 124-130
23. **'लौटना नहीं है' में स्त्री-जीवन**
– नैन सिंह, डॉ. अरविंद कुमार यादव 131-136
24. **भक्तिकाल और आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना**
– सपना तिवारी 137-143
25. **नरेंद्र मोहन के नाटकों में राजनीतिक व्यवस्था**-सरिता यादव 144-148
26. **वैश्वीकरण और भारतीय संस्कृति**– पीयूष कुमार, प्रो. रसाल सिंह 149-154
27. **राष्ट्रीय चेतना के नियामक कवि गोरेलाल**-डॉ. आशुतोष शर्मा 155-160
28. **यशपाल कृत 'मेरी जेल डायरी' की प्रासंगिकता**–पंचराज यादव 161-166
29. **सामाजिक उन्नयन संबंधी जीवन-मूल्य और सुदर्शन की कहानियाँ**–संजय यादव 167-170
30. **आसन्न मृत्यु और निरापद सेल्मा** –प्रतिमा भारतीया 171-176
31. **स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिकः प्रेमचंद**–डॉ. शीतांशु 177-181
32. **आदिवासियों के मानवाधिकारों एंव संवैधानिक अधिकारों की विवेचना**–डॉ. सुधीर कुमार चतुर्वेदी, मनोज यादव 182-190
33. **उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य में नारी के बदलते जीवन-मूल्य**–पिंकी खटनाल 191-196
34. **'असंभव का संधान : 'मुझे चाँद चाहिए' के सन्दर्भ में**
–अर्पणा कुमारी 197-202
35. **आदिवासियों का संघर्षमय जीवन**–प्रियंका देऊ वेलीप 203-205
36. **राकेश कुमार सिंह के कहानी संग्रह 'रूपनगर की रूपकथा' का आलोचनात्मक अध्ययन**–सुशील कुमार 206-211
37. **अनुवाद एवं अनुवाद चिंतन की परंपरा**
– डॉ. बालासाहेब सोनवने 212-214
38. **महात्मा ज्योति राव फुले**– डॉ. स्मृति चौधरी 215-218
39. **शास्त्री नित्य गोपाल कटारे की 'देख प्रकृति की ओर' तथा 'जल ही जीवन है' का वनस्पति शास्त्रीय अनुशीलन**–प्रा. आलोक गुडे, डॉ. भगवती प्रसाद उपाध्याय 219-223
40. **उदय प्रकाश की कहानियों में भूमंडलीकरण एवं भारतीय संस्कृतिः एक अनुशीलन**–इति सिंह 224-230

अपने तईं

आज हम जितनी नकारात्मक और विरोधाभासी स्थितियों के बीच जी रहे हैं, शायद ही ऐसी भयावह स्थितियाँ पहले कभी देखी गई हों। एक तरफ महाशक्तियों का अहं टकराने के कारण समूचा विश्व महाविनाश की विभीषिका की आशंका से ग्रस्त होकर बारूद की ढेर पर खड़ा है तो दूसरी ओर मीडिया का नया अवतार सोशल मीडिया ज्ञान का ऐसा अकल्पनीय किन्तु बहुत बार अविश्वसनीय भंडार परोस रहा है कि सच और झूठ का निर्णय करना विशेषज्ञों के लिए भी कठिन हो गया है। सीधा-सादा आम आदमी इस ज्ञान में से सही-गलत का निर्णय भला कैसे कर पाएगा। रही सही कसर राजनीतिक दलों के तथाकथित विशेषज्ञ प्रवक्ता पूरी करते हुए अपनी-अपनी राजनीति चमकाने के प्रयास में लगे हुए हैं।

ऐसे में सब तरफ एक दूसरे के प्रति अविश्वास, घृणा और तिरस्कार बढ़ रहा है। आरोप-प्रत्यारोप से पूरा वातावरण गूँज उठा है। हर कोई अपने पर लगे आरोपों का उत्तर दूसरे पर आरोप लगा कर दे रहा है। तू-तू-मैं-मैं का यह खेल सोशल मीडिया से लेकर इलेक्ट्रोनिक मीडिया तक ही नहीं, हमारे घरों और सड़कों तक सब जगह खेला जा रहा है। सोशल मीडिया पर अलग-अलग विचारधाराओं के अनुसार अलग-अलग समूह बने हुए हैं, जिससे जुड़े लोग 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' की तर्ज पर परस्पर प्रशंसा में जुटे हुए हैं। एक के लिए जो लोकतांत्रिक स्थिति है, उसे ही दूसरा वर्ग तानाशाही कह रहा है। जो लोग जाँच एजेंसियों के दुरुपयोग का आरोप लगा रहे हैं, वे ही अदालतों द्वारा भ्रष्टाचार के आरोप में संदेह के घेरे में पाए जा रहे हैं। सत्ता का अहं और विरोधियों का शक्ति-प्रदर्शन संसद से सड़क तक सर्वत्र व्याप्त है। बुद्धिजीवी वर्ग भी या तो खामोश है या असमंजस में तटस्थ। न तो चुप्पी कोई उपाय सुझाती है और न ही तटस्थता कोई समाधान है। बार-बार मन में यही प्रश्न उठता है कि क्या जनतंत्र की सारी संस्थाएँ असफल हो गई हैं? क्या सरकार के सभी फैसले उसकी निरंकुशता की ओर संकेत करते हैं? फिर ध्यान जाता है कि आदर्श जनतान्त्रिक स्थिति तो यही हो सकती है कि फैसले और निर्णय पर पहुँचा जाय न कि लिया जाय। जैसा कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम चित्रकूट में अयोध्या के उत्तराधिकारी का निर्णय करते समय गुरु वशिष्ठ, भाई भरत, राजा जनक और सभा में उपस्थित अन्य लोगों की राय के आधार पर एक निर्णय पर पहुँचे थे लेकिन आज न तो भरत जैसा निःस्वार्थी शासक है और न ही जनकल्याण हेतु अपने अधिकारों का त्याग करने वाले राम हैं। सत्ता के लिए कैसे-कैसे गँठजोड़ होते हैं या अहंकार के टकराव के कारण कैसे-कैसे गँठबंधन टूट जाते हैं, पिछले दिनों महाराष्ट्र की सरकारों को बनते-गिरते देखकर हम सब ने जान लिया है। ऐसे समय में सामान्य जन को जागना होगा नहीं तो हम अपनी स्थितियों के लिए दूसरों को कोसते रह जाएँगे। 'समीचीन' का यह अंक आपके सामने है। आपके सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी। अस्तु।

- **सतीश पांडेय**

जंगल के जुगनू : नारी-संकल्प एवं संघर्ष का आख्यान

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

आजादी के पश्चात नारी के चहुँमुखी विकास का मूल कारण उसका शिक्षित होना रहा है। चाहे सामान्य नारी हो अथवा विधवा, शिक्षित होने के कारण लगातार उसमें आत्मविश्वास आता गया और उसकी स्थिति सुदृढ़ होती चली गई। आधुनिक नारी के जीवन में आने वाले बदलाव और विकास को सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. देवेश ठाकुर ने न सिर्फ देखा और परखा बल्कि शिद्दत के साथ महसूस भी किया। इसी के परिणाम स्वरूप देवेश ठाकुर की कलम से 'जंगल के जुगनू' नामक उपन्यास की रचना हुई जो नारी के इसी आत्मविश्वास, संकल्प और संघर्ष का आख्यान है। इस उपन्यास में विधवा नारी रोती बिलखती अपने भाग्य को नहीं कोसती बल्कि इसे अपना प्रारब्ध मानकर अपने पति की जिम्मेदारियों को पूरे उत्साह के साथ पूरा करने का संकल्प लेती है।

'जंगल के जुगनू' अपने तरह का एक विशिष्ट उपन्यास है, जिसे लेखक ने समसामयिक परिस्थितियों के अनुकूल रचने का प्रयास किया है। उसने समाज में व्याप्त जीवन की सम-विषम दोनों परिस्थितियों को एक साथ पाठक के सामने रखा है। साथ ही जीवन के उन विविध आयामों को भी उसने रेखांकित किया है, जो व्यक्ति को कठिन से कठिन दौर में भी संघर्ष करने हुए जीना सिखाते हैं। सुखद स्थितियों में परोपकार के लिए प्रेरित करते हुए वह लोगों में नैतिक मूल्यों, परोपकार व सहयोग आदि की भावनाएँ विकसित करता है तथा कठिनाइयों और विषम परिस्थितियों में संघर्ष करने की प्रेरणा देता है।

यह एक नायिका प्रधान उपन्यास है, जिसमें लेखक ने उस वर्ग को रेखांकित किया है, जो संघर्षमय जीवन जीते हुए अपने सपनों को साकार करने के लिए निरंतर प्रयत्न शील रहता है। इस दौरान उसे न तो अपने शरीर की चिंता रहती है और न ही पेट की। कथा-नायिका पलक का चरित्र ऐसा ही है। वह अपने विद्यार्थी जीवन में कठिन एवं विपरीत परिस्थितियों के बावजूद शिक्षा अर्जन करने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देती है। शिक्षा के प्रति समर्पित पलक को उसके शिक्षक भी समय-समय पर प्रोत्साहित करते रहते हैं। जब वह अपने कॉलेज के प्रिंसिपल सदाशिवन से किसी काम से मिलने जाती तो उसकी इसी लगन को देखते हुए वे उससे कहते हैं कि वह डॉ. कुलकर्णी के अण्डर पी-एच. डी. के लिए रजिस्टर करा ले। वह डॉ. कुलकर्णी के पास जाती है तो पता चलता है कि उनके पास कोई जगह खाली नहीं है लेकिन चार दिन बाद ही डॉ. कुलकर्णी पलक को अपनी केबिन में बुलाकर कहते हैं- 'तुम एक-दो दिन में बी. ए. आर. सी. जाकर डॉ. शानबाग से मिल लो। जूलॉजी में उनका बड़ा नाम है। उनके अंडर में काम करोगी तो बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। कुछ मुश्किल पड़ेगा तो मैं भी तुम्हारी हैल्प कर दूँगा...। ठीक...?'[1] इस तरह पलक के शिक्षक डॉ. कुलकर्णी अपने पास पी-एच. डी. करने के लिए जगह न होने पर भी उसके लिए दूसरे शोध निर्देशक की व्यवस्था करते हैं। उन्हें विश्वास है कि

पलक अपना शोध कार्य समय पर पूरा कर लेगी। पलक भी अपने शिक्षकों की अपेक्षाओं पर खरा उतरने का लगातार प्रयास करती रहती है और एक दिन अपनी उच्च शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात वह स्वयं शिक्षक के सम्माननीय पद को सुशोभित करती है।

पलक सामान्य वर्ग के विद्यार्थियों के जीवन में आने वाली हर कठिनाइयों से भली-भाँति परिचित है। अतः वह भी अपने विद्यार्थियों को शिक्षा के महत्व व उसकी ताकत को समझाती है और उन्हें जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। जब उसकी विद्यार्थिनी फातिमा एक विद्यार्थी द्वारा बार-बार सताए जाने पर उस पर पलटवार कर देती है लेकिन उसके परिणाम से काफी घबरा जाती है, तब पलक अपनी विद्यार्थिनी को समस्या से घिरा देख हर कदम पर उसके साथ खड़ी रहती है। जब पलक को पता चलता है कि फातिमा को पुलिस पकड़ ले गई है तो वह सीधे पुलिस स्टेशन पहुँच जाती है। सारी स्थितियों को समझने के बाद वह इंसपैक्टर से कहती है - 'इंसपैक्टर साहब, कोई लड़का लड़की के चेहरे पर तेजाब उड़ेल दे तो भी वह बच निकलता है। पिछले साल सेंट थॉमस कॉलेज के हादसे में यही हुआ और अगर कोई लड़की बहुत मजबूर होकर ...।'[2] इस प्रकार किसी बात की परवाह किए बगैर पलक अपनी विद्यार्थिनी फातिमा की जमानत देकर उसे घर भेज देती है। इस घटना के बाद पलक को तरह-तरह की धमकियाँ मिलती हैं फिर भी वह फातिमा के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी रहती है।

इस तरह कथा-नायिका एक तरफ अपनी पारिवारिक परिस्थितियों से त्रस्त रहती है तो दूसरी तरफ अपने विद्यार्थियों की समस्याओं के समाधान के लिए लोहा लेती है। पारिवारिक धरातल पर वह शुरू से अंत तक माँ के रूखे व्यवहार से त्रस्त रहती है। माँ की मृत्यु के पश्चात जब उसको पता चलता है कि माँ ने उसके घर को तीनों बहनों के नाम कर दिया है तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। तब बब्बू पलक से कहती है, 'यह घर तेरा है। मैं और सब्बू इसे तेरे नाम कर देंगे लेकिन जब सब्बू को इस हेतु बुलाया जाता है तो वह राजी नहीं होती। पलक पहली बार ऊँची आवाज में सब्बू से कहती है- 'तू इस पेपर पर साइन करके मुझ पर कोई अहसान नहीं कर रही है सब्बू। माँ के सारे एफ. डीज. और सारे जेवर तूने बेशर्मी के साथ कब्जा लिए। हमने तो तुझसे कुछ नहीं कहा और यह फ्लैट जिस पर तू अपना भी हक जता रही है, मेरी और सिर्फ मेरी कमाई से खरीदा गया है। इसके पेमैंट की एक-एक रसीद मेरे पास है और इसका एक-एक पैसा मेरे बैंक से दिया गया है। बेशर्मी और स्वार्थ को भी एक सीमा तक ही सहन किया जाता है। पैसे के लिए तूने तो अपना आपा ही खो दिया।'[3]

लेखक ने यहाँ पर लालच की पराकाष्ठा को अभिव्यक्ति दी है, जो व्यक्ति के मस्तिष्क के संतुलन को तो बिगाड़ ही देता है, साथ ही समस्त रिश्तों में भी कड़वाहट पैदा कर देता है। उसका मानना है कि मनुष्य के जीवन में आने वाली समस्याएँ उसे कुछ न कुछ सिखाकर ही जाती हैं। अतः व्यक्ति को हर परिस्थिति का स्वागत करना चाहिए। पलक अनेक पड़ावों पर मोर्चा सँभाले हुए भी किसी भी स्थिति में हार स्वीकार नहीं करती।

लेखक ने पलक के माध्यम से यहाँ एक सशक्त स्त्री के व्यक्तित्व को रेखांकित किया है। 'जंगल के जुगनू' की नायिका अन्य उपन्यासों की नायिका से इसलिए भी भिन्न है कि वह किसी भी परिस्थिति में हाथ पर हाथ धरे रोती नहीं रहती और न ही समाज व परिवार द्वारा दी जाने वाली यातनाओं को चुपचाप सहती है। वह उन सारी समस्याओं का विवेकपूर्ण तरीके से समाधान खोजती है और सभी स्थितियों को सामान्य बनाने में सफल होती है, जिसकी वर्तमान परिवेश में अत्यधिक आवश्यकता है।

पलक के व्यक्तित्व का एक और महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसे हम उसके जीवन का विकट समय भी कह सकते हैं। वह विवाह के कुछ ही महीनों पश्चात विधवा हो जाती है और उस पर पूरे परिवार की जिम्मेदारी आ जाती है। पलक सोचती है कि अभी जिंदगी शुरू की ही थी कि सब कुछ समाप्त हो गया। अब वह दुनिया में निपट अकेली रह गई है। वह सोचती है- 'कहने के लिए माँ-बाप थे। बहनें थीं। लेकिन सभी अपने में इतने आत्मकेंद्रित और स्वार्थी थे कि उनसे कोई उम्मीद नहीं की जा सकती थी।'[4] वह अपने परिवार के साथ-साथ अपनी माँ और मौसी की जिम्मेदारी भी उठाती है। माँ द्वारा किया जाने वाला दुर्व्यवहार उसे बहुत खटकता है लेकिन तब भी वह अपनी जिम्मेदारियों से मुँह नहीं मोड़ती है। इन सबके चलते उसका संपर्क समाजसेवी देवांगी से होता है। अब वह अपने परिवार के साथ-साथ देवांगी दी के साथ समाज सेवा के कार्यों में संलग्न हो जाती है। देवांगी उसे अपनी सारी योजनाएँ बताती है और समाज में हाशिए पर डाल दिए गए लोगों को मुख्यधारा में लाने के लिए किए जाने वाले प्रयास में उसका साथ चाहती है। वह यह मानती है कि यदि इस वर्ग को सही दिशा मिल जाए तो इनके जीवन में भी क्रांतिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है। यह सुन पलक देवांगी के सामाजिक कार्यों में पूरी तरह से समर्पित होने का संकल्प ले लेती है। इसके लिए वह अपने विद्यार्थियों को भी जोड़ती है। समाज सेवा के इस कार्य की ओर आगे बढ़ने पर पलक कहती है- 'यहाँ बेनसीब, बेसहारा, लोगों से उन्हें जो सम्मान मिलता है, जो स्वीकृति मिलती है, वह उनके जीने के अर्थ को सार्थक बना देती है। और फिर वे भी उसी में ढल जाती हैं।'[5] इस प्रकार लेखक ने संकेत किया है कि जीवन में शांति और सुकून प्राप्त करने के लिए अपने मन के अनुकूल कार्य करने चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता है।

'जंगल के जुगनू' में लेखक ने एक तरफ सामान्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करती पलक के माध्यम से इस वर्ग की क्षमता और मानसिकता को अभिव्यक्ति दी है तो दूसरी तरफ उच्च वर्ग की देवांगी के समर्पण और त्याग को भी अनदेखा नहीं किया है। समृद्ध परिवार की बहू देवांगी अपने दैनिक कार्यों के साथ-साथ सामाजिक दायित्व को निभाने के लिए भी प्रतिबद्ध है। वह शादीशुदा होने के बावजूद अपने पति के घृणित कार्यों से त्रस्त होकर उसका साथ छोड़ने का निर्णय लेती है। इस पर उसे किसी भी तरह का पछतावा नहीं होता है बल्कि वह अपने जीवन को जीने का आधार समाज को बना लेती है। वह कहती है - 'कितना प्यार, कितनी ममता है इन लोगों के दिलों में। इनके लिए थोड़ा भी कुछ

कर दो, ये उस पर न्योछावर हो जाते हैं। अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तैयार हो जाते हैं उसके लिए। इनकी जिंदगी में कितना अँधेरा है, इनकी छोटी-छोटी समस्याएँ कितनी बड़ी हैं, इनके दुःख कितने घने हैं लेकिन इस सबके बावजूद इनके दिल कितने खुले, कितने विशाल हैं। मैं मन ही मन इनको प्रणाम करती हूँ।'[6] इस प्रकार देवांगी को समाज के असहाय वर्ग की मदद करने में अद्भुद आनंद महसूस होता है। आज हमारी राजनीति में भी इस तरह की क्रांति देखने को मिल रही है फिर भले ही वह स्वार्थ वश ही क्यों न हो, जन-कल्याण मुखर होता दिखाई दे रहा है। आज के सत्ताधीश भी इस वर्ग के प्रति समर्पित दिखाई दे रहे हैं। उन्हें भी इस वर्ग से अगाध प्रेम मिल रहा है। इन सभी स्थितियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी पर लेखक के 'सहयोग' के कार्य-पद्धति का असर हुआ हो, जो लेखक के उपन्यास को कालजयी बनाता है।

देवांगी अपना संपूर्ण जीवन सामाजिक कार्यों के लिए समर्पित कर देती है। वह अपनी 'सहयोग' नामक संस्था के माध्यम से हाशिए पर पड़े लोगों को जीवन का महत्व बताते हुए एक बेहतर जीवन जीने के लिए उनका मार्ग प्रशस्त करती है। इस तरह देवांगी अपने सामाजिक कार्यों की बदौलत सम्माननीय जीवन जीती है। लेखक ने देवांगी के व्यक्तित्व के माध्यम से भी एक सशक्त नारी को अभिव्यक्ति दी है। लेखक का मानना है कि यदि नारी भी अपने उद्देश्यों के प्रति संकल्पित हो जाए तो वह किसी भी पुरुष से कम नहीं है। वह उन सभी कार्यों को करने में सक्षम बन सकती है, जिन्हें पूरा करने का दावा सिर्फ पुरुष-वर्ग ही करता आया है।

लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से कुछ पुरुष पात्रों को भी रेखांकित किया है जो पुरुष वर्ग की मानसिकता को अभिव्यक्त करते हैं। इस उपन्यास में चेटियार पलक का मकान-मालिक है। वह पलक के पति के गुज़रने पर पलक की मदद करता है। इस दौरान वह पलक के इतने करीब आ जाता है या यों कहें कि पलक उसके एहसानों के बोझ तले इस कदर दब चुकी होती है कि वह अब चेटियार की किसी भी बात का विरोध नहीं करती। चेटियार इसी का फायदा उठाने की कोशिश करता है और वह उसके शारीरिक शोषण तक की सीमाओं को लाँघने में भी किसी तरह का संकोच नहीं करता। इसीलिए पलक कहती भी है कि 'चेटियार के लिए तो मेरा घर ही उसका दूसरा घर हो गया था।'[7] इस तरह उपन्यासकार ने समाज के घृणित मानसिकता वाले पुरुषों की घृणित सोच को अभिव्यक्ति दी है।

इस उपन्यास का दूसरा पुरुष पात्र अशोक है जो देवांगी का पति है। वह उच्च शिक्षा प्राप्त कर विदेश से लौटा है। देवांगी जिस विश्वविद्यालय से ग्रेजुएशन कर रही थी, वह उसी विश्वविद्यालय के ट्रस्टी का बेटा था। एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में उसने देवांगी को पसंद कर लिया था और बाद में उन दोनों की शादी भी हो गई। शादी के पश्चात देवांगी के सामने अशोक का असली चेहरा आता है। देवांगी कहती है -'धीरे धीरे मेरे सामने अशोक की असलियत खुलने लगी। बाहर से वह जितना शालीन और सभ्य लगता था,

भीतर से उतना ही कठोर और कामुक था। उसकी नजर में मैं उसके लिए एक जिस्म थी। एक खिलौना जिससे वह जब चाहे खेल सकता था। सुबह, दिन, रात, शाम - कभी भी। बिस्तर, बाथरूम, गैलरी, किचन कहीं भी। बाद में पता लगा कि उसके दूसरी औरतों से भी संबंध थे। मैं पहले तो बहुत डिस्टर्ब रही, बाद में उसे देखते ही मुझे उबकाई आने लगती। मेरा जीवन मरण हो गया।'[8] आगे देवांगी कहती है हद तो तब हो गई जब एक दिन रोज़ नामक एक विदेशी औरत एक बच्चे के साथ अशोक के घर आ धमकती है और अशोक को उस बच्चे का पिता बताती है। यह सुन कर घर के सभी सदस्य सन्न रह जाते हैं। अशोक से पूछने पर वह कहता है- 'तो आपके सवाल का जवाब यह है कि हाँ, मैंने शादी की थी और तीन महीने बाद हमने आपसी रजाबंदी से डाइवोर्स भी ले लिया था।'[9] इस प्रकार अशोक ने उस बच्चे के पिता होने की स्वीकृति भी दे दी। इस तरह उपन्यासकार ने एक विशेष वर्ग के पुरुष वर्ग की मानसिकता को अशोक के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। ऐसा बिल्कुल नहीं है कि कुछ तथाकथित स्त्री लेखिकाओं की तरह पुरुष को कटघरे में खड़ा कर वाह-वाही लूटने के लिए उपन्यासकार ने इस तरह की कहानी गढ़ी हो। उपन्यासकार देवेश ठाकुर ने पुरुष के स्वाभिमानी व्यक्तित्व को भी उसी ताकत के साथ अभिव्यक्ति दी है जिस तरह से पुरुष की कमजोरी को।

उपन्यासकार ने शहर के बहुत बड़े उद्यमी सूरजभान बाफना के माध्यम से पुरुष के स्वाभिमानी व्यक्तित्व को भी रेखांकित किया है। सूरजभान बाफना अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात दूसरी शादी तक नहीं करते। अकेले ही अपने बेटे की परवरिश करते हैं और उसकी हर इच्छा को पूरी करते हैं। बेटे की जिद के चलते ही उन्होंने उसकी शादी देवांगी से करवा दी थी जबकि वह बेटे की हरकतों से वाकिफ थे। उनका मानना था कि यदि उसके पसंद की लड़की से उसकी शादी हो जाए तो शायद उसका हृदय परिवर्तन हो जाएगा और वह अपने कार्य पर मन लगा पाएगा। अक्सर माता-पिता यही सोचते हैं किन्तु उन्हें इस बात की चिंता बिलकुल नहीं रहती कि यदि उनका लड़का नहीं सुधरा तो उस लड़की का क्या होगा। शादी के बाद भी जब अशोक की हरकतों में किसी प्रकार का बदलाव नहीं आता है और उसके घृणित कारनामे दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही चले जाते हैं तो एक दिन सूरजभान बाफना एक बड़ा निर्णय लेते हैं। वे अशोक से स्पष्ट कहते हैं- 'अशोक, मैं तुम्हें डिसओन करता हूँ। मैंने सारी कार्रवाही पूरी कर ली है। कल सुबह पेपर्स में भी यह विज्ञापन छप जाएगा।'[10] इस प्रकार सूरजभान बाफना अपनी संपूर्ण जायदाद से अशोक को बेदखल कर देते हैं। साथ ही अपनी बहू देवांगी के नाम पर सारी प्रॉपर्टी कर देते हैं। उपन्यासकार ने सूरजभान बाफना के माध्यम से पुरुषों की साफ छवि को रखने का प्रयास किया है। वे पुरुषों के विविध चरित्रों के माध्यम से यह बता देना चाहते हैं कि सभी पुरुष एक ही तरह के नहीं होते। उनमें भी संवेदनाएँ होती हैं वे भी कठोर निर्णय लेने में सक्षम होते हैं।

इस प्रकार उपन्यासकार देवेश ठाकुर ने इस उपन्यास के माध्यम से समाज के अनेक

पक्षों को एक साथ उकेरने का प्रयास किया है। यह उपन्यास एक तरफ जहाँ विद्यार्थी जीवन को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता है, वहीं अपने व्यवसाय के प्रति ईमानदारी को रेखांकित भी करता है। साथ ही उद्योग जगत से जुड़े लोगों की मानसिकता को भी अभिव्यक्त करने में सक्षम है। यह उपन्यास स्त्री सशक्तिकरण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण बन पड़ा है। एक ओर पल्ली जैसी सामान्य परिवार की लड़की कठोर परिश्रम के बल पर अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल होती है तो दूसरी ओर पल्ली की माँ परिवार को एकजुट करने में असफल रहती है। देवांगी उच्च परिवार से संबद्ध होने के बावजूद इतनी सहृदय है कि उससे हाशिए पर डाल दिए गए लोगों की पीड़ा नहीं देखी जाती। वह अपना संपूर्ण जीवन इन लोगों के कल्याण के लिए समर्पित कर देती है । सामान्य जीवन जी रही स्त्रियों को भी उपन्यासकार ने बड़े ही सकारात्मक दृष्टि से देखा है। उन्होंने जनसामान्य में इन कर्मठ स्त्रियों के माध्यम से ऊर्जा भरने का प्रयास किया है। उपन्यासकार इस उपन्यास के माध्यम से संपूर्ण समाज के लोगों का साहस और उत्साह बढ़ाता है। वह यह बता देना चाहता हैं कि यदि व्यक्ति के हाथ-पाँव सलामत हैं और इरादे बुलंद हैं तो वह अपने जीवन को स्वर्णिम बना सकता है। इस हेतु उसे सिर्फ अपने भीतर आत्मविश्वास और संकल्प को जिंदा रखने की आवश्यकता है ।

संदर्भ :

1. देवेश ठाकुर - जंगल के जुगनू , वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष -2005, पृष्ठ 39 .
2. वही, पृष्ठ 63 .
3. वही, पृष्ठ 82 .
4. वही, पृष्ठ 50 .
5. वही, पृष्ठ 55 .
6. वही, पृष्ठ 102.
7. वही, पृष्ठ 52 .
8. वही, पृष्ठ 74 .
9. वही, पृष्ठ 75 .
10. वही, पृष्ठ 83 .

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग और शोध निर्देशक
रामनारायण रुइया स्वायत्त महाविद्यालय
माटुंगा, मुंबई -400019.

गोडसे@गांधी.कॉम : संवादहीनता बनाम संवाद

प्रा. डॉ. सदानंद भोसले
प्रा. प्रदीप रंगराव जटाल

साहित्यिक विधाओं में 'नाटक' सबसे सशक्त, प्रभावशाली एवं लोकप्रिय विधा है, जिसका प्रत्यक्ष संबंध सामाजिक से होता है। नाटक सामान्य जन से सीधी बात करने का सबसे कारगर तरीका है। असगर वजाहत का नाटक 'गोडसे@गांधी.कॉम' बहुचर्चित नाटक है, जिसके केंद्र में गाँधीवाद है और उसका विस्तार ही नाटक का मूल कथानक है। नाटक में केवल गाँधी और गोडसे से संबन्धित विषय ही नहीं, बल्कि गाँधी के विचार और उनके बहुआयामी व्यक्तित्व के विविध पहलुओं को उजागर करने का प्रयास किया गया है। साथ ही नाटक में महात्मा गांधी और नाथूराम गोडसे के बीच हुए संवाद का काल्पनिक वर्णन करते हुए एक वैचारिक विमर्श प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

सत्य और अहिंसा के प्रतीक महात्मा गांधी को दुनिया भर के लोग अपने-अपने अंदाज में स्मरण करते हैं। अपनी अकाल मृत्यु के 75 वर्ष का लंबा अंतराल बीत जाने के बाद भी महात्मा गांधी भारतीय जनमानस से एक पल के लिए भी दूर हो न सके। असगर वजाहत 'गोडसे@गांधी.कॉम' नाटक की भूमिका में कहते हैं- 'अपनी अकाल मृत्यु की आधी शताब्दी से अधिक समय बीत जाने के बाद भी महात्मा (मोहनदास करमचंद गांधी) भारतीय समाज में एक ऐसी चट्टान की तरह खड़े हैं, जिससे टकराये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। गांधी की प्रासंगिकता समाप्त नहीं हुई। बल्कि कहना न चाहिए कि आधी शताब्दी बाद वे अधिक प्रासंगिक दिखाई पड़ने लगे हैं। गांधी के पक्ष और विपक्ष में जितना लिखा गया है, उतना शायद ही किसी आधुनिक भारतीय के बारे में लिखा गया हो।'[1] अर्थात इससे सिद्ध हो जाता है कि गांधीजी अपने विचार और सत्य पर आधारित कार्य के कारण कितने महान थे। ऐसे में 'गोडसे@गांधी.कॉम' नाटक के माध्यम से गांधी जी के जीवन के कुछ छुए-अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डालना तर्क संगत होगा।

असगर वजाहत ने 'गोडसे@गांधी.कॉम' नाटक में कई स्तरों पर प्रयोग किए हैं, और उनका सबसे बड़ा प्रयोग है नाटक में महात्मा गांधी जी को पुनर्जीवित करना। प्रस्तुत नाटक इस कल्पना से शुरू होता है कि नाथूराम गोडसे द्वारा चलाई गोलियों से गांधी जी मरते नहीं बल्कि घायल होते हैं और उनको बचा लिया जाता है। नाटक के शुरुआती अंश में अस्पताल से स्वस्थ होकर गांधीजी गोडसे से मिलने जेल पहुँचते हैं और उसके अपराध के लिए उसे यह कहकर माफ कर देते हैं कि, '...मैं विचारों को गोली से नहीं, विचारों से समाप्त करने पर विश्वास करता हूँ...मैं तो यहाँ केवल यह कहने आया हूँ कि मैंने तुम्हें माफ कर दिया।'[2] बावजूद इसके गोडसे को पाँच साल की सजा सुनाई जाती है।

पूरा नाटक महात्मा गांधी और नाथूराम गोडसे के संवादों से भरा पड़ा है। सारी दुनिया जानती है कि नाथूराम ने गोली मारकर बापूजी की हत्या की। बावजूद नाटककार ने इस

नाटक में कल्पना के द्वारा गांधीजी को जीवित रखा। गांधीजी का संवाद पर विश्वास है इसलिए वे नाथूराम के साथ संवाद करना चाहते हैं। गांधीजी का कथन है, 'आदमी परमात्मा की सबसे बड़ी रचना है...उसे समझने में समय लगता है।...मैं जाऊँगा।'[3] वे जानना चाहते हैं कि आखिर गोडसे ने यह कदम क्यों उठाया? उसे गोली क्यों चलानी पड़ी? इन सवालों के जवाब ढूँढने के लिए गांधीजी नाथूराम से मिलने जेल जाते हैं और वहाँ दोनों के बीच जो संवाद है -

'गांधी : नाथूराम...परमात्मा ने तुम्हें साहस दिया...और तुमने अपना अपराध कुबूल कर लिया...सच्चाई और हिम्मत के लिए तुम्हें बधाई देता हूँ।

नाथूरामः मैंने तुम्हारी बधाई पाने के लिए कुछ नहीं किया था।

गांधीः फिर तुमने अपना जुर्म कुबूल क्यों किया है?

नाथूराम : (उत्तेजित होकर) जुर्म...मैंने कोई अपराध नहीं किया है। मैंने यही बयान दिया है कि मैंने तुम पर गोली चलाई थी। मेरा उद्देश्य तुम्हारा वध करना था...

गांधी : तो तुम मेरी हत्या को अपराध नहीं मानोगे?

नाथूराम : नहीं...

गांधी : क्यों?

नाथूराम : क्योंकि मेरा उद्देश्य महान था..

गांधी : क्या?

नाथूराम : तुम हिंदुओं के शत्रु हो...सबसे बड़े शत्रु...इस देश को और हिंदुओं को तुमसे बड़ी हानि हुई है...हिंदू, हिंदी, हिंदुस्तान अर्थात हिंदुत्व को बचाने के लिए एक क्या मैं सैकड़ों की हत्या कर सकता हूँ।'[4]

संवादात्मकता का वास्तविक परिचय तो गांधीजी और जेलर के संवाद से पता चलता है। गांधीजी अपने और नाथूराम गोडसे के संवाद के बीच कोई लोहे की सलाख नहीं रखना चाहते थे। गांधीजी कहते हैं कि, 'नहीं...ये नहीं हो सकता...इस तरह से कोई बातचीत नहीं हो सकती...नाथूराम को बाहर निकालो।'[5] इतना ही नहीं वे जेलर से नाथूराम की हथकड़ियाँ तक खोलने के लिए कहते हैं। गाँधी (जेलर से) '... नाथूराम की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ खोल दो...'[6] यहाँ तक कि गाँधी जी संवाद में अवरोध उत्पन्न न हो इसलिए जेलर और हवलदार तक को वहाँ से जाने के लिए कह देते हैं। संवाद स्थापित करने के लिए हर तरह का खुलापन जरूरी है। वे नाथूराम के साथ मुक्त रूप से संवाद करना चाहते हैं। एक स्थान पर गांधीजी कहते हैं, 'आदमी परमात्मा की सबसे बड़ी रचना है...उसे समझने में समय लगता है।'[7] अर्थात एक बात तो निश्चित तय है कि गाँधीजी नाथूराम को समझना चाहते हैं।

धर्म के कई चेहरे होते हैं। अन्य धर्मों की तरह हिन्दू धर्म के भी उदारवादी (महात्मा गाँधी)और कट्टरवादी (नाथूराम गोडसे) जैसे चेहरे हैं। इन दोनों पक्षों में तब से लेकर आज तक संघर्ष चल रहा है। यह एक वैचारिक और राजनीतिक संघर्ष है। नाटक में

महात्मा गाँधी कट्टर हिंदूवाद की सैद्धांतिक धारणाओं पर सवाल उठाते नजर आते हैं। गोडसे का मानना है कि, 'हिन्दुस्तान' केवल 'हिन्दुओं' का देश है...'[8] गाँधी जी गोडसे के इस कट्टर हिन्दुत्व पर बड़ी ही मार्मिक टिप्पणी करते हैं। गांधीजी गोडसे से कहते हैं कि, 'तुम हिन्दुस्तान को छोटा कर रहे हो गोडसे...'हिन्दुस्तान' तुम्हारी कल्पनाओं से कहीं अधिक बड़ा है...परमेश्वर की विशेष कृपा रही है इस देश पर...'[9] हिन्दू धर्म की उदारता एवं महानता को समझाते हुए गांधी गोडसे से कहते हैं, 'अगर तुम इन सबको बराबर का हिन्दू नहीं मानते तो तुम खुद भी हिन्दू नहीं हो...पहले तो तुमने देश को छोटा किया नाथूराम...अब हिन्दुत्व को छोटा मत करो...हिन्दू धर्म बहुत बड़ा, उदार और महान धर्म है गोडसे...उसे छोटा मत करो...दूसरे को उदार बनाने के लिए पहले खुद उदार बनना पड़ता है।'[10] यहाँ पर गोडसे की हिंदुत्व की संकुचित सोच को बदलने का प्रयास किया गया है।

नाटक में गांधीजी का जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं के साथ हुए संवादों से पता चलता है कि गांधीजी कांग्रेस मंच को कांग्रेस पार्टी बनाने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि '...तब कांग्रेस एक खुला मंच था, जहाँ सबका स्वागत किया जाता था... अब देश को आजादी मिल चुकी है...मंच को पार्टी नहीं बनाना चाहिए।'[11] जिस आजादी की प्राप्ति के उद्देश्य से कांग्रेस पार्टी बनाई गई थी वह उद्देश्य अब सफल हो गया है। पार्टी को अब बरखास्त कर देना चाहिए। गांधीजी का कहना था कि, 'पार्टी में आमतौर पर एक राजनैतिक विचार रखने वाले लोग होते हैं। लेकिन अब कांग्रेस में अलग-अलग राजनैतिक विचार रखने वाले लोग हैं...यह ठीक है कि निर्णय बहुमत से होते हैं लेकिन पार्टी में मिलते-जुलते विचारों का होना लाजमी है। नीतियाँ बनाना ही सब कुछ नहीं होता, अगर पार्टी के लोगों के विचार अलग-अलग हों तो उन्हें लागू करना कठिन हो जाएगा।'[12] सत्ता का केन्द्रीकरण होने लगा था। और बापूजी यह नहीं चाहते थे।

कांग्रेस को भंग करने पीछे गांधी जी की भावना थी कि आजादी मिलने पर सब मिलकर भारत के गाँवों में जाकर देशसेवा करेंगे। लेकिन तत्कालीन कांग्रेसी नेता इस अवसर को अपने हाथ से गँवाना नहीं चाहते थे। शायद इसलिए नेहरू जी का कहना था कि सरकार में रहकर भी हम जनता की सेवा कर सकते हैं। गांधीजी को यह बात उचित नहीं लगी। वे नेहरू जी से सत्ता और सेवा का फर्क समझाते हुए सच्चाई बयां करते हुए कहते हैं, 'सरकार हुकूमत करती है जवाहर...सेवा नहीं करती... सरकारें सत्ता का प्रतीक होती हैं और सत्ता सिर्फ अपनी सेवा करती है...इसीलिए सत्ता से जितनी दूरी बनेगी उतना ही अच्छा होगा।'[13] मगर उनका यह प्रस्ताव अस्वीकृत किया जाता है। कांग्रेस एवं कांग्रेसियों से नाता तोड़ कर गाँधीजी 'बिहार' के एक सुदूरवर्ती बेतिया जनजाति के संगरी नामक आदिवासी गाँव में अपना आश्रम स्थापित कर लेते हैं और उस आश्रम में ग्राम स्वराज के नए-नए प्रयोग करते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में स्वराज का काम फैल रहा था। उनका यह गाँव 'ग्राम-स्वराज' की एक मिसाल बन जाता है, जिसकी अपनी सरकार

और शासन है। जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश की संसद एवं सरकार के निर्णयों पर कतई आश्रित नहीं है। देश के भीतरऔर एक सरकार की बात दिल्ली में बहुत खतरनाक मानी जाती है और देश की अवमानना के कारण स्वतन्त्र भारत की नेहरू सरकार द्वारा गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया जाता है। गांधीजी को जेल जाने की चिंता नहीं थी। हाँ लेकिन यह अवश्य था कि उनका 'प्रयोग आश्रम' उजाड़ दिया जाएगा और वर्षों का काम मिट्टी में मिल जाएगा।

प्रस्तुत नाटक में उपर्युक्त मुद्दों के अलावा और एक दिलचस्प मुद्दा उठाया गया है, जिनको आधार बनाकर गांधी की कुछ हद तक निंदा एवं भर्त्सना भी की जाती है। वह है गांधीजी के स्त्री-पुरुष संबंध तथा ब्रह्मचर्य के वे सिद्धान्त जिन पर उनका विश्वास था। नाटक में गांधीजी जीवन में ब्रह्मचर्य को महत्त्व देते हुए दर्शाए गए हैं तथा उसे अपने अनुयायियों पर थोपते हुए भी दर्शाए गए हैं। प्रयोग आश्रम में गांधीजी के विचारों से प्रभावित सुषमा अपने प्रेमी नवीन को छोड़कर आती है। मनोभाव से गांधीजी की सेवा करती है परंतु नवीन को नहीं भूल पाती। न ही नवीन को आश्रम में अपने साथ रख पाती है। गांधीजी आदमी और औरत के प्रेम को विकार मानते थे, पाप मानते थे, वासना मानते थे। वे सुषमा से कहते हैं कि, 'तू यह जानती है कि मैं ब्रम्हचर्य का उपासक हूँ...मैं मजबूर हूँ...मेरे सिद्धान्त मेरा जीवन हैं। उसके बाद भी...तू अपने बिस्तर में साँप देखकर खामोश रही और तूने...'[14] यहाँ पर गांधीजी के व्यक्तित्व में जरूर अंतर्विरोध दर्शाने का प्रयास किया गया है परंतु नाटक में जिस ग्राम स्वराज की कल्पना, सत्य के प्रयोग एवं निरंकुश सत्ता की बर्बरता की बात की गई है, उसके सामने यह विषय इतना गंभीर नहीं लगता।

निष्कर्षतः असगर वजाहत ने प्रस्तुत नाटक के माध्यम से संवादहीनता के माहौल में संवाद के महत्व को स्थापित करने का प्रयास किया है। भले ही गोडसे@गांधी.कॉम नाटक में गांधी और गोडसे के अंतर-संघर्ष को दिखाया गया है, मगर इसमें व्यक्त विचारों की प्रासंगिकता वर्तमान और आने वाले समय में भी बनी रहेगी, इसमें कोई दो राय नहीं है। कुल मिलाकर असगर वजाहत पाठक के सम्मुख एक काल्पनिक प्रश्न उभारते हैं कि यदि आज गांधीजी जीवित होते तो वे क्या करते? या फिर उनके साथ क्या होता? इसी प्रश्न का उत्तर खोजने की एक सफल कोशिश इस नाटक में की गई है।

संदर्भ :

1. गोडसे@गांधी.कॉम, असगर वजाहत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली (2014), भूमिका से पृष्ठ- 5
2. वही. पृष्ठ -19
3. वही. पृष्ठ-17
4. वही. पृष्ठ-18-19
5. वही. पृष्ठ-17

6. वही. पृष्ठ -18
7. वही. पृष्ठ -17
8. वही. पृष्ठ - 62
9. वही. पृष्ठ -18
10. वही. पृष्ठ- 74
11. वही. पृष्ठ -22
12. वही. पृष्ठ- 22
13. वही. पृष्ठ-24
14. वही. पृष्ठ-46

- पूर्व-अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे

- सहा. प्राध्यापक एवं हिंदी विभाग प्रमुख
पार्वतीबाई चौगुले कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,(स्वायत्त)
मडगांव, गोवा

आदिवासी अस्मिता का पक्षधर कवि-अनुज लुगुन

डॉ. आरिफ शौकत महात

वैश्वीकरण ने समूचे विश्व को बदल दिया है। दुनिया ने विश्वग्राम की जो संकल्पना देखी वह साकार हो गई। भूमंडलीकरण के चलते बदलाव की धारा पूरे विश्व भर में प्रवाहित हुई, जिसने विकास के नाम पर विश्वभर में पैर फैलाए। सन् 1991 के बाद विकास की यह धारा भारत तक पहुँची। विकास के नाम पर उदारीकरण एवं मुक्त व्यापार की चपेट में भारत के मूल निवासी या कहें आदिवासी आ गए। आदिवासियों ने आदिम काल से जंगल को अपना घर समझ उसे सहेज कर रखा था। औद्योगिक विकास के नाम पर अहिस्ता-अहिस्ता आदिवासियों के दोहन की कहानी शुरू हो गई। औद्योगिक विकास से संबंधित सारे संसाधन इन्हीं आदिवासियों के जल, जमीन, जंगल में मौजूद थे जिसके चलते आदिवासियों की जमीन को अधिग्रहित कर उन्हें हासिल करने का सिलसिला शुरू हो गया। आदिवासियों की जल, जमीन, जंगल को अधिग्रहित करना वास्तव में उनके मूल अधिकारों के हनन तक पहुँचा जिसके चलते संघर्ष की चिंगारी ने जन्म लिया। अपनी ही मस्ती में जीने वाले इन आदिम जनजातियों के जीवन में नवीन समस्याओं ने दस्तक दी। इस संघर्ष ने ही उनकी अस्मिता को चकनाचूर करने के साथ उनकी आदिवासियत को खतरे में डाला।

'आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न जहाँ उनके नाम की परिभाषा से गहरा संबंध रखता है, वहीं वह उनकी सामाजिक संरचना और जीवन यापन के साधन जल, जंगल, जमीन से जुड़ा है। उसका उद्‌गम उसकी पहचान को पुष्ट करता है, तो उसकी विरासत भाषा, शिक्षा, संस्कृति और जीवनशैली पहचान को जिंदा रखती है। इनकी रक्षा किए बिना उसकी अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती है।'[1] वास्तव में देखा जाए तो आदिवासियों की अस्मिता उनके जल, जंगल, जमीन से जुड़ी हुई है। उनके उन अधिकारों से जुड़ी हुई है जो प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित हैं। विकास के नाम पर सबसे ज्यादा हल्ला उनकी इसी अस्मिता पर हुआ है। विकास के नाम पर सरकारों द्वारा उनके जमीनों का अधिग्रहण शुरू हुआ। फिर उस जंगल की चीजों पर कानूनी रोक लगा दी गई, जिससे वह अपनी जीविका चलाते थे। जिस जल, जंगल और जमीन को वह अपना सब कुछ मानते थे, जिससे उनकी परंपरागत अस्मिता जुड़ी हुई है, जिससे उनकी भाषा, संस्कृति, परंपरा, रीति-रिवाज जुड़े हुए हैं उन्हीं से उन्हें वंचित करने की कोशिश निरंतर जारी रही। इसी के चलते आदिवासी अस्मिता के नए प्रश्न उभरकर सामने आए जिसे हम अनुज लुगुन की कविता में देख सकते हैं।

अनुज लुगुन मुण्डारी भाषा के चर्चित युवा आदिवासी कवि हैं। उनकी कविताओं में आदिवासी जन समुदाय की पीड़ा दृष्टिगोचर होती है। आपका जन्म 10 जनवरी, 1986

को झारखण्ड के सिमडेगा जलडेगा पहान टोली में एक मुंडा परिवार हुआ। आपने अपना शोध कार्य 'मुंडारी आदिवासी गीतों में आदिम आकांक्षाएँ और जीवन-राग' बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से पूरा किया है। आपके बारे में रमणिका गुप्ता लिखती हैं- 'उनकी कविताओं में केवल झारखंड ही नहीं, पूरे देश का आदिवासी इतिहास झाँकता है- शौर्य बोलता है- और संग-संग चलता है चिंतन... दर्शन। अनुज लुगुन, इतिहास, संस्कृति, उत्साह, उम्मीद, संकल्प, हक और हौसले के कवि हैं। खूबसूरती की उनकी अपनी ही परिभाषा है, व्याख्या है, जो प्रचलित व पारम्परिक व्याख्या से भिन्न है- खतरनाक होने की हद तक सत्य और तथ्य के नजदीक है।'[2] अतः कह सकते हैं अनुज लुगुन वर्तमान दौर के आदिवासी अस्मिता एवं संघर्ष की बात बेबाकी से रखने वाले एक संवेदनशील एवं सशक्त कवि हैं।

90 के दशक से भारत में विकास के नाम पर और आदिवासियों को मुख्यधारा में सम्मिलित करने के इरादे से जो विकास की भूमिका तैयार की गई वह आदिवासियों को उनके जल, जंगल, जमीन से दूर ले जाने वाली साबित हुई। विकास का यह अनचाहा प्रवाह आदिवासियों के जीवन को विस्थापन, पलायन, भुखमरी, बेरोजगारी आदि नई समस्याओं से भर दिया। इन्हीं समस्याओं से दो-दो हाथ करना आदिवासियों को संघर्ष के रास्ते पर ले आया। नई पीढ़ी के आदिवासियों ने शिक्षा ग्रहण कर अपनी जनजातियों की समस्याओं की तरफ सारी दुनिया का ध्यान खींचा। अपने समाज के सामाजिक एवं परंपरागत सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए आवाज उठाना शुरू किया जिसके लिए उन्होंने अपने संगठन भी बनाए। उनका यह प्रयास राजनीतिक, साहित्यिक मंच से होते हुए अग्रेषित हुआ। आदिवासियों ने अपने इतिहास की जड़ों को नए सिरे से खोजने का प्रयास किया और अपनी समस्याओं का, अपने होने के भाव का, अपनी अस्मिता को बचाए रखने की जद्दोजहद का आगाज साहित्य के माध्यम से शुरू किया।

आदिवासी अस्मिता पर निरंतर चोट करती इस व्यवस्था के खिलाफ अनुज लुगुन अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं। उनका मानना है कि इस व्यवस्था के चलते विकास के नाम पर चल रही अंधी दौड़ में सरकार हमारे ही जल, जंगल, जमीन से हमें बेदखल कर रही है। वह हमसे यहाँ के निवासी होने का सबूत माँगते हैं। अपनी 'ससान दिरी' कविता में कवि इसका जवाब देते हुए कहते हैं-

'इन मृत पत्थरों पर जीवित है / हमारी सैकड़ों पुश्तों की विरासत /
लेकिन सरकारी पट्टों पर / इनका कुछ पता नहीं है /
ये हमारे घर हैं और इस तरह / हम बेघर हैं सरकारी पट्टों पर'[3]

आदिवासियों का यह संघर्ष सिर्फ उनकी अस्मिता एवं अस्तित्व टिकाए रखने के लिए नहीं है बल्कि इसके साथ पर्यावरण (जल-जंगल-जमीन) को बनाए रखने की उनकी जद्दो-जहद भी है। अपने संघर्ष की बात करते हुए कवि इस बात की ओर भी इशारा करते हैं-

'हम तैयार होते गए / नए मोर्चों पर लड़ाई के लिए /
सरकारी चेहरे की तरह पत्थर नहीं है / इनमें जंगल के लिए लड़ते हुए /
एक पेड़ की कहानी है / जो धराशायी हो गया /
नफरत की कुल्हाड़ी से / एक डाल की कहानी है /
जो पंछियों को पनाह देते-देते टूट गई / एक फूल की कहानी है /
जो बसन्त के आने से पहले झुलस गया'[4]

इस संघर्ष की बात करते हुए कवि कहते हैं कि यही ससान दिरी के सैकड़ों पत्थर (जो इनकी सांस्कृतिक विरासत वाले पत्थर हैं। जो इन्होंने उनके पुरखों की कब्र पर गाड़े हैं) इन्हें न्यायपूर्ण हस्तक्षेप करने के लिए हमेशा अमादा करते हैं। इनका यह न्यायपूर्ण हस्तक्षेप धरती को बचाने की प्रामाणिक लड़ाई है। यहाँ न्यायपूर्ण हस्तक्षेप बड़ा मायने रखता है।

आदिवासी अस्मिता असल में नक्सली विद्रोह एवं प्रशासकीय अत्याचार के बीच की धारा है। वास्तविक रूप में आदिवासी न तो लाचार बनकर जीना चाहते हैं और ना ही विरोध को हिंसा तक ले जाकर नक्सली। इन दोनों से परे जो आदिवासियों की मूल प्रवृत्ति है उसे वह बचाना चाहते हैं। अपने जल, जंगल, जमीन एवं जीवन पर अपना अधिकार एवं उसकी रक्षा के लिए प्रतिबद्धता यही आदिवासी अस्मिता का मूल स्वर है।

'मैं गीत गाना चाहता हूँ' कविता में कवि इसी की ओर इशारा करते हैं। उनका विद्रोह एवं संघर्ष उनके अस्तित्व को टिकाए रखने का माध्यम भर है। जिस बंजर जमीन को अपने खून से सींचा, उस फसल पर जब कोई और अपना अधिकार जताने आ जाता है तो उसे समझाते हैं। आदिवासियों के समझाने के तरीके को भी कवि यहाँ पर व्यक्त करते हैं-

'हमें गुरिल्ले और छापामार तरीके खूब आते हैं / लेकिन हमने पहले गीत गाए /
माँदर और नगाड़े बजाते हुए उन्हें बताया कि देखो /
फसल की जड़ें हमारी रगों को पहचानती हैं / फिर हमने सिंगबोंगा से कहा कि /
वह उनकी मति शुद्ध कर दे / उन्हें बताए कि फसलें खून से सिंचित हैं'[5]

इनका संघर्ष सीधे हथियार नहीं उठाता बल्कि इनका संघर्ष अपने अस्तित्व को टिकाए रखने का न्यायपूर्ण हस्तक्षेप करता है। अपने अधिकार के लिए आदिवासी सभी न्यायोचित रास्तों से होकर गुजरते हैं। सबसे बड़ी अदालत पहुँचने से पहले इनकी फसलें एवं इनके अधिकार रौंदे जाते हैं। अब यह घायल आदिवासी या कवि की भाषा में कहें तो शिकारी चट्टान के टीले पर बैठकर रौंदी जा चुकी फसलों को देख रहा है। शहीद हुए साथियों को, भूखे बच्चे और औरतों को देख रहा है। इसे अफसोस नहीं है बल्कि उसकी चाहत यही है कि वह अपनी फसल का सम्मान लौटाना चाहता है। अपनी आदिवासी अस्मिता बनाए रखना चाहता है। अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहना चाहता है। इसलिए वह कहता है-

'मैं एक बूढ़ा शिकारी / घायल और आहत /
लेकिन हौसला मेरी मुट्ठियों में है और / उम्मीद हर हमले में /
मैं एक आखिरी गीत अपनी धरती के लिए गाना चाहता हूँ!'[6]

इनका यह आक्रोश इस व्यवस्था को लेकर है जो हिमायती होने का दावा तो करता है लेकिन कार्यवाही कुछ नहीं करता-

'हम दुखी हैं कि हमारी पत्नी और बच्चे फर्जी मुठभेड़ में मारे गए हैं'

मारे जाने का दुःख तो है ही लेकिन दुःख इस बात का भी है कि इस खबर को पड़ोस वाला भी नहीं जानता। उनकी इस खबर को उसकी वास्तविकता के साथ पहुँचने ही नहीं दिया जा रहा। संविधान के तहत न्याय के रास्ते पर ये चल तो रहे हैं लेकिन यह रास्ता है कि कभी खत्म होने का नाम ही नहीं लेता। इसे स्पष्ट करते हुए कवि कहता है-

'न्यायाधीशों के रास्ते थकाऊ, घुमावदार और अंतहीन-
कई पीढ़ियों से जारी है उनके यहाँ चक्कर काटने का हमारा सिलसिला'[7]

कवि यहाँ आदिवासियों की समस्या के प्रति उदासीन प्रशासकीय व्यवस्था, मीडिया एवं न्याय व्यवस्था पर भी करारा प्रहार करता है। विकास की अंधी दौड़ ने दुनिया को क्या दिया पता नहीं लेकिन प्रकृति से बहुत कुछ लिया। यह प्रकृति से लेना या इसका होता दोहन इतना विनाशकारी एवं बर्बर है जिसकी आँच में सबसे पहले मूलनिवासी, जंगल निवासी आदिवासी झुलसे और देर सबेर सारी दुनिया झुलसेगी।

विकास के नाम पर प्रकृति एवं आदिवासियों का होता शोषण आदिवासी कविताओं में प्रमुख रूप में देखने को मिलता है। जो आदिवासी जल, जंगल, जमीन को अपना सब कुछ मानते थे उन्हें वहाँ से बेदखल कर दिया गया। सरकारी कागज में उनका कहीं नाम दर्ज नहीं। जिस जंगल से वे अपनी जीविका चलाते उसकी हर चीज पर पाबंदी लगाई गई। परिणाम स्वरूप कुछ संघर्षरत बन बागी कहलाए गए कुछ विस्थापित हो गए। विस्थापन की समस्या को लेकर रमणिका गुप्ता लिखती हैं 'सरकार ने विकास के नाम पर बड़े-बड़े बाँध बनाए जिससे लाखों लोग विस्थापित हुए। हमारे देश की विकास नीति का लक्ष्य होना चाहिए था विकास में सबको समान अधिकार की प्राप्ति। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। विकास तो हुआ, पर कुछ चुनिंदा लोगों का असंख्य लोगों की कीमत पर, खासकर आदिवासियों की कीमत पर। राष्ट्रहित के नाम पर आदिवासी लोगों की जमीन अधिगृहित कर उन्हें विस्थापित ही नहीं किया गया, बल्कि उनके संदर्भ में संविधान में प्राप्त मूल अधिकारों का भी उल्लंघन किया गया। इन विकास परियोजनाओं से इन आदिवासी प्रदेशों अथवा क्षेत्रों का आर्थिक संतुलन भी बिगड़ गया।'[8] आदिवासियों के विस्थापन की समस्या रोज-ब-रोज गहराती जा रही है। इसी संदर्भ में अनुज लुगुन अपनी कविता 'शहर के दोस्त के नाम पत्र' में अपनी इस पीड़ा को दर्शाते हुए कहते हैं कि

'यहाँ से सबका रुख शहर की ओर कर दिया गया है /
कल एक पहाड़ को ट्रक पर जाते हुए देखा / उससे पहले नदी गयी /

अब खबर फैल रही है कि / मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है'[9]

आदिवासियों का विस्थापन हो रहा है लेकिन जंगल में लोहे के फूल खिल रहे हैं। विकास की आड़ में बाजार सजे हैं लेकिन सवाल यह है कि यह बाजार किसके हैं और खुले किसके लिए हैं। इस ओर इशारा करते हुए रमणिका गुप्ता कहती हैं- 'पूँजीपतियों के विकास व वन दमन के लिए आदिवासियों के विशाल जनसमूह को निस्सहाय बना दिया। उन्हें इस हालत में रखने की साजिश रची गई ताकि वे पूँजीपतियों के लिए सस्ते मजदूर बनकर उनके हित-साधन की दमनकारी मशीन का एक पुर्जा बन जाएँ।'[10]

कवि का दुःख अपनों के प्रति है जो विस्थापित हो रहे हैं। प्रकृति की गोद से निकलकर कंक्रीट के जंगलों में भटकने के लिए जहाँ पर उनका कोई नहीं। और यह वह बखूबी जानता है कि यह कंक्रीट के जंगल उनकी सहजता एवं सरलता के साथ उन्हें जीने नहीं देंगे जैसा कि प्राकृतिक जंगल देते हैं। कंक्रीट के जंगल उनकी आदिवासियत को, मासूमियत को बड़ी ही शान से कुचलेंगें। औद्योगीकरण के चलते रेलवे, स्लीपर, कागज लोहा और अन्य तरह के उद्योगों के लिए कच्चे माल एवं खनिज संपदा के लिए आज जंगलों और पहाड़ों को देखा जाने लगा है। जिसके चलते विकास का नया खेल शुरू होता है। जिसमें शुरुआती मुद्दों में आदिवासियों को मुख्यधारा में लाया जाना प्रमुख रहता है। फिर आदिवासी एवं उनकी आदिवासियत को बनाए रखने एवं बचाए रखने का खेल उन्हीं के जमीन से बेदखल कर उन्हें विस्थापित होने के लिए मजबूर करने की हद तक बढ़ जाता है। इसी समस्या की ओर इशारा करते हुए कवि अपनी कविता अघोषित उलगुलान में आदिवासियों के आक्रोश, संघर्ष एवं पीड़ा को वाणी देते हैं। इस तरह अपने ही जंगल में शिकार करने वाले खुद शिकारी बनते जा रहे हैं, इसका मार्मिक चित्रण प्रस्तुत कविता में देखने मिलता है। आदिवासियों के संघर्ष एवं विस्थापन की दशा को व्यक्त करते हुए कवि कहता है-

'लड़ रहे हैं आदिवासी / अघोषित उलगुलान में /
कट रहे हैं वृक्ष / माफिया की कुल्हाड़ी से /
और बढ़ रहे हैं कंक्रीट के जंगल / दान्डू जाये, तो कहाँ जाये? /
कटते जंगल में / या- / बढ़ते जंगल में ... ?'[11]

व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का स्वर कवि ने आदिवासी औरतों के द्वारा भी उद्घाटित किया है। अपनी 'उलगुलान की औरतें' कविता में कवि आदिवासी औरतों के इसी बदलते स्वरूप को चित्रित करते हैं। अब आदिवासी औरतें बालों में श्रृंगार का फूल खोंसने के बजाय साहस का फूल खोंसती है। कवि कहते हैं-

'पगडंडियों से गलियों से बाहर / आँगन में गोबर पाथती माँ /
सदियों बाद स्कूल की चौखट पर पहुँची बहन / लोकल ट्रेन से कूदती हुई /
दफ्तर पहुँची पत्नी और भोर अँधेरे / दौड़-दौड़ कर खेतों की ओर /
चौराहे की ओर आवाज उठाती / सैकड़ों अपरिभाषित रिश्तों वाली औरतें /

खतरनाक साबित हो रही हैं'[12]

आदिवासी औरतों का यह बदलता रूप चिंता का विषय है। वह खतरनाक हो रही है धरती के दुश्मनों के लिए लेकिन धरती से प्रेम करने वालों के लिए वो उतनी ही खूबसूरत है, ऐसा कहने से भी कवि नहीं चूकते।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि अनुज लुगुन वर्तमान दौर के आदिवासी समुदाय की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत करने वाले सशक्त कवि है। इनकी कविताओं में आदिवासियों का इतिहास, संस्कृति, उत्साह, उम्मीद सब कुछ छलकता है। साथ ही विकास के नाम पर बदलते आदिवासी समुदाय के परिवेश को एवं उनकी पीड़ा को यथार्थ रूप में दर्शाने का काम वह बखूबी करते हैं। उनकी कविता संघर्ष का रास्ता अख़्तियार करती है लेकिन उनका यह संघर्ष विनाश के लिए नहीं बल्कि आदिवासियों की अस्मिता एवं अस्तित्व बनाए रखने का न्यायोचित हस्तक्षेप भर है।

संदर्भ :

1. गुप्ता रमणिका, आदिवासी अस्मिता के प्रश्न (हाशिये का वृत्तांत, संपा. दीपक कुमार, देवेंद्र चौबे) आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011, पृ. 351
2. गुप्ता रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015 पृ. 9
3. वही, पृ. 58-59
4. वही, पृ. 61
5. वही, पृ. 63
6. वही, पृ. 74
7. वही, पृ. 74
8. गुप्ता रमणिका, आदिवासी अस्मिता के प्रश्न (हाशिये का वृत्तांत, संपा. दीपक कुमार, देवेंद्र चौबे) आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011, पृ. 357-358
9. वही, पृ. 78
10. गुप्ता रमणिका, आदिवासी अस्मिता के प्रश्न (हाशिये का वृत्तांत, संपा. दीपक कुमार, देवेंद्र चौबे) आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011, पृ. 357
11. गुप्ता रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृ. 66
12. वही, पृ. 56

सहायक प्राध्यपक एवं हिंदी विभाग प्रमुख,
विवेकानंद कॉलेज, कोल्हापुर (स्वायत्त)

उनकी खामोशी अब भी बहुत कुछ कह रही है..

डॉ. महेश दवंगे

'निस्संग होने की मेरी कोशिश कितनी सफल होती है, स्वयं को आजमाना चाहती हूँ। जानती हूँ कितना कठिन है मेरे लिए अवध पर लिखना लेकिन चुनौती तो स्वीकार कर चुकी हूँ। यह चुनौती लेखक और लेखक के बीच की चुनौती है।'[1] -चित्रा मुद्गल

चित्रा मुद्गल हिंदी की सुपरिचित एवं सुप्रतिष्ठित रचनाकार है। उनका संपूर्ण रचना संसार अपने समय का प्रामाणिक दस्तावेज है। उनका कलम से संग-साथ बचपन से ही रहा है। इसी कलम ने उनके भीतर के विरोध और विद्रोह को रचनात्मक संघर्ष हेतु प्रेरित किया है। उनका संपूर्ण साहित्य इसी रचनात्मक संघर्ष का ही परिणाम है। लेखिका शब्दों की जादूगर है। उनकी कलम से कोई भी विषय अछूता नहीं रहा है। और लेखिका मानती है कि यह विरासत उनको कबीर से मिली है। लेखिका कहती है, 'झीनी चदरिया बुनते हुए कबीर के हाथ जाने कब मेरे उद्विग्न हाथों से फावड़ा छीन कलम वापस पकड़ा देते हैं, चेतावनी के साथ कि तुम्हारा फावड़ा कलम है; तुम्हें अपनी पगडंडी फावड़े और कुदाल से नहीं, कलम से बनानी है। कलम की पगडंडी चेतना की पगडंडी है। वह केवल तुम्हारे पावों के डग भरने के लिए ही नहीं होगी-सैंकड़ों-हजारों पावों के नीचे ओस-भीगी दूब बिछाने के लिए होगी। फिर क्यों डगमगा रही हो? डराने वालों का मकसद ही है, तुम्हारी उँगलियों से कलम को अलग कर, तुम्हें भटका देना। तुम्हें निष्क्रिय कर देना। तुम्हें विचारहीनता की परिधि में धकेल, पराधीन बना देना, ताकि तुम शब्द-प्रसवा कलम से छिटक जाओ। तुम अब ककहरा से आगे बढ़ो! चित्रा, अनगिनत पाठ तुम्हारी प्रतीक्षा में है। उनके पृष्ठ खोलो। उन्हें पढो।'[2] लेखिका पढ़ती गयी और रचती गयी कलम से अपनी दुनिया को। इस दुनिया में जीवन के हर तबके के पात्र उनके साथ खड़े रहे। लेखिका उनके हक,अधिकार की लड़ाई उनके साथ लड़ती रही। जमीनी आंदोलन के साथ ही रचनात्मक आंदोलन से भी वे जुड़ी रहीं। एक जमीन अपनी, आवां, गिलिगडु, पोस्ट बॉक्स नं. 203 नालासोपारा आदि उपन्यास समेत तमाम कहानियाँ, लेख, नाट्य रूपांतरण आदि लेखिका के कलम से उपजी हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। लेखिका ने हमेशा नए विषय और आशय को चुना है। और यही उनकी सबसे बड़ी ताकत भी रही है। लेकिन लेखिका के लिए सबसे बड़ी चुनौती बनी उनके पति अवध नारायण की स्मरणीय यादें। 'तिल भर जगह नहीं' यह संस्मरण इन्हीं स्मरणीय यादों का कोलाज है।

सन् 2020 में वाणी प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित 'तिल भर जगह नहीं' यह संस्मरण हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमें लेखिका ने अपने दिवंगत पति अवध नारायण मुद्गल की स्मरणीय घटनाओं को अभिव्यक्त किया है। वैसे, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, विश्वनाथ त्रिपाठी आदि रचनाकारों ने संस्मरण विधा के साहित्यिक मूल्य को बढ़ाया है। इस स्मरणीय संस्मरण परंपरा को नया मोड़ देते हुए चित्रा मुद्गल ने 'तिल

भर जगह नहीं' इस संस्मरण का सृजन किया है। दरअसल लेखिका ने संस्मरण के बहाने एक संपूर्ण दौर का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। साथ ही इसमें अवध नारायण मुद्गल का संपूर्ण जीवन संघर्ष भी समाहित है। किताब की भूमिका में लेखिका ने कहा है कि यह कार्य कथाकार महेश दर्पण की सलाह पर ही उन्होंने शुरू किया है। मगर यह आसान नहीं था। यह यादों के गलियारों की पुनर्यात्रा है। इस यात्रा के अंतिम छोर पर अभाव ही है। अतः हर शब्द में गहरी पीड़ा एवं वेदना है। मगर यह लेखिका का सामर्थ्य है, जिसने अवध नारायण के सादगी और संजीदगी भरे व्यक्तित्व को प्रामाणिकता से अभिव्यक्त किया है। अवध नारायण की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन तटस्थ एवं निष्पक्षता से हुआ है। यह किसी भी लेखक के लिए चुनौती भरा कार्य है, लेखिका ने निस्संग होकर इस चुनौती को स्वीकार किया है।

कवि-कथाकार-संपादक अवध नारायण मुद्गल लगभग 27 वर्षों तक टाइम्स ऑफ इंडिया की 'सारिका' पत्रिका से जुड़े रहे। सृजनात्मक लेखन में भी साहित्य जगत में उनकी अलग पहचान रही है। सामान्य कृषक परिवार से निकलकर साहित्य का अत्तुच्य स्थान प्राप्त करने की उनकी संघर्षपूर्ण यात्रा आश्यर्यजनक है। इस किताब के नौ अध्याय में इस यात्रा का विवरण प्रस्तुत है। अवध नारायण ने कविता, कहानी, रिपोर्ताज, रूपक, फीचर, साक्षात्कार, डायरी, अनुवाद आदि विधा को समृद्ध किया साथ ही संपादन क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान भी दिया है। 28 फरवरी 1936 को जन्मे अवध नारायण अपने भाई-बहनों में सबसे छोटे थे। 16 बरस में हुई मंझले भाई की मृत्यु ने उनके बाल मन को आहत किया। उस वक्त अवध नारायण महज 8 वर्ष के थे। घर में बैचेनी बढ़ रही थी और अवध इस बैचेनी को तोड़ने के लिए घर की सीमाएँ लाँघने की ठान लेते हैं। एक शाम को पाखाना जाने के बहाने घर की दहलीज लाँघते हैं। यही से शुरू होता है अवध नारायण के जीवन एवं साहित्यिक क्षेत्र का संघर्ष। लेखिका ने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करते हुए उनके व्यक्तित्व निर्माण के पहलुओं को उल्लेखित किया है।

अवध नारायण के व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव अमृतलाल नागर जी का रहा है। नागर जी ने ही अवध को पत्र लिखकर लखनऊ बुलाया और दो लड़कियों के ट्युशन का काम दिलवाया. उन्होंने बी.ए. टेक्नोलॉजी, हिंदी, सोशल साइंस और जनरल इंग्लिश से किया। इसके बाद एम.ए. के लिए प्रवेश लिया। ट्यूशन का कार्य बढ़ रहा था और साथ ही बढ़ रही थी समस्याएँ। लेखिका बताती है, 'ट्यूशन भी दिनों-दिन बढ़ते जा रहे थे। कुछ ट्यूशनों के लिए उन्हें बहुत दूर जाना पड़ता था। अट्ठारह बीस मील दूर। कुछ रोज तो किसी परिचित की साइकल उधार लेकर आना-जाना करते रहे। फिर बड़े भैया ने उन्हें एक साइकल दिला दी। कुछ और जरूरी चीजों की भी व्यवस्था कर दी। लेकिन कुछ दिन बाद ही उनकी साइकल चोरी हो गई। मजबूरन दूर के ट्यूशन अच्छे पैसों के बावजूद छोड़ने पड़े। तय कर लिया कि अब अपने पैसों से ही नयी साइकल खरीदेंगे।'[3] उनका जीवन, संघर्ष के पल अनुभव कर उन्नत हो रहा था। समस्याएँ थी, लेकिन स्वाभिमान को

कुचलकर कर हल खोजा नही गया बल्कि इन स्थितियों ने उनके भीतर के साहित्यकार को जनम दिया। इसी लखनऊ शहर में, साहित्यिक माहौल में उनकी कलम आकार लेने लगी। इसी बीच हिंदी समिति के सचिव ठाकुर प्रसाद सिंह से अवध नारायण का परिचय हुआ। इस समिति में कई किताबों का प्रकाशन होता था, उसके संपादक मंडल में अवध नारायण को भी शामिल किया गया। व्यावहारिक दृष्टि से यह उनकी पहली नौकरी थी। यहाँ तनख्वा भी अच्छी मिल रही थी। बस वैचारिक उत्तेजना का कार्य नहीं था, इसीलिए काम में संतुष्टि नहीं थी अब वे अखबार में उप-संपादक हो गए। सन् 1961 का यह वर्ष 'जनयुग' में ही बीता। इसी दरमियान कथाकार यशपाल को मोतियाबिंद हो गया उन्हें अपने साहित्यिक कार्य के लिए सहायक की आवश्यकता थी। शिव वर्मा उनके घनिष्ठ मित्र थे उन्होंने अवध नारायण को यशपाल के पास भेज दिया। खाने-पीने के साथ ही सौ रूपए मासिक पारिश्रमिक पर काम तय हुआ। काम था, किताबें या पत्र पढ़कर सुनाना, आवश्यकतानुसार उत्तर लिखना आदि। एक समय तो यशपाल 12 घंटे बोलते रहे और अवध लिखते रहे, इस उपन्यास का शीर्षक भी 'बारह घंटे' ही रखा गया। यह अवध के जीवन का स्वर्णिम काल था। रचनात्मक समझ और सृजनात्मक कार्य में बढ़ोत्तरी हो रही थी। कुंवरनारायण, मुद्रा राक्षस जैसे मूर्धन्य रचनाकारों के घर पर गोष्ठियाँ होती थीं। अब देश की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। एक साहित्यकार के रूप में साहित्यिक जगत में उनका प्रवेश हो चुका था।

अवधनारायण का अलग-अलग विषयों पर लेखन कार्य शुरू हुआ। आर्थिक स्थिरता भी आ गयी। तभी 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ग्रुप की कथापत्रिका 'सारिका' में उप-संपादक की जगह खाली हुई इस पद के लिए परीक्षा एवं साक्षात्कार मुंबई में होने वाला था। सभी ने अवध को मुंबई जाने के लिए कहा। इस समय विद्यालंकार जी 'सारिका' के संपादक थे। अवध का मुंबई के लिए यह पहला सफर था। अनजान मगर सपनों की मायानगरी में अपने भविष्य को आजमाने के लिए एक नया सफर शुरू हुआ। शहर में कोई परिचित था नहीं। रुकने का भी कहीं इंतजाम नहीं था। जैसे, 'जब कोई चारा नजर नहीं आया तो एक रात तो उन्होंने बोरी बंदर स्टेशन पर बेंच पर सोकर गुजारी। दूसरे दिन रेलवे स्टेशन पर वेटिंग रूम में रहने का प्रबंध कर लिया। इंटरव्यू अभी दो दिन बाद होना था। राहत इस बात से थी, टाइम्स ऑफ इंडिया के जिस कार्यालय में इंटरव्यू होना था वह बोरी बंदर स्टेशन के ठीक सामने था।'[4] मुंबई की दुनिया से एक नया सफर शुरू हुआ था.चुनौतियाँ असीमित थी, मगर लेखक के भीतर भी साहस और विश्वास था. इसी का प्रतिफल था कि अवधनारायण लिखित और मौखिक परीक्षा में प्रथम स्थान पर रहे। नतीजतन 'सारिका' के उप-संपादक के रूप में उनका चयन हुआ. इस दायित्व से सही मायने में एक ऐतिहासिक कार्य की शुरूआत हुई। 'सारिका' और अवध नारायण अनूठे रिश्ते में बँध गए। इस पत्रिका के कार्यालय में कई पदों पर इन्होंने कार्य किया। कन्हैयालाल नंदन को जब संपादक बनाया गया, तब सहायक संपादक एवं कार्यकारी संपादक का

प्रभार भी अवध जी को ही दिया गया। दरअसल इनका संपूर्ण जीवन 'सारिका' के लिए ही समर्पित रहा। सन् 1964 से लेकर 1990 तक वे 'सारिका' पत्रिका के साथ जुड़े रहे। लगभग 27 वर्षों तक अलग-अलग पदों पर दायित्व निर्वहन किया। इस समय में कई प्रयोग उन्होंने किए। यह वह समय था जब 'सारिका' की प्रतियाँ 15,000 तक सीमित थी, अवध जी ने अपने कुशल नेतृत्व एवं संपादकीय से यह संख्या 50,000 के पार की। इसमें उन्होंने कई विशेषांक निकाले। देहकथा विशेषांक, खेल कथा विशेषांक, नोबल पुरस्कार विजेता कथाकार विशेषांक, हिंदी के जीवित कालजयी रचनाकारों पर विशेषांक (अमृतलाल नागर, डॉ. धर्मवीर भारती, भीष्म साहनी), मंटो विशेषांक, प्रेम कथा, युद्ध कथा, मिथक कथा, नारी मुक्ति विशेषांक आदि कई महत्वपूर्ण विशेषांक 'सारिका' द्वारा निकाले गए। इन विशेषांकों को पाठकों का भरपूर प्रेम और स्नेह मिला। पाठक संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। यह सही मायने में 'सारिका' के लिए नए विषय और प्रयोगों का दौर था. इस दौर को रोकने की कोशिश भी की गई। 'देहकथा विशेषांक' से अश्लीलता फैलायी जा रही है, ऐसे आरोप भी लगाए गए। राजेंद्र यादव ने मालिक अशोक जैन को पत्र लिखकर संपादक की शिकायत भी की। मगर अवध रुके नहीं, डटे रहे बल्कि दो कदम आगे बढ़ 'सारिका' से विमुख और रूठे रचनाकारों को अपनी प्रतिभा एवं सादगी से पुनः 'सारिका' से जोड़ दिया। उनका मौन और गुस्सा तोड़ा। उन्हें 'सारिका' के लिए कहानियाँ लिखने के लिए मनाया। इन दिनों डॉ. नामवर सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त, हर्षनाथ, उषा प्रियंवदा, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी, काशीनाथ सिंह, मैनेजर पाण्डेय आदि सशक्त रचनाकारों की रचनाएँ एवं साक्षात्कार प्रकाशित हुए। नयी पीढ़ी के उदयोन्मुख किंतु उपेक्षित रचनाकारों को सम्मान दिया। उनकी रचनाओं को प्रकाशित कर साहित्य जगत में उनकी पहचान को कायम किया। एक संपादक के रूप में उन्होंने कभी-भी अपनी रचनाओं के प्रचार-प्रसार के लिए 'सारिका' के मंच का उपयोग नहीं किया, ना ही नेताओं पर कविताएँ, गजलें, कहानी या साक्षात्कार छपवाकर उनसे संबंध बनाने या बढ़ाने की कोशिश की। उन्होंने हमेशा पद की गरिमा बनाए रखी। उन्होंने निष्पक्ष एवं तठस्थ रहकर 'सारिका' के माध्यम से साहित्य जगत की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत की। अवध का साहित्य जगत में सृजनात्मक योगदान भी कम नहीं है, यदि वे अपने लिए समय निकल पाते, तो हमें और अधिक कालजयी कृतियों को पढ़ने का अवसर मिलता किंतु वे अपने लिए कभी जिए नहीं। लेखिका उनके व्यक्तित्व के संदर्भ में लिखती है, 'उनका स्वभाव ऐसा था कि एक जिज्ञासु उनमें हरदम मौजूद रहता। वह सिर्फ अपनी न कहते दूसरों की भी भरपूर सुनते। विट तो उनके अंदर कूट-कूट कर भरा हुआ था। जिस क्षण को जीते, शिद्दत से जीते। उन्हें आत्मप्रशंसा के भाव में लिप्त शायद ही लोगों ने कभी देखा हो। वह आत्मालोचना भी बड़े सहज भाव से करते और अपराध बोध या आत्मस्वीकार भी। सीधे दिखते, सरल लगते, किंतु आत्माभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा था। जहाँ उन्हें लगता कि उनके सम्मान की रक्षा तरीके से न हो सकेगी, वहाँ वह बने

रहना उचित न समझते। उनकी खामोशी ऐसी होती कि बहुत कुछ कह जाती।'[5] अवध के इसी व्यक्तित्व का संस्पर्श पाकर ही 'सारिका' का फलक विस्तृत हुआ।

अवधनारायण का संपूर्ण जीवन संघर्षपूर्ण रहा है। इस संघर्ष में जीवन की हमराही लेखिका चित्रा मुद्गल का संग-साथ भी हमेशा बना रहा। कठिन प्रसंगों में अवध के उत्साह, उल्लास और जिजीविषा को लेखिका ने ही बनाए रखा। 17 फरवरी 1965 को दोनों परिणय सूत्र बंध गए थे। यह वह समय था, जब अवध 'सारिका' पत्रिका के उप-संपादक के रूप में कार्य कर रहे थे। उनके पास पारिवारिक सुख था, मगर जिम्मेदारियों ने पारिवारिक सहवास की खुशियों को सोख लिया था। यह आत्मग्लानि अवध के कई पत्रों में अभिव्यक्त हुई है। बेटा राजीव और बेटी अपर्णा से उनका रिश्ता बेहद खास था उनकी हर इच्छा, अरमान और उम्मीदों को पूरा करना ही उनका सपना था किंतु समय? समय न दे पाने की उनकी पीड़ा और वेदना अपनी पत्नी को लिखे पत्र के हर शब्द में मौजूद है। पति एवं पिता के रूप में वे बेजोड़ इन्सान थे. मगर नौकरी और पारिवारिक दायित्व के बीच उनका जीवन पीस रहा था। घर से कटे रहने के अभिशाप वे निरंतर भुगतते रहे मगर परिवार के यादों की मिठास प्रति पल उनके साथ रही। अवध नारायण और लेखिका चित्रा मुद्गल के बीच का प्रेम-भाव से भरा पत्राचार उनके सौहार्दपूर्ण एवं प्रेमपूर्ण संबंधों का प्रमाणिक दस्तावेज है। अवध अपने पत्रों में पत्नी को 'प्रिय चित्तुल' से संबोधित करते थे। वे अपनी भावना को पत्र में व्यक्त करते हुए लिखते है, 'अकेले कमरे में मैं हूँ और तुम्हारी यादें हैं। आज तुमसे मिल पाने का मन बार-बार हो रहा है। तुम्हारा पत्र पाकर यही लग रहा है जैसे तुम्ही मिल गयी। सच अकेले रहना बड़ा कष्टकारक है। तुम्हारे आँचल की छाँव सारी थकन, सारी परेशानियाँ दूर कर देती है।'[6] अवध के हृदय में पारिवारिक चिंता एवं अपनों की यादें निरंतर बसी थी। उनका प्रेम विवाह हुआ था। समाज की पारंपरिक मान्यताओं को ठुकराकर दोनों बंधन में बंध गए थे। दोनों में प्रेम और विश्वास अदम्य था। नोक-झोंक भी होती थी, मगर रिश्ते की ड़ोर मजबूती से बंधी थी। ऐसे ही एक समय जब दोनों में कलह बढ़ा, लेखिका ने 'पिता का घर छोड़ने का निर्णय ले सकती हूँ, तो अवध मैं तुम्हें भी छोड़ सकती हूँ' जैसा निर्णय सुनाया तो अवध भी अपनी गलती के लिए शर्मिंदा हुए और कहा, 'आज से, अभी से मैं तुमसे फिर एक वादा करना चाहता हूँ। मनुष्य से अमनुष्य हो गया। मैं फिर से तुम्हारा वही अवध होकर दिखाऊँगा, जिसे तुमने अवध नारायण मुद्गल बनाया है।'[7] अवध बहुत ही भावुक इन्सान थे। रिश्तों की अहमियत जानते थे, तभी तो उन्हें संभालकर, सहेजकर रखते थे। पिता के रूप में उनका हृदय मातृत्व भाव से भर जाता। राजीव और अपर्णा उनके प्राणतत्व थे। बेटी अपर्णा का विवाह 10 दिसंबर 1992 में मृदुला गर्ग के छोटे बेटे शशांक से हुआ मगर शादी के नौ महीने बाद ही एक कार एक्सीडेंट में दोनों की मृत्यु हो गयी। गहरा सदमा अवध को लगा। बेटी और दामाद को खोकर मानो उनकी दुनिया ही उजड़ गयी। वे भीतर से बिखर गए। अपने अंतिम समय तक वे अपनी बिटिया को भुला नहीं पाए।

उसकी याद में तड़पते-बिलखते रहे। उसकी याद में एक कविता भी उन्होंने लिखी -

'प्यारी बेटी
तुम जब से गयी हो
यहाँ के दिन कुछ ज्यादा ही बड़े होने लगे हैं
शायद गर्मियों की
लू में लिपटी दोपहर से भी ज्यादा।'[8]

'एक खत गुमशुदा बेटी के नाम' से लिखी यह कविता एक पिता की पीड़ा और वेदना का दस्तावेज है। यह अवध की वह पीड़ा है जिससे वे कभी मुक्त नहीं हो पाए। अवध ने अपनी सभी भूमिकाओं का निर्वहन बड़ी शिद्दत से किया। तभी तो राकेश वत्स ने कहा, 'सीधे नहीं, साधू हैं अवध नारायण मुद्गल' तो ममता कालिया 'अवध नारायण मुद्गल जैसा दोस्त अब कहाँ' कहकर उनके सादगी भरे व्यक्तित्व पर मुहर लगाती हैं।

दरअसल 'तिल भर जगह नहीं' यह संस्मरण कवि-कथाकार-संपादक अवधनारायण मुद्गल के अंतर-बाह्य व्यक्तित्व से परिचित कराता है। अवध हिदी साहित्य जगत के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर रहे हैं। 'सारिका' के संपादक के रूप में अनूठा कार्य कर पत्रिका के इतिहास में उन्होंने अपना नाम दर्ज किया है। लेखिका ने इतनी शिद्दत से इस किताब को सृजित किया है कि यह महज अवध नारायण की यादों का कोलाज नहीं बना है, बल्कि इसमें एक विशाल दौर का आइना प्रस्तुत हुआ है। इसमें पति की प्रशंसा या गुण-गान नहीं है, बल्कि अवध के ईमानदार, मेहनती एवं प्रामाणिक व्यक्तित्व से परिचित कराने की कोशिश है। लेखिका ने शब्द-चित्र से अवध के रेखाचित्र को प्रस्तुत किया है। इस किताब में पति की यादें समाहित हैं, लेकिन इन यादों के भँवर में लेखिका बहती नहीं, उसे शुद्ध साहित्यिक रूप प्रदान कर अवध के व्यक्तित्व को संजीदगी से उभारती है। अवध को खोना लेखिका के लिए असहनीय है। यह अभाव हमेशा के लिए लेखिका के हृदय में घर कर गया है। मगर अवध की कलम से जन्मे शब्द उनके होने का एहसास दिलाते हैं। अवध ने जिंदगीभर कलम से रिश्ता नहीं तोडा। उसी कलम से निसृत शब्द अपने अर्थ को आज भी बिखेर रहे हैं। अतः लेखिका महसूस करती है, उनकी खामोशी अब भी बहुत कुछ कह रही है।

संदर्भ :

1. तिल भर जगह नहीं, चित्रा मुद्गल, पृ.64,2. आखिर क्यों लिखती है स्त्रियाँ, सं. रजनी गुप्त, सुभाष राय, हरेप्रकाश उपाध्याय, पृ. 39, 3. तिल भर जगह नहीं, चित्रा मुद्गल, पृ.29, 4. वही, पृ.33, 5. वही, पृ.139, 6. वही, पृ. 66, 7. वही, पृ. 75, 8. वही, पृ. 84

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे.07

अज्ञेय का सृजनात्मक चिन्तन

डॉ. राजन तनवर

प्रयोगवादी साहित्यकार अज्ञेय ने साहित्य की अनेक विधाओं में साहित्य सृजन किया जिनमें काव्य, कहानी, निबन्ध, उपन्यास, नाटक, यात्रा वृतान्त संस्मरण आदि विधाएँ प्रमुख रही हैं। अज्ञेय द्वारा सृजित साहित्य विधाओं में प्रयोगवादी परिपाटी सदैव विद्यमान रही है। अज्ञेय ने अपने सृजनात्मक साहित्य में व्यक्तित्व एवं स्वातंत्र्य की खोज करने का प्रयास किया है। अज्ञेय ने अपने अस्तित्व का प्रतीक मछली को माना है। मछली की तुलना उन्होंने अस्तित्व से की है। जल से बाहर निकाल ली गई मछली-तड़पती, छटपटाती, ऐंठती और हाँफती है। अस्तित्व के दूसरे प्रतीक के रूप में अज्ञेय ने 'हारिल' को माना, जिसमें उड़ने की आकुलता है और जिसे दसों दिशाओं में आकाश घेर रहा है-

'काँप न यद्यपि दसो दिशा में / तुझे शून्य नभ घेर रहा है।'[1]

अज्ञेय ने सृजन के क्षेत्र में अपना जो स्थान स्थापित किया है, उसे युगों-युगों तक साहित्य जगत् में सम्मान से याद किया जाता रहेगा। अज्ञेय ने पद्य साहित्य के अतिरिक्त गद्य साहित्य की अनेक विधओं में चिन्तन किया और साहित्य जगत् में प्रयोगधर्मी काव्यधारा का आरम्भ किया। किन्तु अन्य साहित्यकारों ने इनके प्रयोगधर्मी काव्यधारा के नाम को स्वीकार नहीं किया। उन्हें प्रयोगवादी काव्यधारा का संस्थापक माना गया तथा इनके काव्य को प्रयोगवादी काव्य नाम दिया गया।

अज्ञेय की सर्जनशीलता बहुआयामी है, उसका क्षेत्र व्यापक है। अपनी संस्कृति और परम्परा से लगाव और सुझाव के अनेक बहुविध प्रमाण उनकी रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। हिन्दी और हिन्दी के रचनाकार को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रतिष्ठित करने के लिए उनके प्रयास श्लाघ्य हैं यद्यपि इसके लिए उन्हें अपनों की ही कम मार नहीं झेलनी पड़ी। अज्ञेय ने आग्रह की सीमा तक अनुभव किया और उनका यह विश्वास था कि- 'रचना की भाषा संस्कृति की आँख है। हमें वह आँख खुली रखनी है। इसके लिए उसे प्रतिदिन बहते जल से धोते रहने की उपयोगिता है। अपने देश की पुराण गाथाओं और मिथकों में उनकी आस्था का कारण उनका यह विश्वास था कि किसी देश के गहनतम रहस्यों तक पहुँचने की पहली साँस्कृतिक इकाई पुराण गाथाएँ होती हैं।'[2]

अज्ञेय ने हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में साहित्य सृजन करके साहित्य प्रेमियों तक पहुँचाने का प्रयास किया है। अज्ञेय द्वारा साहित्य के क्षेत्र में किए गए प्रयोग उनके साहित्यिक-चिन्तन को और विस्तृत रूप से प्रस्तुत करते हैं। अज्ञेय का गद्य-पद्य विधाओं पर समान अधिकार था। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, नाटक, यायावर जीवन से सम्बन्धित साहित्यिक लेख पाठकों तक पहुँचाकर अपने गहन साहित्यिक चिन्तन को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सभी विद्याएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और प्रत्येक विद्या में जो भी सर्जनात्मक चिन्तन होता है, वह केवल अपनी विद्या के

अथवा शास्त्र के अनुशासन के भीतर बँधा न रहकर सभी विद्याओं के इस सर्जनात्मक स्रोत से प्रेरणा लेता है। यह प्रक्रिया समझने और ध्यान देने की है क्योंकि शास्त्राविद् और एकेडेमिक ढर्रे का चिन्तक इसी के प्रति उदासीन हो जाता है। रचनात्मक चिन्तन का एक स्वायत संसार है जो किसी विद्या अथवा शास्त्र से बँधा नहीं है। वास्तव में वह एक सरोवर है जिसमें से सभी विद्याएँ अपनी-अपनी डोलची भरकर लेती रहती है और यह सरोवर अन्तः श्रोतों द्वारा पूरित है यह कभी रीतता नही। एकेडेमिक दीक्षा उसके प्रति उदासीन होकर अपना ही अहित करती है- अपनी सीमा के भीतर प्यास से घुटने लगती है। इसलिए मेरा तो फिर एक बार यही कहना होगा कि साहित्य के निर्माण में अन्य विषयों की भूमिका जैसे दिग्भ्रम पैदा करने वाले शीर्षक की ओर ध्यान न देकर सभी विद्याओं के लिए समान रूप से मूल्यवान सर्जना स्रोतों की ओर ध्यान दिया जाए। यानी इस बात पर विचार किया जाए कि आज सर्जनात्मक चिन्तन की उपलब्धियाँ कहाँ तक मानव मात्र की संवेदना को प्रभावित और रूपान्तरित करती हैं कहाँ तक सभी विद्याओं में आधारभूत दृष्टि परिवर्तन हुआ है, परिदृश्य रूपान्तरित हुए हैं और कहाँ इससे साहित्य भी प्रभावित होता है। अगर साहित्य प्रभावित नहीं हुआ है, तो कहाँ उसका संवेदन भोथरा रह गया है, कहाँ उसे उकसाने या सान चढ़ाने की जरूरत है। इस दृष्टि से विचार करने से चिन्तन की चुनौतियाँ और जिम्मेदारियाँ सभी विद्याओं के समक्ष समान रूप से रहेंगी और तभी वे एक-दूसरे के विकास में और विशेष रूप से साहित्य के विकास में प्रेरणा देने वाली भूमिका निबाह सकेंगी। नहीं तो किसी भी विद्या के लिए किसी भी दूसरी विद्या पर अँगुली उठाना, उस पर संकीर्णता अथवा पिछड़ेपन का आरोप लगाना बहुत आसान है। और इस मामले में तो साहित्य अधिक वेध्य होता ही है। रचनात्मक साहित्य शास्त्रीय परम्पराओं से लाभ उठाता हुआ भी उनको कभी ओट नहीं बनाता। अपनी लौकिकता अथवा सर्जनशीलता के कारण अपने को वेध्य बनाता रहता है और वास्तव में यही उसकी प्राणवत्ता है।'[3]

अज्ञेय ने संस्कृत के विभिन्न आचार्यों के काव्य प्रयोजन सम्बन्धी दृष्टिकोण पर अपनी असहमति व्यक्त की है। रचना का प्रयोजन यश एवं धन देना है यह वे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। 'उनकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन सर्जक के आत्मदान एवं तुष्टि में निहित है। उनके अनुसार हर कृतिकार कृति के द्वारा मुक्त होता है, तथा उसके लिए सबसे पहली और सबसे बड़ी आवश्यकता है राहत और संतुष्टि। इसी संतुष्टि के लिए वह रचना करता है। अतः काव्य का पहला प्रयोजन रचयिता की संतुष्टि ही है। दूसरा प्रयोजन सर्जक के आत्मदान से सम्बन्धित है। सर्जक का आत्मदान आवश्यक रूप से शिवत्व से जुड़ा है। इसलिए शिवत्व उत्पन्न करना या रचना का सम्बन्ध लोकमंगल से जोड़ देना काव्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त रचना के द्वारा अपने अहं को स्थापित करना, आत्मबोध प्राप्त करना, आदि को भी काव्य प्रयोजन माना जा सकता है।'[4]

अज्ञेय ने सृजन के क्षेत्र में परम्परा के प्रभाव पर भी चिन्तन किया है। परम्परा के

नाम पर लीक पीटने का वे विरोध करते हैं। उनका मानना है कि जो लोग परम्परा का समुचित परीक्षण किए बिना उसका सम्बन्ध सत्य से जोड़ देते हैं। वे गलत दृष्टिकोण के शिकार हो जाते हैं, अर्थात् वे परम्परावादी हैं। ऐसे लोग रूढ़िबाद और सनातनीपन के हामी होते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा का बहुत-सा अंशकाल प्रवाह में गल-सड़ जाता है इसलिए वह हर युग में एक सी प्रेरणा और स्फूर्ति देने लायक नहीं रह जाता। प्रयोगवाद को प्रस्तावित करने के समय से ही अज्ञेय परम्परा के प्रति विद्रोह और प्रयोग के प्रति अपने समकालीन कवियों से आग्रह करते रहे। यद्यपि परम्परा से हटकर चलने में अकेले चलना पड़ता है, और अपना मार्ग स्वयं बनाना पड़ता है। किन्तु सृजकों को इससे बचने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। लक्ष्य प्राप्त हो या न हो अपने मार्ग पर चलते रहना ही श्रेष्ठ होता है।

'मेरा आग्रह भी नहीं रहा है चलूं उसी पर / सदा जिसे पथ कहा गया, जो /
इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा कि उस पर / कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी।'[5]

अज्ञेय ने गद्य-भाषा एवं काव्य-भाषा के अन्तर पर भी चिन्तन किया है। गद्य-भाषा के मुकाबले काव्य-भाषा में जटिलताएँ कहीं अधिक होती हैं। जिस गद्य में किसी प्रयोजन को अभिव्यक्त करना हो अथवा किसी जानकारी को संप्रेषित करना हो, वहाँ गद्य इकहरा भी हो सकता है और वहाँ शब्दों को पर्यायत्व भी माना जा सकता है। एक शब्द के बदले दूसरा शब्द हम कोश से ले सकते हैं। यद्यपि रचनात्मक गद्य की भाषा जैसे-जैसे जटिलतर स्थितियों की अभिव्यक्ति की ओर बढ़ती है, वैसे-वैसे उसकी समस्याएँ काव्य-भाषा के नजदीक आने लगती है। फिर भी दोनों में भेद है। कुछ भेदों की ओर अज्ञेय ने संकेत भी दिया है। 'काव्य में स्वर मात्रा का नियन्त्रण अधिक महत्त्व रखता है। स्वर मात्रा का नियन्त्रण काव्य-भाषा की गति को धीमा करता है। यह नियन्त्रण उसी सतही नियन्त्रण से अधिक गहरा होता है जो गद्य में लक्षित होता है। इस गहराई के कारण ही काव्य में बहुत कुछ ऐसा भी सहज भाव से कहा जा सकता है जो गद्य में शील विरुद्ध या संगोप्य या अश्लील तक जान पड़ सकता है। गद्य की भाषा में जो भाव असंयत जान पड़ते हैं काव्य भाषा में इस गम्भीरतर अनुशासन के कारण संयत हो जाते हैं। बुनियादी बात यह है कि गद्य का सीधा सम्बन्ध भाषा से है, काव्य का भाषा से नहीं बल्कि शब्द से और उसकी सत्ता से।'[6] कविता में शब्द को अज्ञेय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं वे कहते हैं कि- 'कविता शब्द में होती है, विचार भाषा में होता है अथवा कविता जोड़कर नहीं बनती, वह रची जाती है उसका प्रतिज्ञात भाषा नहीं, केवल शब्द है।'[7] त्रिशंकु में अज्ञेय ने कविता के स्वरूप को समझाते हुए अपने विचार व्यक्त किए हैं- 'कविता निजी अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं, वह अनुभूति से मुक्त है। व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं व्यक्तित्व से छुटकारा है।'[8] उनका मानना है कि- 'प्राचीन कवियों की महता का असल रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके ही लिखते थे, उनके लिए कविता स्वास्थ्य लाभ का साधन नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति की आनंद साधना थी।[9] वास्तव में कवि का काव्य

ही उसकी आत्मा का सत्य माना जाता है। यह सत्य व्यक्ति विशेष का न होकर अत्यन्त व्यापक होता है। कविता कवि के सीमित व्यक्तिगत जीवन को व्यापक सामाजिक जीवन तक पहुँचाने का प्रयास करती है -

'कविता तो ऐसी ही बात होती है / नहीं तो लयबद्व बहुत सी खुराफात होती है /
ऐसी ही बात / दिल फोड़कर रहस्य से आती है /
भीतर का जलता प्रकाश बाहर लाती है /
स्वयं फिर नहीं दिखती और सब कुछ दिखाती है / उसी सब में कहीं /
कवि का भी साथ लेकर / लय हो जाती है।[10]

सर्जनात्मक भाषा का निर्माण करना सरल कार्य नहीं है, इसी सन्दर्भ में अज्ञेय ने गद्य भाषा और काव्य भाषा की जटिलता पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। अज्ञेय की एक कविता 'कलगी बाजरे की' में पुराने उपमानों के घिस जाने की बात की गई है। निरन्तर प्रयोग से जब पुराने उपमान घिस जाते हैं तब नए प्रतीकों एवं उपमानों की आवश्यकता हो जाती है, यथा-

'अगर मैं तुमको ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका /
अब नहीं कहता, / या शरद के भोर की नीहार - न्याही कुई, /
टटकी कली चंपे की बगैरह तो / नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या सूना /
है या कि मेरा प्यार मैला है / बल्कि केवल यही : ये उपमान मैले हो गए हैं। /
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच।'[11]

अज्ञेय के अनुसार नए उपमानों की माँग वस्तुतः नए सौन्दर्य - प्रतीकों की माँग है। इसलिए उपमान की बात से आगे बढ़कर वे प्रतीक के विषय में कई स्थलों पर गम्भीरता से विचार करते हैं। उनका मानना है कि -'मानव केवल विवेकशील प्राणी ही नहीं है। पशु और मानव में इतना ही भौतिक अन्तर यह है कि मानव प्रतीक- स्त्रष्टा प्राणी है। मानव प्रतीकों की सृष्टि करता है, यह बात उसे पशु से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से अलग करती है, और यह उसके सारे साँस्कृतिक और प्रतिभा विकास का आरम्भ बिन्दु है।'[12] मनुष्य यदि प्रतीकों के प्रयोग से बचना चाहे तब भी वह बच नहीं सकता। प्रत्येक कला क्षेत्र का कृतिकार प्रतीकों से अवश्य ही आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रतीकों के माध्यम से ही अव्यक्त को व्यक्त किया जा सकता है। अज्ञेय के अनुसार- 'प्रतीक अनिवार्यतया अनेकार्थ सूचक होते हैं ..... अर्थ के जितने अधिक स्तर एक साथ झलकें, प्रतीक उतना ही प्रभविष्णु होता है। पर स्तर बहुत से हों या केवल कुछ-एक, आवश्यक यह है कि सारे अर्थ प्रतीक में ही होने चाहिए। मिथक की भाँति प्रतीकों में भी सायुज्य, सारूप्य और सादृश्य की स्वायत, स्वयंसिद्व, स्वयंप्रकाश व्यवस्था होनी चाहिए प्रतीक अपने आप में एक स्वतः प्रमाण दुनिया होता है।'[13]

अज्ञेय छन्दों के सम्बन्ध में भी चिन्तन पृथक् रूप में करते हैं, उनके अनुसार- 'छन्द का अर्थ केवल तुक या बँधी हुई समान स्वर मात्रा या वर्ण संख्या नहीं है। तुक छोड़ देते

ही छन्द टूट जाता है, यह मैं नहीं मानता। छन्द योजना का ही एक नाम है। जहाँ भाषा की गति नियन्त्रित है वहाँ छन्द है।'[14] अज्ञेय छन्द की बंधी हुई परिपाटी स्वीकार नहीं करते वे छन्द को व्यापक आयाम देते हैं। वे छन्द का वहिष्कार भी नहीं करते बल्कि वे छन्द को कविता के लिए आवश्यक मानते हैं। वे स्पष्ट रूप में कहते हैं- 'मैं आज भी मानता हूँ कि छन्द कविता का अभिन्न अंग है। जहाँ भी संयमन है, वहाँ छन्द है। और जहाँ संयमन नहीं है, वहाँ रूप सृष्टि नहीं है, कविता नहीं है।'[15] काव्य में लय उत्पन्न करने का मुख्य साधन स्वर है। हिन्दी छन्दःशास्त्र में कहीं भी स्वराघात का विचार नहीं है, उसके सम्बन्ध में कोई नियम, निर्देश या निषेध नहीं है, यद्यपि किसी अच्छे कवि ने इस सम्बन्ध में भूल कभी नहीं की। छन्द का मुख्य कार्य क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए अज्ञेय ने माना है- 'छन्द स्वरों को स्पष्टतर करता हैः भाषा की गति को धीमा करता है क्योंकि स्वरों की मात्रा बढ़ाता है। दीर्घतर स्वर अपनी पूरी अनुगूंज के साथ सामने आते हैं। उनकी सच्ची रंगत पहचानी जाती है। स्वरों की रंगत भावना की रंगत है। अतः छन्द के द्वारा स्वर अर्थ की वृद्धि करते हैं। छन्दमय उक्ति हमें शब्दार्थ भर नहीं देती- 'रचना विशिष्ट भावार्थ देती है। छन्द शब्दों को मूर्त करता है, मुखर करता है, उनके ध्वन्याकार को आलोकित करता है।'[16] वे यह भी मानने लगते हैं कि छन्द काव्य भाषा की आँख है। उसे त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता छन्द का सुललित लयात्मक काव्य परम्परा से हटाना क्यों आवश्यक हो गया था, इसके उत्तर में अज्ञेय कविता के श्रव्य एवं पठ्य पक्ष की विशेष सन्दर्भ में चर्चा करते हैं। जो परम्परा - जनित सुललित लयात्मक परम्परा कही जाती है- 'वह काव्य की वाचिक परम्परा थी यानी उसमें कविता पढ़ी नहीं सुनाई जाती थी, और अकेले में नहीं, समूह में उसका ग्रहण होता था। वह मुद्रण युग से पहले की स्थिति थी। मुद्रण युग में पढ़ी जाने लगती है, सुनी नहीं जाती, चुपचाप पढ़ी जाती है। ऐसे में बहुत सी चीजें जो वाचिक परम्परा में आवश्यक थीं, अनावश्यक हो जाती हैं, और कुछ नई आवश्यकताएँ प्रकट हो जाती हैं जो वाचिक स्थिति में नहीं थीं।'[17] अज्ञेय के सृजनात्मक चिंतन पर विदेशी प्रभाव मानना उनकी उपेक्षा करने के समान है।

संदर्भ :

1. पूर्वाः अज्ञेय, पृ. 125, 2. अज्ञेय साहित्य विमर्श : डॉ सुरेशचन्द्र पाण्डेय, खण्ड-एक, पृ 9, 3. सर्जना और सन्दर्भ, अज्ञेय, पृ. 386, 387, 4. अज्ञेय कवि और काव्य : डॉ. राजेंद्र प्रसाद, पृ. 66, 5. अरी ओ करुणा प्रभामय : अज्ञेय, पृ. 25,6. जोगलिखी : अज्ञेय, पृ. 192, 193, 7. अंतरा : अज्ञेय, पृ. 115 116, 8. त्रिशंकु : अज्ञेय, पृ. 43, 9. आत्मनेपद : अज्ञेय, पृ. 33, 34, 10. सागर मुद्रा : अज्ञेय पृ 93,11. काव्य-मालिका : सम्पा. सरस्वती भल्ला, पृ. 61,12. आलवाल : अज्ञेय, पृ. 92, 13. वही, पृ. 97, 14. जोगलिखी : अज्ञेय, पृ. 190,15., वही, पृ. 190,16. भवन्ती : अज्ञेय, पृ. 27,17. जोगलिखी : अज्ञेय, पृ. 124

- एसोसिएट प्रोफेसर, राजकीय महाविद्यालय सोलन-173212

'बिखरे पन्ने' का आत्मनिरपेक्ष आत्म

मीना सुतवणी

चुस्त भाषा, भावों की सटीक व्यंजना, वस्तु और भावों का संक्षेप शंकर पुणतांबेकर के साहित्य की विशेषता रही है। कथन के दौरान थोड़ा-सा भी अवसर या स्पेस इन्हें मिलता है तो स्थितियों पर वैचारिक मार से आप उसे भर देते हैं और तीखी चोट पर पाठक सोचने लगता है। 'बिखरे पन्ने' शंकर पुणतांबेकर की आत्मकथा है। यह केवल मनोरंजन नहीं करती, कौतूहल को शांत नहीं करती, बल्कि बौद्धिक खाद देती है और जतलाती है कि यह एक चिंतक व्यंग्यर्षि की आत्मकथा है।

प्रस्तुत आत्मकथा का मूल भाव है- 'मुझे कुछ कहना है'। यही उनकी आत्मकथा के पीछे का लक्ष्य है। 'मुझे कुछ कहना है' में जो तड़प है वह 'लिखना मेरी मजबूरी है' में नहीं। नसीब या शॉर्ट-कट से सफलता की चोटी पर पहुँचे आत्मकथाकार सह-निजत्व से अलग बहुत कुछ दिखावे की दुनिया में रहते हैं। लिखना उनकी मजबूरी हो जाती है और तटस्थता तिरोहित। ऐसे लेखक समाज के प्रति अपने कर्तव्य को नहीं समझते, डींगे भले हाँकते हों प्रतिबद्धता की। मेहनत, लगन, परिश्रम और संघर्ष को तो 'कुछ कहना है' से ही लगाव होता है। अपनी दास्तान के निजत्व को सह-निजत्व में विलीन कर पुणतांबेकर प्रस्तुत होना चाहते हैं। सामान्य मुसाफिरों में बैठे मुसाफिर की तरह गपशप कर अपने अनुभवों को साझा करना चाहते हैं। उनका निजत्व औरों का भी निजत्व है, उनकी भिन्नता या विशेषता निजत्व के दायरे में ही आती है। योग्यता के बावजूद अरमान टूटने की दास्तान को उन्होंने झेला है। अतः सामान्य होकर उनका आत्म आत्म-निरपेक्ष हो जाता है। 'वास्तव में एक निश्छल और निष्कपट व्यक्ति की आत्मकथा से प्रामाणिक दूसरे की जीवनी नहीं हो सकती। साधारण जीवन-चरित्र से 'आत्मकथा' में कुछ विशेषता होती है।'[1]

आत्मकथाकार एक सामान्य मुसाफिर की तरह ही है, पर उसका निजत्व लोगों को बाँधे रखता है। कई स्थानों पर वह औरों से भिन्न हो जाता है, तभी तो लोग उसे सुनते हैं। गहन जीवननुभवों के साथ ही कथन चातुरी, निश्छलता, नैतिक सामर्थ्य जैसे तत्त्व पुणतांबेकर को विशेष बनाते हैं। आत्मकथा के एक अंश में वे लिखते हैं, 'अंदर के भगवे कपड़े मुझे जीवन के बहुत अंदर ले जाते। बाहर के भगवे कपड़े रेशमी कीड़ा हो या दीमकी इसकी इतनी चिंता नहीं करते। पर अंदर के भगवे कपड़े दीमकी कीड़े की देह से बेचैन हो उठते हैं। मैं सोचता चिंतन और लेखन इसी बेचैनी की देन है।'[2]

डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे के अनुसार 'जब कोई व्यक्ति कलात्मक या रसात्मक स्तर पर उठकर अपने निजी व्यक्तित्व के विकास का चित्रण एवं विश्लेषण करता है, तब वह चित्रण एवं विश्लेषण आत्मकथा कहलाता है। कोई विरला धीर-गंभीर व्यक्ति ही अंतर्मुख होकर तटस्थ रूप से आत्मविश्लेषण कर पाता है। इसीलिए कठोपनिषद में कहा गया है,

'कश्चित धीर प्रत्यगात्मानमैक्षत' अर्थात कोई धीर व्यक्ति ही अपने आप को प्रत्यक्ष रूप में देख सकता है।'[3] प्रस्तुत आत्मकथा इस तथ्य का प्रत्यय कराती है। 'आत्मकथा लेखन के लिए अस्मिता (सात्विक अहम) बाधक नहीं है, अपितु तामसिक दर्प बाधक है। ... रससिद्धान्त की साधारणीकरण प्रक्रिया में अहं का सात्त्विक स्तर पर उन्नयन किया जाता है।'[4] बेबाकी, स्पष्टता के बावजूद पूरी आत्मकथा में तामसिक दर्प के दर्शन कहीं भी नहीं होते। आत्मकथा का एक वाक्य ही इसकी झलक प्रस्तुत करता है; यथा- 'मैंने झुककर अपना कद बढ़ाने की कोशिश कभी नहीं की, और न ही कभी इस अकड़ में सिर ऊँचा किया कि मैं झुका नहीं।'[5] यही वह सात्त्विक अहं है, जो पुणतांबेकर के जर्रे-जर्रे में भरा है।

पुणतांबेकर अध्यापन और लेखन दोनों में रस लेते हैं, अतः उनकी जिंदगी पन्नों में जा बसी है, या ये कहिए कि पन्ने उनकी जिंदगी में आ बसे हैं। पन्ने समेटने, लिखने पर तो आपका बस था, पर उन्हें सुगठित करने पर नहीं। अतः आपकी जिंदगी बिखरी हुई रही, क्योंकि लेखन में गठन लेखक पर इतना निर्भर नहीं करता जितना संपादक, समीक्षक, प्रकाशक पर। स्पष्ट है कि संपादकों, समीक्षकों ने पुणतांबेकर की भरपूर उपेक्षा की है। 'जो अपना ढोल नहीं पीटते वास्तव में नहीं पिटवाते उनकी दुनिया में कोई पूछ नहीं।'[6]

अब पुणतांबेकर तो अपने ढोल पीटने-पिटवाने से रहे। पन्ने आपने सँवार लिये हैं, उन्हें अपने बूते सुगठित बनाया है। पर जातिवाद, भाई-भतीजावाद, मातृभाषा, कस्बे का निवास आदि के कारण साहित्य के प्रस्थापितों, आधुनिक गाँधियों ने आपकी भरपूर उपेक्षा की है। वास्तव में उसके कारण ही आप अधिक निखर गये हैं। परंतु पन्ने के बाहर की आपकी जिन्दगी बिखरी ही रही है। अरमान टूटने की दास्तान 'बिखरे पन्ने' के रूप में आयी है। प्रस्तुत आत्मकथा 56 भागों में विभाजित है। 'आत्मकथा क्यों?' 'शीर्षक की बात' के बाद अपनी जन्म-भूमि कुंभराज से लेखक अपनी बात आरंभ करता है। आत्मकथा का आरंभिक अंश लेखक का अपना समय जतलाता है, उत्तरार्ध लेखकीय चिंतन पक्ष का साक्षात्कार कराता है। पाठक उसमें सराबोर होता है, लेखक के साथ चलनेवाला पथिक बनकर एक अलग ही दुनिया में विचरण करने लगता है। लेखकीय दर्शन को स्थापित करती गहन-गंभीर सूक्तियाँ पाठक को अपील होती हैं। यह दर्शन सामान्य जीवननुभावों से लहलहाता है। जन्म-भूमि कुंभराज की प्रकृति, पिता की मित्रों के साथ की राष्ट्रीय जोश भरी चर्चाएँ, उससे होने वाला रुढ़िविरोधी जागरण, बाड़ियों पर काम करने वाले किसान की हालत, विधवा नानी का अभिशप्त जीवन, पवित्र, तटस्थ, लोकहितैषी मुसलमान फकीर को इनके घर में तथा समाज में मिलने वाला आदर, राष्ट्रीय चेतना के उस युग में साधू और फकीर के लिए बरता जाने वाला समान भाव सब कुछ लेखक को संस्कारित करता है। भूत की भावुकता और वर्तमान की विडंबनाओं पर विदग्ध वैचारिकता आत्मकथा में साथ-साथ विचरण करते तत्त्व हैं। यंग इंडिया के सात सामाजिक पतनों का जिक्र लेखक करता है- तत्त्वहीन राजनीति, कर्महीन संपत्ति, विचारहीन आनंद,

नीतिहीन व्यापार, मानवताहीन विज्ञान, त्यागहीन पूजा और चरित्रहीन शिक्षा। भूखों मर रही राष्ट्रीयता और गुलछर्रे उड़ाती राजनीति के चरित्र को लेखक स्पष्टता से देखता है, वर्तमान सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक स्थितियों का जायजा लेते हुए समय समय पर लेखकीय धर्म के अनुरूप प्रतिक्रियाएँ देता जाता है।

अरुंधती राय को प्राप्त 21 हजार पाउंड के बुकर पुरस्कार के बहाने पुरस्कारों की राजनीति, प्रिंसेस डाइना, मदर टेरेसा और धर्मवीर भारती की एक ही हफ्ते हुई मृत्यु के बहाने समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य और पत्रकारिता क्षेत्र के चरित्रों की सूक्ष्मता से पड़ताल कर घातक और नकारात्मक पहलुओं को निडरता से खोलता है। आत्मकथा में चोटी के कई चरित्रों को इसी तरह बेनकाब कर उनमें स्थित अहंकार और अमानवीय तथ्यों की पोलखोल की गयी है। 'भारी व्यक्ति और हलका व्यक्तित्त्व' लेखक को अखरता है। 'कादंबिनी' के संपादक राजेन्द्र अवस्थी, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' की संपादक मृणाल पाण्डे, 'नवभारत टाइम्स' के फीचर संपादक कन्हैयालाल नन्दन आदि के टुच्चेपन का अनुभव लेखक ने किया है। इसी फेहरिस्त में प्रभाकर श्रोत्रिय, मंगलेश डबराल, प्रभाष जोशी, विश्वनाथ सचदेव, आनंदप्रकाश दीक्षित, मन्नू भण्डारी आदि नामों का भी समावेश है, जो प्रतिष्ठित व्यक्ति का सम्मान पाते रहे हैं। दशरथराज असनानी ने पीएच. डी. गाइड के रूप में किया इनका शोषण शिक्षा-क्षेत्र के लिए कलंक है। वादी-प्रतिवादी, पक्ष-विपक्ष को तटस्थता से देखने वाला बुद्धिशील लेखक पूर्व प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिंह राव के साथ ही प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की भी आलोचना करता है, जबकि अटल जी पुणतांबेकर के क्लासमेट रहे हैं। ध्यातव्य है कि प्रस्तुत स्थितियाँ 1998 की है। श्री. राव के उपन्यास 'इनसाइडर' का विमोचन प्रधानमंत्री अटल जी करेंगे, जैसे उनकी 'इक्यावन कविताएँ' का विमोचन 1995 में प्रधानमंत्री राव ने किया था, क्योंकि 'राजनीति के साहित्य में साहित्य गौण राजनीति प्रमुख होती है।'[7] प्रस्तुत प्रतिक्रिया उनकी निरपेक्षता का बेमिसाल उदाहरण है। 'कथा में लेखक यहाँ निज से अधिक विचार है प्रमुखतः साहित्य और जीवनदर्शन से जुड़े हुए। इनके मर्म को नहीं जाना ऐसा नामचीनों को ले शिकायतनामा भी यहाँ है।' (फ्लैप) आलेख में इतना स्पेस नहीं कि हर बात को प्रस्तुत किया जाय। इतना निश्चित है कि किसी प्रलोभन या लालच में आकर 'बुरे को बुरा कहने' के दायित्त्व को लेखक नहीं भूला है और अपनी कमजोरियों को भी स्वीकारता हुआ वह अपने अंतरंग को स्वच्छ और सामान्य करता चलता है। ''बिखरे पन्ने' एक ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा है जो न कहीं पदासीन था न ही नामचीन कलम बहादुर। इसने ऊँची पदवी पायी हो पर ऊँचा अलंकरण तो नहीं, प्राध्यापकी पायी हो पर विश्वविद्यालय की तो नहीं जिनके सर पर सुरखाब के पर चढ़ जाते हैं, वजन बढ़ जाता है। यह व्यक्ति रहा भी राजधानी जैसे ऊँचे शहर में नहीं कस्बे में। फिर हिन्दी का यह आदमी अलग मातृभाषा का अलग भाषा प्रांत का। लेखनी भी इसने ऐसी विधा की पकड़ी जिसे नामवर आलोचक विधा ही नहीं मानते। बड़ी पत्रिकाओं या बड़े प्रकाशनों में यह छपा हो, पर

इसने न अपनी कोई पत्रिका चलायी और न ही मंचों पर माइक ले वादों-विमर्शों के ढोल पीटे। लेखक की आत्मकथा का आत्म-निरपेक्ष आत्म क्या होता है, निरवलंबी-स्वावलंबी और परावलंबी भी आत्म क्या होता है यह तथ्य विखरे पन्ने की आत्मा है जो उपर्युक्त शरीरी विशेषताओं को निरस्त कर देती है।' (फ्लैप)

आत्मकथा में माँ पर लिखने की अनुभूति लेखक में सिहरन पैदा करती है। संग्रहिणी की बीमारी, बार-बार के जापे, निरक्षरता, गरीबी और देहाती पिछड़ेपन के अंधःकार में झुलसी माँ उस युग का सामान्य चरित्र थी। माँ के कुंभराज और विदिशा के कष्टमय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना लेखक के लिए बरसों बिछड़ी माँ से पुनर्मिलन होना है। पिता का अप्रकट प्रेम, दायित्वों के प्रति की सजगता, जीवन के प्रति की निर्लिप्तता, तटस्थतता, गरीबी के बावजूद किसीके सामने हाथ न पसारने की प्रवृत्ति, स्वाभिमान, राष्ट्रीय आंदोलनों में सम्मिलित न हो पाने की निम्न-मध्य-वर्गीय विवशता, माँ की बीमारी के चलते गंभीर से गंभीरतर होते पिता का विचलित न होना आदि तथ्य लेखक को एक तरह से संस्कारित करते हैं। पिता की तरह समादरणीय विदिशा के काशीनाथ पंडित की जीवन के प्रति की उदासीनता, तटस्थता, उनका बाबू रामसहाय सक्सेना, बाबू तख्तमल जैन, पं. सखाराम निगुडकर के साथ अछूतोद्धार आंदोलन में हिस्सा लेना, इन विभूतियों का अपने कार्य को न भुनाना, 'अखंड भारत' में छपनेवाली राष्ट्रीय हलचलों पर काशीनाथ काका के साथ की पिताजी की चर्चाएँ आदि से पुणतांबेकर के व्यक्तित्त्व को आकार मिला है। एल. एल. बी. के दौरान आगरा में रहते हुए उन्होंने लोगों की परख करना सीखा। उन्हें कुछ लोगों से यह अनुभव मिला कि 'आदमी अपने चुंबकत्व में भी लोहा ही अधिक होता है।'[8] सही चुम्बकत्व वाले गवांदे, ताराबई, डॉ. देशपांडे, अधेड़ उम्र के काले-कलूटे रेलवे में नौकरी करने वाले मुंडले, चाय की होटल चलाने वाले कॉमरेड शास्त्री, महराष्ट्र समाज को हर तरह की सेवा देने वाले बिलकुल अनाकर्षक व्यक्ति श्री. म्हसकर जैसे लोग उन्हें कम ही मिले। गवांदे की अष्ट-पहलू समझ, बुद्धि-मत्ता, गंभीरता और अहंकार हीनता ने उन्हें प्रभावित किया। यही गवांदे पुणतांबेकर को अहंकार से बचाने के लिए राजाराम के रूप में उनके साहित्य में उपस्थित हैं। अपने पति के प्रति पूर्ण समर्पित ताराबाई के शाही मिजाज और रूप ने उन्हें अभिभूत किया है। ताराबाई के सौन्दर्य के आकर्षण में युवा सुलभ अल्हड़पन को स्वीकारते हुए अपनी गलती का एहसास भी उन्होंने किया है। जीवन में त्रस्त नित्य हँसते मुंडले, अंग्रेजी पर प्रभुत्व रखने वाले, चुभती बातें करने वाले शास्त्री, निस्पृह सेवा देने वाले म्हसकर जैसे कई लोगों को लेखक याद करता है, जो बहुत से अभावों के बावजूद बिना रोते हुए जीवन में रस लेते हैं, रंग भरने की कोशिश करते हैं। अपने भाई साहब के मित्र पागे, जोशी, कांबले जैसे सामान्य निम्न-मध्यवर्गीय लोग जो अपनी जिंदगी से जताते हैं कि जिंदगी जीने के लिए है, जिंदगी से हँसने-खेलने के दिन निकाल लो, लेखक को आकृष्ट करते हैं। कुंभराज की प्रकृति, वहाँ का बाल्य-काल, फिर विदिशा में आगमन, वहाँ के गौरव-पूर्ण परंपरा को दर्शाते ऐतिहासिक स्थल, स्टेशन

के पास का पुस्तकालय, किले के अंदर के मकान, बेतवा नदी पर बना महल घाट, वहाँ का गोठ, शिवलिंग, रामलीला मेला आदि की मनोहारी स्मृतियों को लेखक सामान्य बनाता चलता है। साथ ही तत्कालीन अंधेरे की तुलना में आज के चकाचौंध भरे अंधेरे की भयावह अनुभूति, 'मकानों के दुकाने बन जाने की पीड़ा' को भी लेखक अभिव्यक्ति देता है। भाषा और साहित्य के आभिजात संस्कार लष्कर (ग्वालियर) तथा वहाँ के विक्टोरिया कॉलेज ने लेखक को दिये हैं। कॉलेज की शानदार, शाही इमारत, रामविलास शर्मा, राहुल सांकृत्यायन जैसे महान साहित्यकारों की उपस्थिति में सम्पन्न, बिना शोरगुल के शिक्षा के साथ संस्कार देने वाले गैदरिंग, छात्रों द्वारा खेले जाने वाले नाटक, वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ, लोच और रसात्मक भाषा का अनुभव देने वाले शिवमंगल सिंह 'सुमन' जैसे अध्यापक, बर्नार्ड शॉ के 'आर्म्स एंड दी मैन' में किये गये एलिट सोसाइटी पर के प्रहार को समझाने वाले प्रो. गोडबोले, प्रकांड विद्वान डॉ. दिवेकर द्वारा प्रारम्भ की गयी 'जनक गंज मिडिल स्कूल' के प्रांगण में चलने वाली 'शरद व्याख्यान माला' आदि का उनके वैचारिक गठन में खासा योगदान रहा है।

आत्म-कथा में लेखक एक विशिष्ट चिंतन पक्ष के साथ ही प्रस्तुत है। सहज, निस्पृह, तत्पर, परितृप्त पत्नी के विषय में जब वह लिखता है, तो परिवार व्यवस्था में पारंपरिक नारी की भूमिका और हवा की तरह घर के हर कोने में भरे उसके अस्तित्व पर काव्यमय चिंतन ही फूलता जाता है। 'व्यंग्य अमरकोश से मिलिए', 'संकर रिचाएँ पर बात', 'लघुकथा : जैसे मैंने देखी-लिखी' जैसे अंश जहाँ उनके व्यंग्य में नये प्रयोगों से पाठक को परिचित कराते हैं, वही उसमें की गंभीरता, बौद्धिकता, चिंतन-प्रधानता को भी अधोरेखित करते हैं। कई स्थानों पर लेखक ने अपनी कमजोरियों को बड़ी तटस्थता से स्वीकारा जब वे आकाशवाणी के लिए विचार-पुष्प लिखा करते थे, एक श्रोता ने उनपर कुछ आक्षेप लगाये। तब वे स्वीकारते है कि पैसा, यश, प्रतिष्ठा हर कोई चाहता है, अगर कोई इसे नकारता है तो वह दंभी है। उनका कथन है- 'सामान्य आदमी की कमजोरियाँ मुझमें भी हैं भाई! मुझे भी स्टोव के पास के पाँच मिनट भी पाँच घंटे जैसे लगते हैं और सुंदर स्त्री के पास के पाँच घंटे फुर्र से उड़ जाने वाले पाँच मिनट-जैसे। कमजोरियाँ नहीं हैं, प्रतिक्रियाएँ नहीं हैं तो व्यक्ति लेखक कैसे बन सकता है। हाँ, हम कमजोरियों को नियंत्रण में रखना, उनकी गंदगी को खाद में ढालना और उनका उचित इस्तेमाल करना जरूर जानते हैं।'[१]

निर्मुक्ति स्थायी भाव के रूप में पुणतांबेकर में स्थित है, जिसका अनुभव उन्होंने बचपन में ही कुंभराज में किया था। सात-आठ वर्ष की अवस्था में उनके मस्तिष्क में विचार उठा था- क्या है यह जिंदगी, क्या है यह दुनिया! तारे की तरह लेकिन उनका यह विचार विलीन नहीं हुआ, उद्दीपन पाकर प्रकट होता रहा। आत्म-कथा के अंतिम अंश में वह उपस्थित हुआ है। निर्मुक्त (डिटैच्ड) अवस्था में ही व्यक्ति आत्म-निरपेक्ष हो सकता है। विदिशा में किले अंदर के राधाकृष्ण (ढोलीबुवा) के मदिर के छत पर

की दूसरी मंजिल का कमरा, ढोली परिवार में ब्याही तैयोदीदी, जिससे इस परिवार के साथ स्थापित गहरे संबंध, इस परिवार के लखू तथा अन्य मित्रों के साथ छत पर बने कमरे में चलने वाला खेल और छत की मुँडेर पर स्वस्थ होकर सब ओर दृष्टि घुमाते हुए निर्मुक्त आनंद का अनुभव करते क्षण लेखकीय स्मृति में ऐसे जमे हुए थे कि एकांत अवस्था में कभी भी आकर दस्तक देते। एक दिन सपने में लेखक उसी मुँडेर पर से गिरने का अनुभव करता है। यह गिरना नीचे नहीं तो ऊपर आकाश में हुआ है। वह सोच रहा है कि मैं कब तक गिरता रहूँगा, क्योंकि आकाश तो अनंत है। हमारे दर्शनिकों ने इसे नेति-नेति कहकर संतोष कर लिया है। रहस्य बना है इसीलिए जीवन रसपूर्ण है। रहस्य खुला नहीं कि जीवन नीरस हो जाएगा। इसी दार्शनिक अवस्था से भौतिक जगत में आकर लेखक सोचता है, हम कर्म से शून्य को आकार देते हैं, नहीं कुछ को सब कुछ बनाते हैं, पर शून्य (धन) से कर्म को आकार नहीं देते। धन का सदुपयोग नहीं करते, जिसकी माँग धर्म, कला, दर्शन करते हैं। जब हमारा शून्य घड़े का शून्य बनेगा, उस घड़े का जो अपना पानी स्वयं नहीं पीता अन्यों की प्यास बुझाता है, उससे प्राप्त आनंद में ही जीवन की सार्थकता है। पुणतांबेकर ने अपने अंतिम दिनों में कहा था, मैं अपने जीवन से परितृप्त (सैटिस्फाइड) हूँ। यह परितृप्ति सोना, चाँदी, बँगले, गाडियाँ, जमीन-जायदाद या किसी ऊँचे पुरस्कार के कारण नहीं है, उससे हो भी नहीं सकती, यह तो महान त्यागादि से संभव है। काश पुणतांबेकर की जीवन गति से हम कुछ क्षण धारण कर सकते! निर्मुक्त अवस्था का अनुभव करते!

संदर्भ :

1. साहित्य विवेचन, क्षेमचन्द्र 'सुमन', योगेन्द्रकुमार मल्लिक, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, संस्करण 1997, पृ. 293
2. बिखरे पन्ने, शंकर पुणतांबेकर, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2014, पृ. 141
3. साहित्य शास्त्र, डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे, आलोक प्रकाशन, औरंगाबाद, द्वि. सं. 1992, पृ. 158
4. वही
5. बिखरे पन्ने, शंकर पुणतांबेकर, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2014, पृ. 31
6. वही, पृ. 13,
7. वही, पृ. 72,
8. वही, पृ. 101,
9. वही, पृ. 270

एस. जी. कला, विज्ञान व जी. पी. वाणिज्य महाविद्यालय
शिवले, मुरबाड़, जि. ठाणे

अब्बास किरोस्तामी की सिनेमाई प्रयोगधर्मिता का समीक्षात्मक अध्ययन

ईशान त्रिपाठी

अस्सी के दशक के महान ईरानियन फिल्मकार अब्बास किरोस्तामी के सिनेमाई दृष्टिकोण ने फिल्म अध्येताओं, पत्रकारों, संचारविदों और अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक संबंधों में गहरी रुचि रखने वाले विद्वानों को हमेशा से प्रभावित किया है। लीक से हटकर अपरम्परागत तरीकों ने किरोस्तामी के सिनेमा को अलग पहचान दिलाई है। 1970 के प्रारम्भिक दौर में किरोस्तामी ने लघु लेकिन बेहद प्रभावशाली वृत्तचित्र (डॉक्युमेंट्रीज) बनाया जिसमें ब्रेड एंड एले (1970), द ट्रैवलर (1974), टू सोल्युशंस फॉर वन प्रॉब्लम (1975) और द रिपोर्ट (1977) प्रमुख हैं। 80 के दशक में किरोस्तामी का नया प्रयोगधर्मी सिनेमाई दृष्टिकोण सामने आता है जिसमे कोकर ट्रायोलाजी के जरिये वह वास्तविकता और कल्पना के बीच की अस्पष्टताओं की भी पड़ताल करते नजर आते हैं। वेयर इज द फ्रेंड्स हाउस (1987), होमवर्क (1989) और क्लोज-अप (1990) के जरिये वह गैर-अभिनेताओं का उपयोग करते हैं। 90 के दशक ने किरोस्तामी को सही मायनों में वैश्विक पटल पर स्थापित कर दिया। इस दौरान उनकी, लाइफ गोज ऑन (1992), थ्रू द ओलिव ट्रीज (1994), टेस्ट ऑफ चेरी (1997), द विंड विल कैरी अस (1999) जैसी फिल्में बेहद चर्चित रहीं। अपने प्रयोगधर्मी 'कोकर ट्रायोलॉजी' (वेयर इज द फ्रेंड्स हाउस, लाइफ गोज ऑन, थ्रू द ओलिव ट्रीज) में किरोस्तामी एक अनूठे तरीके के साथ सामने आते हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक फिल्म पिछली फिल्म को संदर्भित करती है। इन फिल्मों की कहानी में किरोस्तामी 'सरोगेट निर्देशक' के उपयोग द्वारा दृश्यों को फिर से देखते, छानबीन करते प्रतीत होते हैं। डॉक्युमेंट्री जैसी लगती ये फिल्में पूरी तरह से काल्पनिक हैं लेकिन यह किरोस्तामी की सिनेमाई दक्षता है जो कल्पना को भी वास्तविकता के अहसास में तब्दील कर देता है। नई सहस्त्राब्दी में टेन (2002) और शिरीन (2008) के जरिये किरोस्तामी कला की अवंत-गार्डे पद्धति द्वारा प्रयोगधर्मिता की नई लकीर खींचते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र किरोस्तामी के डॉक्युमेंट्री व सिनेमा के समीक्षात्मक अध्ययन के जरिये विश्व सिनेमा जगत में उनके प्रयोगधर्मी साहित्यिक-सिनेमाई योगदान को सामने लाने का प्रयास भर है।

किरोस्तामी की न्यून प्रयोगधर्मी शैली:

अपने शुरुआती डॉक्यूमेंट्री में किरोस्तामी ने कम बजट में निर्माण की न्यून शैली को अपनाते हुए प्राकृतिक रोशनी का उपयोग किया। द ब्रेड एंड ऐले, द ट्रैवलर और टू सोल्युशन्स फॉर वन प्रॉब्लम इस प्रयोगधर्मिता के संजीदा उदाहरण हैं। प्रकाश की प्राकृतिक व्यवस्था के साथ साथ, लागत को और कम करने के लिए उन्होंने सेट डिजाइन की जगह रीयल लोकेशन को तरजीह दी। वहीं पेशेवर अभिनेताओं के स्थान पर उन्होंने

बच्चों को अपने प्रारम्भिक दौर के सिनेमा में लिया। माना जाता है कि घरेलू सिनेमा में किरोस्तामी सोहराब शाहिद-सलेस, परविज किमियावी और कामरान शिर्देल जैसे फिल्म निमार्ताओं के अनुयायी हैं। 'द विंड विल कैरी अस' में एक अकेला पेड़ चालक दल के लिए गाइड की तरह काम करता है। यहाँ यह पेड़ महज बिम्ब मात्र नहीं बल्कि एक महवपूर्ण अमूर्त किरदार भी है। दरअसल, प्राकृतिक प्रकाश व्यवस्था और वास्तविक लोकेशन के उपयोग को मानव और प्रकृति के बीच समन्वय से भी समझा जा सकता है। यही कारण है कि इन शैलियों से किरोस्तामी सिनेमा के माध्यम से न सिर्फ बिम्ब रचना करने में सफल होते हैं बल्कि प्रभावी सन्देश भी संचरित करते हैं। कलात्मक दृष्टि के अलावा तकनीकी दृष्टि से भी किरोस्तामी न्यून शैली का प्रयोग करते हैं। फ्रेम के बाहर के रिक्त स्थान का उपयोग उन्हें रॉबर्ट ब्रेसन की श्रेणी में लाता है जो खुद भी न्यूनतम सिनेमा के सिरमौर रहे हैं।

किरोस्तामी की कथा विरोधी शैली (एंटी नैरेटिव स्टाइल):

अक्सर कथा-कहानी के पूर्वाग्रहों को नकारते हुए किरोस्तामी एक या दो दृश्यों के भीतर पूरी डॉक्यूमेंट्री या फिक्शन सिनेमा की कहानी को पूरा करने पर जोर देते हैं। डॉक्यूमेंट्री और काल्पनिक सिनेमा के कलात्मक संयोजन में किरोस्तामी अपरम्परागत अभिनेताओं और कविता (पोएट्री) के बौद्धिक उपयोग से अपने सिनेमा को अलग स्तर पर ले जा पाने में सफल होते हैं। किरोस्तामी के सिनेमा की विशेषता अनिश्चितता का होना है, उनके पात्र शांत हैं, बोलने पर भी दर्शकों को बहुत कम जानकारी उपलब्ध कराते हैं। इतनी सीमितता में ये पात्र अपने व्यवहार से यह भी सुनिश्चित करते हैं कि दर्शक कभी भी किसी घटना को लेकर आश्वस्त न हो सकें। 'द विंड विल कैरी अस' का नायक गहरी निराशा, अवसाद में है, लेकिन दर्शकों को इसकी जानकारी न के बराबर होती है। दर्शकों पर विश्लेषण छोड़ने, सवालों का जवाब न देने की यह शैली उन्हें माइकल हाने के की श्रेणी में लाकर खड़ा करता है। हालाँकि माइकल हाने के खुद किरोस्तामी को अपना सबसे पसंदीदा फिल्म निर्माता मानते हैं। 'ब्रेड एंड ऐले' में स्कूल से लौटते हुए बच्चे का सामना आक्रामक कुत्ते से होता है। थोड़ी देर के गहन प्रयास के बाद वह बच्चा एक रोटी का टुकड़ा कुत्ते के सामने फेंकता है जिसके बाद वह कुत्ते के साथ बहुत आराम से अपने घर तक जाता है लेकिन उसी समय क्लाइमेक्स में एक दूसरा बच्चा उस कुत्ते के पास गुजरता है और उसके भौंकने से डर कर वह बच्चा अपने साथ लिए खाने के सामान को उस कुत्ते के सामने फेंक देता है लेकिन इस शार्ट फिल्म का अंत यहीं हो जाता है। दरअसल इस छोटे से कथानक का अंत कुछ विद्वानों ने इस तरह माना है कि ऐसा जरूरी नहीं कि जो समाधान किसी एक व्यक्ति के लिए प्रभावी हो ठीक वही समाधान दूसरे के लिए हो तो कुछ अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों की जानकारी रखने वाले विद्वानों ने इसे किरोस्तामी द्वारा प्रयुक्त बिम्ब निर्माण माना है। वह बच्चा मध्य-पूर्व के देश के रूप में प्रतिबिंबित है तो कुत्ता विश्व के विकसित देश के रूप में। बहरहाल,

विश्लेषण जो भी हों लेकिन दार्शनिक प्रश्नों का प्रस्ताव करना और उनको अनुत्तरित छोड़ देना एक फिल्म निर्माता के तौर पर अविभाज्य विषय है। कहा जा सकता है कि अपने कथा विरोधी शैली के जरिये किरोस्तामी का पूरा फोकस सवाल पूछने पर है न कि सवालों के जवाब तलाशने में।

किरोस्तामी का शैक्षिक सिनेमा और बच्चेः

सत्तर के दशक में ईरान में हुई इस्लामिक क्रान्ति के बाद 80 के दशक के प्रारम्भिक दौर में (80 से 84 के बीच) किरोस्तामी शैक्षिक सिनेमा के निर्माण पर जोर देते हैं और बच्चों के गैर-अभिनेताओं के समूह को लेकर पहली शैक्षिक फिल्म 'फर्स्ट ग्रेडर्स' (1984) बनाते हैं। एक छोटे बच्चे अहमद की कहानी जो भूलवश अपने दोस्त की नोटबुक अपने घर ले जाता है और नोटबुक को वापस करने के लिए अपने दोस्त के घर को खोजने के प्रयास की कहानी है 'वेयर इज माई फ्रेंड्स होम'। 1987 में निर्मित इस फिल्म का शीर्षक सोहराब सेपहरी की कविता से लिया गया। 1989 में निर्देशित होमवर्क ऐसे स्कूली दोस्तों के एक समूह की कहानी है जो होमवर्क की समस्या से जूझते हैं। इस सिनेमा को यथार्थवाद और प्रकृतिवाद का ऐसा उदाहरण माना जाता है जो 'सत्य की तलाश' करती है। फ्रेम में किरोस्तामी अपनी प्रत्यक्ष उपस्थिति के जरिये वह प्रश्न पूछते हैं और उसके जवाब माँगते हैं जो प्रयोगधर्मिता की ऊँची और सकारात्मक प्रवृत्ति का संकेत करती है।

किरोस्तामी और 90 का दशक :

1990 में ईरान में आये विनाशकारी भूकम्प के सदमे ने किरोस्तामी के प्रयोगवादी दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया। 'वेयर इज माई फ्रेंड्स होम' के मुख्य पात्र उस छोटे बच्चे के जीवन में भूकम्प के बाद क्या और कैसा परिवर्तन आया इसका विस्तार लाइफ गोज ऑन (1992) और थ्रू दी ओलिव ट्री (1994) के रूप में सामने आता है। डेविड ओबिना लिखते हैं, 'कोकर त्रयी की प्रत्येक फिल्म पहले वाली फिल्म का दस्तावेजीकरण करती है और बदले में, अगले के लिए काल्पनिक रूपांकन बन जाती है। पालिम्प्सेस्ट की इस असाधारण श्रृंखला में, जहाँ प्रत्येक फिल्म अपने पूर्ववर्ती को ओवरराइट करती है, किरोस्तामी फिक्शन और डॉक्यूमेंट्री के दोनों ध्रुवों के बीच लगातार चलते हैंः इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट अंतर तो नहीं होता, बल्कि क्रमपरिवर्तन की एक जटिल प्रणाली है'। हालाँकि 1990 में किरोस्तामी ने री-कंस्ट्रक्टेड डॉक्युमेंट्री के नव-प्रयोग से क्लोज-अप बनाया। इसमें हुसैन सब्जियन नामक व्यक्ति की सच्ची कहानी को री-कंस्ट्रक्ट किया गया है। सब्जियन धोखाधड़ी करते हुए खुद को ईरान के लोकप्रिय निर्देशक मोहसेन मखमलबाफ के रूप में पेश करता है। सब्जियन को पुलिस गिरफ़्तार करती है, किरोस्तामी उससे मिलने जाते हैं और बातचीत करके कोर्ट हाउस और मामले में शामिल सभी लोगों को मिलाकर इस घटना के बाबत एक वृत्तचित्र के निर्माण की रूपरेखा खींचते हैं। इस वृत्तचित्र में किरोस्तामी सब्जियन और मखमलबाफ-उसके परिवार के बीच बैठक का

पुनर्निर्माण करते हैं और कहानी को एक निष्कर्ष देने का प्रयास करते हैं। यहाँ किरोस्तामी न केवल वास्तविकता की पारम्परिक धारणाओं को तोड़ते हैं बल्कि डॉक्युमेंट्री में निर्देशक की भूमिका को भी जटिल बनाते हैं। हामिद दबाशी लिखते हैं, 'सिनेमा की ताकत यह है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह वास्तविकता या कल्पना के रूप में शुरू होती है और किरोस्तामी के समीकरण में प्रवेश करने के बाद वह वास्तविकता की पुष्टि करने के लिए वास्तविक को दोगुना करने में सक्षम है'। 'क्लोज अप' के अन्तिम दृश्य में सब्जियन मखमलबाफ की मोटरसाइकल के पीछे सवार होकर उसे गले लगाते हैं। वे फूल लेने के लिए रुकते हैं। कहानी के स्तर पर यह क्रम काल्पनिक और वास्तविक मखमलबाफ के बीच एक संभावित सुलह का सुझाव देता है लेकिन यह फिल्म के धोखे के लिए दर्शकों से एक प्रतीकात्मक माफी के तौर पर भी लिया जा सकता है।

1992 में किरोस्तामी ने 'लाइफ, एंड नथिंग मोर' के लिए कान्स फिल्म फेस्टिवल में रोबर्टो रोसेलिनी पुरस्कार जीता। यह फिल्म किरोस्तामी की 'भूकम्पत्रयी सिनेमा' में से एक है। इस त्रयी की अन्तिम फिल्म 'थ्रू द ओलिव ट्री' (1994) है। इस फिल्म के बारे में यह कहा जाता है कि किरोस्तामी को गैर अभिनेताओं के साथ काम करने का सबसे बुरा अनुभव मिला। इस फिल्म को लेकर उनकी उक्ति बहुत चर्चित हुई, 'यह अभी भी मुझे समय-समय पर बुरे सपने देता है'। फिल्म का अन्त खुला है और इसे उन फिल्मों की श्रेणी में रखा जाता है जो दर्शकों को शास्त्रीय कथा संरचना से परिचित कराती है। 'थ्रू द ओलिव ट्री' में संदेह अनिश्चितता से आगे निकल जाता है और फिल्म का अंत कहानी को एक निश्चित सामीप्य नहीं दे पाता। 'टेस्ट ऑफ चेरी' (1997) एक ऐसे व्यक्ति मिस्टर बादी की कहानी है जो आत्महत्या करना चाहता है। इसमें आत्महत्या की वैधता जैसे विषय को लेना किरोस्तामी की संवेदनशीलता को दिखाता है। 'ऑफ फ्रेम' का इस्तेमाल करना, कहानी के कुछ हिस्से को जान-बूझ कर समाप्त करना, गैर-अभिनेताओं का उपयोग करना किरोस्तामी के प्रयोगधर्मिता का हिस्सा है। 'द विंड विल कैरी अस' (1999) किरोस्तामी की तरफ से विश्व के महानतम जापानी फिल्मकार अकीरा कुरोसोवा को श्रद्धांजलि है। इसमें लैंगिक समानता और विकास जैसे विषयों को सम्बोधित किया गया है। नव-प्रयोगवाद में एक नए आयाम को स्थापित करते हुए किरोस्तामी ने इस फिल्म में उन पात्रों की आवाजों का उपयोग किया है (ऑफ कैमरा साउंड) जिन्हें हम पूरी फिल्म में नहीं देख पाते।

किरोस्तामी: नयी सहस्त्राब्दी, नया प्रयोग

नयी सहस्त्राब्दी के पहले दशक के प्रारम्भिक वर्षों में अतिसूक्ष्मवादी प्रयोग की पहली झलक साल 2002 में फिल्म 'टेन' में देखने को मिलती है। बदलते ईरान को दर्शाती इस फिल्म में प्रतीकों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। पूरी फिल्म के दौरान एक महिला कार चलाते हुए यात्रियों के साथ बातचीत कर रही है। अपनी पूरी यात्रा के दौरान वह दस अलग-अलग लोगों से बात करती है जिसमें उसकी बहन, एक वेश्या, एक दुल्हन

और छोटा बेटा शामिल हैं। डिजिटल रूप से फिल्माए गए इस फिल्म में किरोस्तामी शारीरिक रूप से मौजूद नहीं थे, कैमरे को कार के अन्दर एक एंगल पर फिट कर दिया गया। फिल्म सेट से 'निर्देशक का निष्कासन' इस परियोजना में लागू कई नवाचारों में से एक है। प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार ए. ओ. स्कॉट द न्यू यॉर्क टाइम्स में लिखते हैं, 'किरोस्तामी पिछले दशक के शायद सबसे ख्यातिलब्ध इरानी फिल्मकार होने के अलावा विश्व में ऑटोमोटिव सिनेमा के भी उस्ताद हैं... ऑटोमोबाइल को प्रतिबिम्ब, अवलोकन और सबसे बढ़कर बातचीत के स्थान के रूप में समझते हैं।'

महिला आत्म बलिदान के विषय को केंद्र में रखकर साल 2008 में 'शिरीन' का निर्माण किया। इसमें कई ईरानी अभिनेत्रियों और फ्रांसीसी नायिका जूलियट बिनोचे के क्लोज-अप शामिल हैं। इस फिल्म को 'छवि, ध्वनि और महिला दर्शकों के बीच सम्बन्धों की एक आकर्षक खोज' के रूप में जाना जाता है। गैर-अभिनेताओं के प्रयोगवादी प्रवृत्ति को तोड़ते हुए किरोस्तामी द्वारा पेशेवर महिला अभिनेत्रियों को 'शिरीन' में लेने के कुछ प्रमुख कारणों में- पेशेवर अभिनेताओं का सम्मान करना, टेन की रिलीज के बाद उनपर लगाए गए दुर्व्यवहारों के आरोपों को खारिज करना, चरित्र 'शिरीन' दासता, महिलाओं पर थोपी गयी सीमाओं का प्रतीक है।

निष्कर्षतः रॉबर्ट ब्रेसन, यासुजीरोओजू, सत्यजीत रे और चैंटल एकरमैन जैसे फिल्म निमार्ताओं के श्रेणी में आने वाले किरोस्तामी ने 'न्यूनतम सिनेमा' को अपने नव-प्रयोगवादी दृष्टिकोण से नई ऊचाइयाँ प्रदान की हैं। प्रयोगों में किरोस्तामी की दक्षता को रिक्तता, संवादों में जानबूझकर चूक, अनुपस्थिति, गैर-पारम्परिक अभिनेताओं के उपयोग जैसे अमूर्त पहलू से समझा जा सकता है। निःसंदेह, किरोस्तामी ने मुख्यधारा की पारम्परिक सिनेमाई शैली को नकारने में जरा भी हिचक नहीं दिखाई। लगभग चार दशकों के अपने सक्रिय नव यथार्थवादी प्रयोगों से उन्होंने वृत्तचित्र, लघु सिनेमा और सिनेमा की नयी परिभाषा गढ़ी है। वास्तविकता और कल्पना के बीच की दूरी को धुँधला करती किरोस्तामी की करिश्माई दृष्टि और कलम दर्शकों को ओपन एंड देते हुए सोचने पर मजबूर कर देती है। संवेदनशील फिल्म निर्माण का ईमानदार प्रयास उनके विषय चयन को लेकर स्पष्ट सोच से साफ दिखता है। 'टू सोल्युशंस फॉर वन प्रॉब्लम' में सिर्फ दो बाल कलाकारों के साथ विवाद, संघर्ष और दोस्ती-दुश्मनी जैसे जटिल विषय को बेहद सपष्ट लघु शैली में संबोधित करना उनकी स्पष्ट सोच की बानगी है। सिर्फआवाजों से दृश्य संयोजन रखने का प्रयोग संभवतः किरोस्तामी से पहले किसी ने भी नहीं सोचा होगा। जीवन, मृत्यु, भय, परिवर्तन जैसे विषयों को अपने सिनेमा के केंद्र में रखना इस महान फिल्मकार के सामाजिक सरोकार की तरफ संकेत करता है। अपने सिनेमा में 'सरोगेट निर्देशक' को रखना किरोस्तामी के उस दर्शन से साक्षात्कार कराता है जिसके अनुसार हमारे जीवन में वास्तविक या मौलिक जैसा कुछ नहीं होता बल्कि जो भी है, जिसका भी अस्तित्व दिखता है वह किसी न किसी तरह से किसी और का प्रतिबिम्ब है जिसे हम अपने

अनुभवों से उसका होना सुनिश्चित करते हैं। किरोस्तामी के सिनेमाई नव-प्रयोगों और इसके प्रभाव की समीक्षा करते हुए प्रसिद्ध जर्मन फिल्मकार वर्नर हेर्जोग की उक्ति बेहद समीचीन प्रतीत होती है, 'हम सभी किरोस्तामी के दौर में रह रहे हैं, लेकिन फिर भी इसकी जानकारी हमें नहीं है'।

संदर्भ :

1. माजिद, इस्लामी, कॉन्सेप्ट ऑफ फिल्म क्रिटिसिज्म, नश्र-ए-नेय, तेहरान, 2007, पृ. 234
2. घुकासियन, जवेन, कलेक्शन ऑफ राइटिंग्स ऑन कियारोस्तमी, नश्र-ए-दीदार, तेहरान से उद्धृत, 1996, पृ. 72-4
3. तस्वीर, डॉनयाये, कियारोस्तमीः अ बोर्न फिल्म मेकर, तेहरान, मार्च 2012, पृ.12-14।
4. संजाबी, अर्श, दी सिनेमा ऑफ अब्बास कियारोस्तमी, नश्र-ए-गाम, तेहरान, 2013, पृ. 15-22
5. करीमी, इराज। अब्बास कियारोस्तमीः द रीयलिस्ट फिल्म मेकर, नश्र-ए-अहू, तेहरान, 1986, पृ. 71-85
6. एलेना, अल्बर्टो, दी सिनेमा ऑफ अब्बास कियारोस्तमी, रअदक प्रकाशन, लन्दन, पृ. 108-109
7. दबाशी, हामिद, क्लोज-अपः ईरानियन सिनेमा, पास्ट, प्रेजेंट, एंड फ्यूचर, वर्सो, लन्दन 2001, पृ. 67
8. इस्लामी, माजिद, कॉन्सेप्ट्स ऑफ फिल्म क्रिटिसिज्म, नश्र-ए-नेय, तेहरान, 2006, पृ. 224
9. वही, पृ. 234
10. गौफ, एंड्रू, टेन, बी.एफ.आई. प्रकाशन, लन्दन, 2005, पृ. 63-71
11. www.zeitgeistfilms.com से उद्धृत Ten Film Synopsisd
12. गिन्सबर्ग, टेरी व लिप्पर्ड, क्रिस, हिस्टोरिकल डिक्शनरी ऑफ मिडिल ईस्टर्न सिनेमा, स्केयरक्रो प्रेस, मेरीलैंड, पृ. 236
13. संजाबी, अर्श, दी सिनेमा ऑफ अब्बास कियारोस्तमी, नश्र-ए-गाम, तेहरान, 2013, पृ. 37

असिस्टेंट प्रोफेसर, जनसंचार विभाग,
स्कूल ऑफ मैनेजमेंट साइंसेज
वाराणसी

अमूर्त्त में मूर्त्त की सत्यता: भारत दुर्दशा

डॉ. पूनम शर्मा

नाट्य चेतना के धनी भारतेंदु ने नाट्य रचना केवल साहित्य को समृद्ध करने के लिए नहीं बल्कि अपनी अनुभूति को तत्कालीन जनता के साथ रूबरू करवाने के लिए की। किसी भी नाट्यरचना के निर्माण के पीछे अनेक ऐसे सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक कारण होते हैं, जो रचनाकार के मनोमस्तिष्क को आंदोलित कर आकार पाते हैं। भारतेंदु भी उन्हीं नाटककारों में से हैं जिन्होंने रंगमंच पर अमूर्त्त को मूर्त्त कर दिखाया। भारतेंदु का समय, भारतीय समाज की उस बदहाल स्थिति का समय था जब अंग्रेजी राज ने भारतीय जमीन पर अपनी स्थिति मजबूत कर रखी थी और भारतीयों की कमजोर। भारतेंदु ने उन स्थितियों की पड़ताल की, जो भारतीयों को कमजोर कर रही थीं, जिसके पीछे अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति को उन्होंने देखा। अंग्रेजों की कुनीतियों के कारण ही भारतीय, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, उद्योग-धंधों के क्षेत्र में अपने-आप को ठगा हुआ-सा महसूस कर रहा था। इस ठगे-हुए, आलस्य से युक्त केवल ईश्वर के भरोसे रहने वाले भारतीयों को शिक्षा के मंत्र देना बेमानी था। भारतेंदु के सामने यह बड़ा प्रश्न था। क्या इस बदहाल भारतीय जनता को उनके भरोसे ही छोड़ देना उचित था? नहीं, बिल्कुल नहीं, भारतेंदु की सोच भी यही थी। वे अपने भारत और भारतीयों को इस स्थिति में नहीं छोड़ सकते थे इसलिए उन्होंने नाट्य विधा को चुना, उसे हथियार बना भारतीयों को अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए तैयार कर रहे थे। लेकिन शायद उस थकी-हारी जनता में अंग्रेजों से लोहा लेने की शक्ति भरना उतना भी आसान नहीं था और ऐसे में भारतेंदु पर राजभक्त होने के आरोप भी लग रहे थे परंतु अपने लेखों में उन्होंने कहा कि 'भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किंतु वे जनसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश गांव-गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जाएँ। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार प्रसार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता।'[1]

इसी प्रकार बलिया के ददरी मेले में दिया गया उनका व्याख्यान 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' में उन्होंने कहा - 'बहुत लोग यह कहेंगे कि हमको पेट के धन्धे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करें? तुम्हारा पेट भरा है, तुमको दून की सूझती है, यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंग्लैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के काँटों को साफ किया। क्या इंग्लैंड में किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मजदूर, कोचवान आदि नहीं हैं? किसी देश

में भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किंतु वे लोग जहाँ खेत जोतते बोते हैं, वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी और कौन नयी कल या मसाला बनावें जिसमें इस खेती में आगे से दूना अन्न उपजे। विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अखबार पढ़ते हैं।'[2] भारतेंदु उन सर्जनात्मक रचनाकारों में से एक हैं, जिन्होंने युग-धर्म की पहचान कर उसे वाणी दे, अपना साहित्यिक धर्म बड़े मनोवेग से निभाया। भारतेंदु ही वह सूर्य हैं जिन्होंने भारत की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक धरोहर पर गहराते तिमिर को छिन्न-भिन्न करने का भगीरथ प्रयास किया। वस्तुतः किसी भी समाज को उसकी संस्कृति और धर्म से अलग करके नहीं देखा जा सकता। ये समाज के वे आधार स्तंभ हैं, जिन पर खड़ा समाज केवल आगे ही बढ़ता है परंतु भारतीय समाज के यही आधार स्तंभ चरमराने लगे थे और इस चरमराहट की ध्वनि साहित्यकारों के समाज में भी सुनाई दे रही थी। इसलिए भारतेंदु ने समय की नब्ज को पहचान साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया और अपने नाटकों द्वारा सुप्त, बेहाल भारतीयों में एक नई सोच का निर्माण किया।

सन् 1876 में उनके द्वारा लिखित नाटक 'भारत-दुर्दशा' एजुकेशन की फौज, स्पीचों के गोले तथा अखबारों के शब्द बनाने की ऐसी नई सोच देता है, जहाँ शिक्षा का महत्व स्वयमेव ही सामने आ जाता है। भाग्य के भरोसे रहकर भारतीय अपनी दीन-हीन अवस्था में परिवर्तन नहीं कर सकते थे, भारतेंदु यह भली-भाँति जानते थे। आवश्यकता थी कि जनता भी इस बात पर विश्वास करे अन्यथा भारत-भाग्य का कटार मारकर मर जाने का दृश्य, सच साबित हो जाए, वह दिन अब ज्यादा दूर नहीं था। अंग्रेजों की बाजारवादी सोच ने भारत को अपंग बना दिया था किंतु रेल व्यवस्था या छापेखाने की शुरुआत भी उनके ही द्वारा की गई थी, जिसे भारतीय अपने अनुसार प्रयोग करके हवा का रुख बदल सकते थे किंतु भारतीयों की छोटी सोच ने उन्हें ऐसा करने नहीं दिया। लोभ, धार्मिक कुरीतियाँ, आलस्य, व्यभिचार, पश्चिम के फैशनपरस्ती की नकल, अपव्यय, असंतोष ने भारतीयों को घेर रखा था। इनसे विलग होकर भारतीय अपने अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। ऐसे में बाल-विवाह, विधवा विवाह निषेध, अनमेल विवाह, सती प्रथा जैसी दमघोटू समाज व्यवस्था ने हर आधारस्तंभ को जड़ से हिला दिया। इस दिशा में अनेक सुधार आंदोलन चल रहे थे जो कहीं-ना-कहीं भारतेंदु की रचनात्मक धुरी बने। 'भारत-दुर्दशा' में भारतेंदु ने भारत की दुर्दशा के पीछे के कारणों की पड़ताल कर, भारतीयों के जहन में दबी उसी अंगारे को ज्वाला बनाने का प्रयास किया जो दबी हुई थी, ठंडी नहीं हुई थी। नाटक की शुरुआत ही योगी की लावणी से होती है -

'रोअहु सब मिलिके, आवहु भारत-भाई / हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।'[3]

यहाँ भारतेंदु द्वारा भारतवासियों का आह्वान सामूहिक रुदन के लिए नहीं किया जा रहा। दूरदृष्टि रखने वाले मनस्वी भारतेंदु ऐसा कर भी नहीं सकते। रोअहु या हा! हा! शब्द उस कचोट को पैदा करने के लिए हैं जो सुप्त भारतीय जनता को जगा सकें। यह वह व्यंग्योक्ति है, जो अमूर्त्त द्वन्द्व को भारतीय जनमानस में मूर्त्तता प्रदान करती है। अंग्रेजों

के समक्ष घुटने न टेकने का बल प्रदान करती है। भारतेंदु वस्तुतः भारतीयों को आईना दिखाना चाहते थे। इसलिए भारतेंदु ने भारतीयों की कमजोरियों को साक्षात प्रतीक रूप में मानवीय रूप दे हमारे सामने खड़ा कर दिया। भारतदुर्दैव अथवा सत्यानाश फौजदार को उनकी दुर्नीतियों के साथ साक्षात् मंच पर देखकर किस भारतीय के मन में टीस नहीं उठेगी? कोई यह नहीं विचार करने लगेगा कि इन्हें भारत से निकाल देने का हर संभव प्रयास हम करेंगे ही और भारतेंदु जिस द्वंद्व को हर भारतीय के जेहन में बसाना चाहते थे, वह अपने मूर्त्त रूप में सामने आने लगता है। यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि धर्म किसी भी समाज की आधारशिला है परंतु यही धर्म जब अंधकार को दूर करने की बजाय अंधकारमय वातावरण का निर्माण करने लगे तो उसमें बदलाव आवश्यक है। भारतेंदु इसी बदलाव के पक्षधर हैं। भारतेंदु देख रहे थे समाज, संस्कृति नियामक धर्म का परिवर्तित रूप, नाश करने वाला है। इसलिए सत्यानाश फौजदार के मुख से कहलवाते हैं कि धर्म ने क्या-क्या किया-

'रचि बहु बिधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए। /
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए /
जाति अनेकन करी नीच अरू ऊँच बनायो। /
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो।।
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब। /
बालकपन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब।।
X X X
अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन प्रीति छुडाय।
किए तीन तेरह सब, चौका चौका छाय।।'[4]

धार्मिक दासता ने भारतीयों को कूप-मंडूक बना दिया था। धर्मान्धता और धर्म में फैले व्यभिचार ने समाज में दमघोटू जाल बिछा दिया था। उस जाल को छिन्न-भिन्न करने की आवश्यकता थी। भारतेंदु द्वारा कथित धर्म के कृत्य की लंबी सूची दर्शकों को एक बार फिर धर्म की पुर्नव्याख्या के लिए आमंत्रित करेगी। इसी तरह संतोष भी परम धर्म है परंतु उसकी गलत व्याख्या उसे उन्नति के साधन की बजाय अवनति का साधन बना देती है। भारतीयों के साथ भी यही हुआ। उन्होंने संतोषी होने का अर्थ, निरुद्यमता को माना और काम न करने की ठान ली। सत्यानाश कहता भी है- 'अब हिंदुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा, पेंशन ही सही। रोजगार न रहा, सूद ही सही। वह भी नहीं तो घर ही का सही। 'संतोषं परमं सुखम' रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं।'[5] संतोष अर्थात् निरुद्यमता के होने से, मन और मस्तिष्क ने उद्यम के अलावा इधर-उधर झाँकना शुरू कर दिया, जिससे ईर्ष्या, लोभ, भय ने जन्म लिया और भारत के नाश की रही-सही कसर भी पूरी कर दी। भारत-दुर्दशा के पाँचवे अंक तक आते-आते भारतेंदु ने फैशन, सिफारिश, अपव्यय, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार ने किस-प्रकार

भारत की नस-नस पर कब्जा कर लिया, इसकी पूरी कलई खोल डाली। अंधकार के मुख से भारतेंदु एक बार फिर भारतीय समाज को सोचने का मौका देते हैं -

'बिना एकता बुद्धि कला के भए सबहि बिधि दीन। /
बोझ लादि कै पैर छानि कै निज सुख करहु प्रहार।।
ये रासभ से कछु नहिं कहिहैं मानहु छमा अगार।
हित अनहित पशु पंछी जाना पै ये जानहिं नाहिं।।
भूले रहत आपुने रंग मैं फँसे मूढता माहिं।
जे न सुनहिं हित, भलो करहि नहिं तिनसों आसा कौन।।
डंका दै निज सैन साजि अब करहु उतै सब गौन।।'[6]

भारतेंदु जानते थे 1857 की क्रांति के विफल हो जाने से कहीं-न-कहीं भारतीय जनता की आशा में बिखराव आया है, वह टूट चुकी है। इसलिए भारतेंदु ने अपने तरकश से कुछ ऐसे बाणों का संधान किया जो सीधे भारतीयों के हृदय में घुस एक टीस पैदा कर दें। इसलिए 'अंधकार' द्वारा कहलवायी ये पंक्तियाँ और भी सार्थक हो जाती हैं और एक नए अर्थ की भूमिका तैयार करती हैं। भारतेंदु द्वारा कहीं भी मंच पर मूर्त्त रूप में संघर्ष अथवा द्वंद्व की स्थिति नहीं दिखाई देती परंतु यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि नाटक में द्वंद्व अथवा संघर्ष है ही नहीं। यहाँ द्वन्द्व मूर्त्त न होकर अमूर्त्त रहकर भी अपना काम कर जाता है। नाटक के उद्देश्य की बात करते हुए भारतेंदु ने देश वत्सलता और समाज संस्कार की भी बात की। अपने नाटकों में उन्होंने इन्हें प्रमुखता देते हुए इसी उद्देश्य को पूरा किया। सामाजिक यथार्थ की कठोर भूमि पर उनके नाटक लिखे गए, जिनमें भारतेंदु लगातार देश-दशा को सुधारने का प्रयास करते हैं। 'भारत-दुर्दशा' में भी जब दर्शक भारत को हताश, हारा हुआ, फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग देखता है तो उसके अंतर में अंग्रेजों के प्रति द्वंद्व का सृजन होता है। भारतेंदु ने भारत के हाथ में टेकने की छड़ी पकड़ा दी है जो प्रतीक है इस बात का कि अब भारत स्वयं चलने में असमर्थ है। अब उसका स्वावलंबन समाप्त प्राय है जो दूसरों के भरोसे रहकर जीना चाहता है। उसका अंत कैसा हो सकता है इसका मूर्त्त रूप नाटक में दिखाई दे रहा है। भारत की स्थिति इतनी दयनीय हो चुकी है कि डर के मारे उसे मूर्छा आ जाती है किंतु आशा की किरण भी है। आशा आकर मूर्छित भारत को ले जाती है परंतु रोग, आलस्य, फैशन सिफारिश के रहते 'आशा' क्या कर सकती है। भारतवासियों ने अंग्रेजों से उन्नति के साधनों को तो नहीं लिया लेकिन मदिरापान का शौक लेकर अपने परिवार को नष्ट-भ्रष्ट अवश्य किया। मदिरा के मुख से भारतेंदु कहलवाते हैं -

'सरकार ही मंजूर जो मेरो होत उपाय। /
तो सब सों बढ़ि मद्य पै देती कर बैठाय।।
हमहीं को यमराज की, परम निसानी जान। /
कीर्ति खंभ भी जग गड़ी जब लौं थिर ससिभान।

राजमहल के चिह्न नहिं मिलि हैं जब इत कोय। /
तबहू बोतल टूट बहु, मिलि हैं कीरति होय।।'[7]
इसी तरह
पी प्याला छक छक आनंद से नितहि सांझ और प्रात।
झूमत चल डगमगी चाल से मारि लाज को लात।।'[8]

इस प्रकार मदिरा के मुख से कहे गए ये वचन निश्चित कर देते हैं कि किस प्रकार अंग्रेजी शासन इन साधनों का प्रयोग अपने स्वार्थ के लिए कर रहा था। समाज की यथार्थ स्थिति को मंच पर देखकर और उससे होने वाली हानि कि किस प्रकार देश को खोखला कर रही है। निश्चय ही दर्शक समाज में देश वत्सलता और समाज संस्कार को जन्म देती है। भारतेंदु द्वारा पाँचवें अंक में सात सभ्य व्यक्तियों की जो कमेटी का दृश्य है, वह भी सोचने के लिए मजबूर कर देता है कि किस प्रकार की स्थिति है पढ़े-लिखे लोगों की। किस प्रकार वे कहीं एकत्र होकर अपनी बात कहने के लिए स्वतंत्र नहीं है। एडिटर महाशय तो कहते भी हैं क्यों ना एडूकेशन की एक सेना बनाई जाए, अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे लेकिन देशी महाशय कहते हैं कि हाकिम लोग इससे नाराज हों तो? पहले देशी के मुख से भारतेंदु अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर देते हैं- 'यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एक चित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जाएगा।'[9] हर उस कदम पर जहाँ भारतेंदु, भारत की दुर्दशा का चित्र खींच रहे हैं वहीं वे उस दुर्दशा से निजात पाने के उपाय भी बता रहे हैं। सबको मिलकर ही कुछ करना होगा अन्यथा स्थितियाँ भयावह और बदतर हो सकती हैं। जिसका अंदेशा नाटक के छठे अंत में भारत भाग्य का प्रवेश करवा कर बताते हैं। भारत भाग्य आता है और मूर्छित भारत को जगाने के अनेक प्रयास करता दिखाई देता है। भारत भाग्य, भारत को उसके महिमामंडित, गौरवशाली अतीत का स्मरण करवाता है। उसकी भुजाओं के बल को याद दिलाता है, उसकी विद्या, उसकी पवित्र भूमि और नदियाँ जो उसकी स्वर्णिम संस्कृति की नियामक हैं, सभी का विस्तृत वर्णन भारतेंदु, भारत भाग्य के मुख से करवा कर प्रेक्षागृह में बैठे दर्शक समाज के सीने को गर्व से भर देते हैं किंतु वही गर्व करवाने वाला भारत भाग्य, भारत के न चेतने पर, न उठने पर रोने लगता है और कहता है - हा! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है जो जानबूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा। हा! दैव! तेरे विचित्र चरित्र हैं। जो कल राज करता था वह आज जूते में टाँका उधर लगवाता है।'[10] इसी तरह आगे रोकर कहता है 'अरे कोई नहीं जो इस समय अवलंब दे हा! अब मैं जी के क्या करूँगा? जब भारत ऐसा मित्र इस दुर्दशा में पड़ा है और मैं उसका उद्धार नहीं कर सकता तो मेरे जीने पर धिक्कार है। जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूं तो बड़ा कृतघ्न हूँ।'[11] और छाती में कटार मारकर आत्महत्या कर लेता है। इस अंत के पीछे भी भारतेंदु

उस क्रोध को प्रकट करते हैं जो सबकुछ आँखों से देखने पर भी मृतप्राय भारतीय जनता को देखकर उन्हें आता है। दर्शक के हृदय में भारत भाग्य के आत्महत्या के दृश्य को देखकर जो बेचैनी या छटपटाहट पैदा हुई होगी वही इस अमूर्त्त की सत्यता है, जिसमें भारतेंदु सफल दिखाई देते हैं भारतेंदु ने उस कारण की पड़ताल बड़ी ईमानदारी से की है जिसने भारत को अपंग बना कर दूसरों पर आश्रित कर दिया है। उस परावलम्बन, आलस्य को भारतेंदु जड़मूल नष्ट करने की सामर्थ्य, भारतीयों में भरना चाहते हैं। आलस्य, मदिरा, सिफारिश, अपव्यय, फैशन, अंधकार, रोग जैसे प्रतीकात्मक प्रतीकों के माध्यम से भारतेंदु ने जिस अमूर्त्त क्रोध, घृणा, संघर्ष को मूर्त्तता दी है, वह उनके सृजन कर्म की इतिश्री है, जहाँ तक कोई-कोई ही पहुँच पाता है। भारतेंदु की सोच, देश के प्रति उनका प्रेम, देश की उन्नति के लिए किए गए अनेक प्रयास उन्हें सहृदय, जागरूक, साहित्यकार घोषित करते हैं और हिंदी साहित्य की भिति पर ध्रुव तारे के समान चमकते हैं जो सबको राह दिखाता है।

संदर्भ :

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रन्थावली भाग-6, (सं. ओमप्रकाश सिंह, जातीय संगीत) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ 102
2. वही, (सं. ओमप्रकाश सिंह, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो), प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, 2008, पृष्ठ 67-68
3. वही, (सं. ओमप्रकाश सिंह, नाटक भारत-दुर्दशा) प्रकाशन संस्थान, दरियागंज नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 113
4. वही, पृष्ठ 118-119
5. वही, पृष्ठ 119
6. वही, पृष्ठ 127
7. वही, पृष्ठ 125
8. वही, पृष्ठ 125
9. वही, पृष्ठ 130
10. वही, पृष्ठ 136
11. वही, पृष्ठ 137

हिन्दी विभाग
माता सुंदरी महिला महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

गोरखनाथ के काव्य की भाषिक संरचना

डॉ. दिनेश साहू

भारतीय धर्म-साधना एवं साहित्य के विकास में नाथ संप्रदाय का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। नाथ संप्रदाय भारत के प्राचीनतम संप्रदायों में से एक है। गोरखनाथ इस संप्रदाय के सर्वप्रमुख नाथ माने जाते हैं। गोरखनाथ के आविर्भाव से पूर्व ही भारत में अध्यात्म की प्रधानता रही है। अध्यात्म द्वारा उस अलौकिक सत्ता से जुड़ने के प्रयास से नाथ संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। नाथों के साहित्य पर बौद्ध साहित्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। नाथों द्वारा प्रयुक्त प्रतीक, विचार एवं भाषा बौद्धों से काफी प्रभावित है।

गोरखनाथ के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद है। रांगेय राघव गोरखनाथ का रचनाकाल नवीं शताब्दी[1], आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दसवीं शताब्दी[2] और पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं। गोरखनाथ की रचानाओं की भाषिक विविधता के संदर्भ में गोरख-बानी की भूमिका में बड़थ्वाल कहते हैं- 'ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसा ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परंतु इसमें भी प्राचीन के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।'[3] यहाँ गोरख के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतैक्य न होने का मुख्य कारण उनकी रचना की भाषिक विविधता है।

गोरखनाथ की भाषा सधुक्कड़ी मानी जाती है। सधुक्कड़ी भाषा की काव्य परंपरा का प्रारंभ गोरखनाथ से ही माना जाता है। इस संबंध में डॉ. हरदेव बाहरी कहते हैं- 'गोरख, नामदेव आदि की मिली-जुली बोलियों वाली भाषा से कबीर आदि संतों की 'सधुक्कड़ी' भाषा का विकास हुआ, जिसमें पश्चिमी हिंदी का ही बाहुल्य था।'[4] गोरखनाथ की रचनाएँ अपभ्रंशोत्तर कालीन भाषा में लिखी गई हैं, जिसका विकास 10-11वीं शताब्दी के आस पास शुरू हो गया था। आज इस भाषा का स्वरूप 'राउलवेल, वर्णरत्नाकर, प्राकृत पैंगलम जैसे आदिकालीन गद्य रचनाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल द्वारा संपादित 'गोरख-बानी' गोरखनाथ की रचनाओं का संकलन है। गोरख की इन संकलित रचनाओं में आदिकालीन हिंदी का स्वरूप स्पष्ट देखा जा सकता है। रांगेय राघव गोरखनाथ की भाषा के पाँच निष्कर्ष निकालते हैं- 1. भाषा अन्य सिद्धों की कविता जैसी नहीं है। 2. संस्कृत का प्रयोग अपने भ्रष्ट रूप में हुआ है। 3. अनेक बोलियों का पुट उसमें मिश्रित है। 4. कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के भी भ्रष्ट रूप मिलते हैं। 5. भाषा सधुक्कड़ी है।'[5]

गोरखनाथ की भाषा का संबंध खड़ी बोली से जोड़ते हुए डॉ. कमल सिंह कहते हैं 'गोरखनाथ की भाषा खड़ी बोली श्रृंखला की वह आदिकालीन कड़ी है, जो हिंदी भाषा तथा साहित्य के इतिहासों में अब तक टूटी पड़ी थी। इस कड़ी के टूट जाने पर श्रृंखला की अन्य कड़ियाँ भी प्रायः बिखर ही गयी थीं और परिणामतः अब तक यही कहा जाता

रहा है कि खड़ी बोली भाषा तथा साहित्य अधिक पुराना नहीं है।'[6] स्पष्ट है कि गोरखनाथ के व्यक्तित्व की तरह गोरख की रचनाओं में भाषिक विविधता परिलक्षित होती है और इससे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनका रचना काल नवीं से ग्यारहवीं शती के बीच का रहा होगा।

भाषा भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम है। गोरखनाथ ने अपने भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति तत्कालीन लोक भाषा में की। चूँकि उन्होंने घुमक्कड़ साधु के समान देश के अनेक क्षेत्रों का भ्रमण किया और अपने विचारों एवं भावों का उपदेश आम-जन तक पहुँचाया,यहीं कारण है कि उनकी भाषाओं में विविध बोलियों के शब्द दिखाई पड़ते हैं। असमिया एवं बंगला बोलियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है-

'हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। कांम कोध न करिबा संग।

हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि आपना चीत।।'[7]

गोरखनाथ द्वारा प्रयुक्त काव्य भाषा लोक की भाषा है। लोक जीवन से जुड़े प्रतीकों का प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है। लोक प्रचलित शब्दों, उपमानों, मुहावरों एवं लाकोक्तियों का सशक्त प्रयोग इनकी काव्य रचनाओं में हुआ है। गोरख कहते हैं- हे जोगी मरो, मरना मीठा होता है। किन्तु ऐसी मौत मरो जिस मौत को मरकर गोरख ने परमतत्व के दर्शन किये।

'मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा।

तिस मरणीं मरौ, मरणीं गोरष मरि दीठा।।'[8]

गोरखनाथ की भाषा में लाकोक्तियों का भी उचित प्रयोग हुआ है। वैरागियों को लोक प्रचलित उक्तियों के माध्यम से सचेत करते हुए गोरख कहते हैं- गृहस्थ का ज्ञान, ब्यसनी का ध्यान, बूचा के कान, वेश्या का मान और बैरागी का माया में हाथ डालना अर्थात माया को चाहने वाला वैरागी इन पाँचों का एक ही साथ है। अर्थात इन पाँचों का अस्तित्व नहीं है।

'गिरही को ज्ञान अमली को ध्यान। बूचा को कान बेश्या को मान।

बैरागी अर माया स्यूं हाथ या पाँचा को एको साथ।।'[9]

रैदास की प्रसिद्ध पंक्ति 'मन चंगा तो कठौती ही गंगा' का प्रयोग गोरखनाथ की रचनाओं में पहले से ही मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार की कहावतें लोक में पहले से प्रचलित रही होंगी। गोरख कहते हैं कि हे अवधूत! मन चंगा या शुद्ध हो तो गंगा कठौती में ही है अर्थात जिसका मन साफ या शुद्ध है उसे गंगा स्नान से जो फल प्राप्त होता है वह फल मन शुद्ध होने से प्राप्त हो जाता है। माया रूपी बंधन से जो मुक्त हो जाता है उसके लिए यह संसार चेला हो जाता है।

'अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा। बांध्या मेल्हा तौ जगत्र चेला।'[10]

गोरखनाथ की काव्य रचनाओं में सबसे अधिक प्रयोग प्रतीकों का हुआ है। जहाँ वे

हठ योग साधन के लिए नवीन प्रतीकों को गढ़ते हैं। जिस साधना द्वारा ज्ञान की प्रतीति होती है, उसे 'प्रतीक कहते हैं। प्रतीक शब्द का आशय चिह्न, प्रतिमा, संकेत आदि है। साहित्य में प्रतीक शब्द का अर्थ उस वस्तु से है, जो स्वयं गोचर होते हुए भी अन्य अगोचर वस्तु, किसी भाव, विचार, सिद्धांत या आदर्श की ओर संकेत करता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा हिंदी साहित्य कोश में प्रतीक का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि 'किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान, मूर्त, दृश्य, श्रव्य प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है।'[11]

गोरखनाथ प्रतीकों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि उनकी रचनाओं में प्रतीक के लिए रूढ़ उपमान का होना आवश्यक नहीं है। उनके द्वारा प्रयोग किये गए प्रतीक नवीन हैं। उदाहरण स्वरूप- 'माया' शब्द के लिए वो 46 प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। ये सभी प्रतीक स्वयं में नवीन हैं। इन सभी प्रतीकों का रूढ़ होना असंभव है। उनके द्वारा उपयोग किये प्रतीकों में बाघ, सरप, गाय, ऊँट, माता, बिलाइया चींटी आदि प्रमुख हैं।

'एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ।
एक फूल सोलह करंडियां मालनि मन मैं हरिष न माइ।।
पगां बिहूनड़ै चोरी कीधी, चोरी ने आंणी गाई।
मछिन्द्र प्रसादे जाति गोरष बोल्या, दुझौ पाणी न ब्याई।।'[12]

यहाँ गाय (आत्मा) है जिसके नौ बछड़े (नवरंध्र) हैं पर उसकी आध्यात्मिक शक्ति का पान (ह्रास) करते हैं और पाँच (पंचेन्द्रियाँ) उसे दुहनेवाली हैं। अर्थात शरीर आत्मा की शक्तियों को विकसित नहीं होने देता। परंतु योगाभ्यास से एक फूल प्राप्त हुआ है जो सोलह करंडियों में भर रहा है। ऐसे ही जीवात्मा, जगत, मन, चेतना, ज्ञान, योगी, इड़ा, सुषुम्ना, षट्चक्र, कुण्डलिया, समाधि आदि के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग गोरखनाथ ने किया है।

गोरखनाथ अपनी काव्य रचनाओं में प्रतीकात्मक शब्द का प्रयोग अध्यात्मिक रूपक के लिए करते हैं। गोरख-बानी में आध्यात्मिक तत्वों के लिए प्रयुक्त प्रतीकों का प्रयोग स्पष्ट देखा जा सकता है। गोरखनाथ की रचनाओं को समझने में अधिक बाधक आध्यात्मिक प्रतीक एवं रूपकों का प्रयोग ही है। उपमानों और उपमेय के प्रयोग में गोरखनाथ इतना डूब जाते हैं कि उनकी रचनाओं में इसका भेद मिट जाता है। उदाहरण द्रष्टव्य है-

'बाघनी कौ निदिलै बाघनीं कौ बिंदिलै बाघनीं काया।
बाघनीं घोषि घोषि सुंदर षाये भणत गोरष राया।।'[13]

गोरखनाथ की काव्य रचनाओं का अर्थ एवं भाव आध्यात्मिक रूपकों द्वारा समझा जा सकता है। वे समाज एवं लोक की सीधी बातों को उलटबासी के रूप में कहते हैं। उलटबासी में साधारण बातों को उल्टा कहा एवं उसे आध्यात्मिक प्रतीकों से जोड़ा

जाता है।

प्रतीकों के प्रयोग के साथ गोरख बिम्ब योजना का भी उचित प्रयोग करते हैं। वैसे तो प्रतीकों के प्रयोग में बिम्ब का आना स्वाभाविक है, किन्तु गोरख अनेक स्थानों पर हठ-योग में षट्चक्र, कुंडलिनी, इड़ा, नाड़ी आदि के लिए नवीन बिम्ब स्थापित करते हैं। उदाहरण स्वरूप-

'चंद सूर दोऊ गगन बिलाधू, भईला घोर अंधारं।

पंच बाहक जब न्यन्द्रा पौढया, प्रगढ़या पौलि पगारं।।'[14]

अर्थात चन्द्रमा (चन्द्र नाड़ी) और सूरज (सूर्य नाड़ी) इन दोंनों के लोप हो जाने से घोर अंधकार छा जाता है और पाँचों इन्द्रियाँ रात में आई हैं यह जान कर सो गईं। इससे प्राकार और सिंहद्वार प्रकट हो गया अर्थात आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने का मार्ग खुल गया। यहाँ अध्यात्म की अभिव्यक्ति के लिए नवीन बिम्ब स्पष्ट देखा जा सकता है।

गोरखनाथ अपनी काव्य रचना की भाषा में स्वतंत्र दिखाई पड़ते हैं। किसी भी प्रकार का दोहराव एवं छिपाव इनकी भाषा में नहीं मिलती। भाषा प्रयोग के समय वे किसी सभ्य कवि की तरह व्यवस्थित या सुसज्जित ढंग से बात कहने की जगह निडर अक्खड़ कवि की तरह अपनी बात कहते हैं। यही अक्खड़पन की परंपरा कबीर, निराला एवं नागार्जुन आदि कवियों में देखने को मिलती है। जैसे निराला कहते हैं 'अबे सुन बे गुलाब' गोरख कहते हैं 'सुणहु रे अवधू'[15]। सपाट बयानी गोरख की भाषा की प्रमुख विशेषता रही है। हिन्दू-मुस्लिम के संदर्भ में वे कहते हैं- हिन्दू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मस्जिद में किन्तु योगी परमपद ध्यान करते हैं, जहाँ न देवालय है न मस्जिद।

'हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत।

जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरा न मसीत।'[16]

काव्य रचना में शैली का विशेष महत्त्व है। गोरख विविध शैली में अपनी बात कहते हैं। उनकी रचनाओं में संबोधन, संवाद एवं व्यंग्यात्मक आदि शैली की प्रधानता है। संबोधन शैली में रचनाकार किसी व्यक्ति विशेष को संबोधित करते हुए अपनी बात कहते हैं। गोरखनाथ अनेक स्थानों पर संबोधन शैली का प्रयोग करते हुए कभी अवधू को संबोधित करते हैं तो कभी पंडितों को। गोरख कहते हैं- हे अवधूत! शरीर के नवों द्वारों को बंद करके वायु के आने-जाने का मार्ग रोक लो। इससे चौसठों संधियों में वायु का व्यापार होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा। और साधक सिद्ध हो जाएगा जिसकी छाया नहीं पड़ती।

'अवधू नव घाटी रोकि लै बाट। बाई बणिजै चौसठि हाट।

काया पलटैअबिचल बिध। छाया बिबरजित निपजै सिध।'[17]

काव्य में संवाद शैली भी एक मुख्य प्राचीन रचना शैली है। जिसमें रचनाकार संवाद के माध्यम से अपना भाव प्रकट करता है। इसमें रचनाकार प्रश्नोत्तर के माध्यम से भी संवाद करता है। गोरखनाथ की रचनाओं में संवाद काव्य शैली का उपयोग स्पष्ट देखा

जा सकता है। इसमें वे स्वयं ही प्रश्न करते और उत्तर देते दिखाई पड़ते हैं। गोरख प्रश्न करते हैं- कौन से देश से तुम आये हो जोगी, तुम्हारी इच्छा क्या है? तुम्हारी बहन भाँजी कौन है? और कहाँ पाँव रखोगे?

कोण देस स्यूँ आये जोगी, कहा तुम्हारा भाव।

कौन तुम्हारी बहण भाणजी, कहा धरोगो पाव।।[18]

फिर स्वयं ही उत्तर देते हैं कि हम पश्चिम अर्थात माया देश से आये हैं उत्तर अर्थात ब्रह्मतत्व तक पहुँचने की इच्छा है। धरती अर्थात कुंडलिनी हमारी बहन भानजी है और पापी का हम भंजन करते हैं।

पछिम देस स्यूं आये जोगी, उतर हमारा भाव।

धरती हमारी बहण भाणजी, पापी के सिरि पाव।।[19]

गोरख समाज सुधारक के रूप में भी उपदेश देते हैं। उनकी रचनाएँ एक ओर लोक चेतना के भाव से परिपूर्ण हैं तो दूसरी ओर बाह्याडम्बरों से युद्धरत हैं। बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए गोरख की शैली कबीर की तरह कठोर और व्यंग्यात्मक हो जाती है। गोरख कहते हैं- काजी मुल्लाओं ने कुरान पढ़ा, ब्राह्मणों ने वेद, कापड़ी और सन्यासियों को तीर्थों ने भ्रम में डाले रखा है, इनमें से किसी ने भी निर्वाण पद का भेद नहीं पाया।

काजी मुलां कुरांण लगाया, ब्रह्म लगाया बेदं।

कापड़ी सन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नूबांण पद का भेवं।।'[20]

गोरख अलंकारों का समुचित प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि साम्यमूलक एवं विरोधमूलक, विभावना आदि वैषम्यमूलक दोनों प्रकार के अलंकार प्राप्त होते हैं। उपमा अलंकार का प्रयोग करते हुए गोरख मुँह एवं काया की तुलना कमल एवं सोने से करते हैं-

'कवल बदन काया करि कंचन चेतनि करौ जपमाली।

अनेक जनमा ना पातिग छुटै जंपत गोरष चवाली।।'[21]

गोरखनाथ की रचनाओं में रूपक अलंकार का प्रयोग अधिक हुआ है। वे निरंग रूपक के साथ सांग रूपक का उपयोग पर्याप्त मात्रा में करते हैं। सांग रूपक अलंकार का प्रयोग जब लोक जीवन से जुड़ी वस्तुओं के लिए एवं अप्रस्तुत भाव को ग्रहण करने के लिए किया जाता है तो वह और अधिक प्रभावशाली लगने लगता है। लोक जीवन से जुड़ी वस्तुओं के रूप में सांग रूपक अलंकार का प्रयोग यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है-

'काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सत गुर बेलि रूपांणि।

पुरिष पांणती करै धणियांणौ नीकै बालि घरि आंणी।'[22]

अर्थात हे अवधूत! कायाकुंज में तेरी खेत है जिसमें सद्गुरु ने तत्वरूपी बेल रोपी है। पुरुष रूपी किसान उसकी बहुत सिंचाई करता है, फलस्वरूप बाली रूपी सुन्दर फसल काटता और घर लाता है। वैषम्यमूलक अलंकारों में विरोधाभास अलंकार का प्रयोग भी गोरख नाथ की रचनाओं में परिलक्षित होता है। गोरख कहते हैं- गुरु लोहे के समान है,

उसकी बताई हुई योग या उक्ति ताँबे के समान है, मुहम्मद चाँदी के समान है और खुदा सोने के समान है।

'ऊँ लोहा पीर। ताँबा तकबीर।

रूपा मंहमद सोना षुदाई, दुहुँ बिचि दुनियां गोता षाई।।'[23]

अलंकारों में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग गोरख अनेक स्थानों पर करते हैं। जहाँ वर्णों की आवृत्ति एक से अधिक बार होती है उसे छेकानुप्रास कहते हैं। इसका उदाहरण द्रष्टव्य है-

'पढ़ि पढ़ि पढ़ि केटा मुवा कथि कथि कथि कहा किन्ह।

बढ़ि बढ़ि बढ़ि बहु घटि गया पारब्रह्म नहीं चीन्ह।।'[24]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गोरखनाथ के व्यक्तित्व के समान उनकी काव्य रचनाओं की भाषा में विविधताएँ हैं। भाषा प्रयोग के क्षेत्र में वे स्वतंत्र नजर आते हैं। किसी भी प्रकार का दोहराव एवं छिपाव इनकी भाषा में नहीं मिलता। भाषा प्रयोग के समय वे किसी सभ्य कवि की तरह व्यवस्थित या सुसज्जित ढंग से बात कहने की जगह निडर अक्खड़ की तरह कहते हैं। गोरखनाथ ने देश के विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण किया। यही कारण है कि उनकी भाषा में विविध क्षेत्र की भाषाओं एवं बोलियों के शब्दों का समावेश हुआ है। उनका समय अपभ्रंशोत्तर काल का है। अतः उनकी भाषा में अपभ्रंश की अंतिम अवस्था एवं आदिकालीन खड़ी बोली का स्वरूप स्पष्ट देखा जा सकता है। काव्य रचना में उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा सधुक्कड़ी का प्रारंभिक रूप है। आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों ने इसी भाषा में काव्य रचना की। गोरख अपनी रचनाओं में संबोधन, संवाद एवं व्यंग्यात्मक आदि काव्य शैलियों का उचित प्रयोग करते हैं। लोक से जुड़े होने के कारण लोकोक्तियों, मुहावरों एवं कहावतों आदि का उल्लेख इनके काव्य में अत्यधिक हुआ है। अध्यात्म एवं उलटबाँसी की प्रधानता गोरखनाथ के काव्य की प्रमुख विशेषता रही है। हठ योग की अभिव्यक्ति के लिए गोरख ने नवीन प्रतीकों को गढ़ा है। उनके द्वारा प्रयोग किए गए प्रतीक लोक से जुड़े हुए हैं। साथ ही उनकी काव्य रचनाओं में अलंकारों का समुचित प्रयोग मिलता है, इसमें उपमा, रूपक, अनुप्रास, विरोधाभास आदि अलंकारों की प्रधानता स्पष्ट देखी जा सकती है।

संदर्भ :

1. राघव रांगेय, गोरखनाथ और उनका युग, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1963, पृ.-29
2. दिवेद्वी आचार्य हजारी प्रसाद, नाथ संप्रदाय, हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहबाद,1950, पृ.-108
3. बड़थ्वाल पीताम्बरदत्त, गोरख-बानी, भूमिका, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग 1994, पृ.-20
4. बाहरी डॉ. हरदेव, हिंदी : उद्भव, विकास और रूप, किताब महल, इलाहबाद,

पृ.-167
5. राघव रांगेय, गोरखनाथ और उनका युग, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1963, पृ.-191
6. सिंह कमल, गोरखनाथः हिंदी के प्रथम कवि, कुसम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, 1998, पृ.-57
7. बड़थ्वाल संपा. पीताम्बरदत्त, गोरख-बानी, संपा. हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग 1994, गाथा संख्या- 7 पृ.-3
8. वही, गाथा संख्या- 26, पृ.-10
9. वही, गाथा संख्या- 245 पृ.-77
10. वही, गाथा संख्या- 153 पृ.-53
11. वर्मा डॉ. धीरेन्द्र, हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, वि.सं. 2020, पृ.-551
12 बड़थ्वाल, संपा. पीताम्बरदत्त, गोरख-बानी, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग 1994, पृ.-113
13. वही, पृ.-138
14. वही, पृ.-96
15. वही, गाथा संख्या- 83, पृ.-29
16. वही, गाथा संख्या- 68,पृ.-25
17. वही, गाथा संख्या- 50, पृ.-19
18. वही, गाथा संख्या- 266 पृ.-19
19. वही, गाथा संख्या- 267 पृ.-81
20. वही, गाथा संख्या- 96, पृ.-33
21. वही, पृ.-101
22. वही, पृ.-107
23. वही, गाथा संख्या- 118 पृ.-41
24. वही, गाथा संख्या- 248, पृ.-77

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, काजी रोड, गंगटोक, सिक्किम -737101

मीरा : नारी का संघर्ष

डॉ. सीमा रानी

मीरा भक्ति काल की कवयित्री थीं। उनको बचपन से ही कृष्ण-भक्ति की लगन लग गई थी। एक बार साधु ने मीरा के हठ करने पर श्री कृष्ण की प्रतिमा दे दी थी। तत्पश्चात् उनकी आसक्ति श्री कृष्ण के प्रति बढ़ती गई। 4-5 वर्ष की आयु तक मीरा की माता का स्वर्गवास हो गया। फिर वे अपने पितामह के पास मेड़ता में रहने लगीं। वहीं पर उन्होंने अपनी शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। उनका विवाह महाराणा सांगा के पुत्र कुँवर भोजराज के साथ संवत् 1573 में हुआ। विवाह के पश्चात् भी मीरा श्रीकृष्ण की मूर्ति अपने साथ ससुराल ले गईं। वैवाहिक जीवन का सुख मीरा को अधिक समय प्राप्त नहीं हुआ। संवत् 1575-1580 के मध्य इनके पति का निधन हो गया।

इस दुखद घटना ने मीरा के जीवन को परिवर्तित कर दिया। उस समय उनकी आयु मात्र 13-14 वर्ष की रही होगी। सभी ने उनसे कहा होगा कि 'अभी काफी आयु शेष है। विधवा होकर जीवन व्यतीत करने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अच्छा होगा यदि तुम सती हो जाओ।' मीरा लोगों की इन बातों से सहमत नहीं हुईं। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि 'मैं न चोरी करती हूँ और न कुमार्ग पर चलती हूँ, न अनाचार करती हूँ और न अत्याचार सहन करती हूँ, न किसी को सताती हूँ और न किसी का मन दुखाती हूँ। मैं अपने हाल में मस्त रहकर मनमोहन, नटनागर, गिरधर, गोपाल का भजन करती हूँ। मंदिर में दर्शन करती हूँ तथा भागवत कथा, लीआओं का श्रवण करती हूँ। मनुष्य जन्म चौरासी लाख योनियाँ भुगत लेने के पश्चात् मिलता है। ऐसे सुन्दर अवसर को जानबूझकर बर्बाद करके जल-मरना कहाँ की बुद्धिमानी है। मैं सती किसी भी स्थिति में नहीं होऊँगी और मनुष्य जन्म को सफल करने हेतु गिरधर का भजन करूँगी।'[1] उपरोक्त बातों में 'मीरा' का सशक्त स्त्री-स्वर सुनाई देता है। उसकी इन बातों का राणा सांगा (मीरा के ससुर) पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा। वे मीरा की बातें सुनकर प्रसन्न हुए और उनका समर्थन करते हुए कुछ जागीर सुखी जीवन के लिए भेंट स्वरूप भी प्रदान की तथा उनके रहने के लिए अलग महल की व्यवस्था की।

मीरा ने नारी के रूप में कठिन संघर्ष करते हुए जीवन यापन किया था। मीरा ने अपनी रचनाओं के माध्यम से नारी संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने तत्कालीन समाज की उन नारियों को सशक्त स्वर प्रदान किया है, जो पराधीनता की जंजीरों को तोड़कर स्वतन्त्र होना चाहती थीं। समाज में व्याप्त युगीन रुढ़िवादी परम्पराओं के खिलाफ डटकर खड़ी रहीं तथा उनका विरोध किया। मीरा उच्चकुल से सम्बन्ध रखने के बाद भी जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर आकर्षित नहीं हुईं और अपने नाते-रिश्तेदारों के छोड़ने का दुःख एवं पीड़ा भी महसूस नहीं कीं। इन्हीं तथ्यों के कारण मीरा के व्यक्तित्व को दृढ़ता प्राप्त होती है। विश्वनाथ त्रिपाठी जी का कथन है-'तुलसी,

कबीर और सूर की अपेक्षा मीरा का रचना-संसार सीमित है किन्तु वह किसी की अपेक्षा कम विश्वसनीय नहीं। इसका कारण यह है कि मीरा ने नारी जीवन के वास्तविक अनुभवों को शब्दबद्ध किया है।'[2]

मीरा के जीवन में व्याप्त कठिनाइयाँ :

मीरा का जीवन संघर्षों से भरा हुआ था। उच्च कुल की बेटी एवं पुत्रवधू होने के कारण ऐसी यातनाएँ सहनी पड़ीं जो बहुत कठिन थीं। इनकी रचनाओं में तत्कालीन स्त्री की पराधीनता और यातनाओं के साथ व्यवस्था के बन्धनों का वर्णन भी मिलता है। इनकी रचनाओं में बंधनों से आजादी के लिए जी तोड़ संघर्ष भी द्रष्टव्य है। उस युग में नारी के लिए ऐसा संघर्ष कर पाना नामुमकिन था परन्तु मीरा ने इस नामुमकिन संघर्ष के पथ पर चलने का साहस किया और अपने स्वत्व की रक्षा की। यदि मीरा को नारी विमर्श के बीज बोने वाली नारी कहा जाए तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगा। जब मीरा का विवाह हुआ तब उनकी सास कुँवरबाई ने पति की लम्बी आयु के लिए मीरा को गौरी पूजन हेतु गौरी मन्दिर ले गईं तथा मीरा से पूजन करने को कहा, परन्तु मीरा ने इसके लिए इन्कार कर दिया। उनका सीधा-सा उत्तर थाः- 'हाथी पर चढ़कर अब गधे पर नहीं चढूँगी। श्री कृष्ण को पूजकर अन्य देवी-देवताओं की पूजा नहीं करूँगीं। श्री कृष्ण की होकर अन्य की उपासना-आराधना करना व्याभिचार है। क्षत्राणी को व्याभिचार अपनाना मरने से भी बदतर है। मैं राठौर कुल में जन्मी हूँ जिनके बल, रणकौशल और शौर्य की तूती बोलती है। कैसे मैं अन्य देवी-देवताओं की पूजा कर सकती हूँ।'[3]

उपरोक्त कथन के माध्यम से मीरा के दृढ़ संकल्प का ज्ञान होता है। उन्होंने श्री कृष्ण को अपना आराध्य मानकर अन्य किसी भी देवी-देवता की पूजा नहीं की। सास-ननद ने भी उन पर तरह-तरह का दबाव डाला परन्तु मीरा अपने संकल्प पर अडिग रहीं। इसी के दण्ड स्वरूप मीरा को कुलक्षणी कहकर उनकी सास ने अलग भवन में रहने के लिए भेज दिया था। भक्तमाल की टीकाओं में इस घटना का विवरण निम्न प्रकार से मिलता है-

'पहुँची भवन सास देवी पै गबन कियो तिया और वर गँठजोरों कियो भाय के।।
देवी के पूजायवे कूँ कियो लै उपाय सास पति पै पुजाय पुन बधु पूज भाषिये।
बोली जुबिका यो माथो लाल गिरधारी हाथ और को न नवै एक वही अभिलाषिये।।'[4]

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि समाज में व्याप्त कुरीतियों को महिलाओं का समर्थन पूर्ण रूप से प्राप्त है। शायद इसी कारण समाज में रूढ़िवादिता की जड़ें और अधिक गहराई तक फैल रही हैं। मीरा ने बहुधा अपने पदों में सास-ननद द्वारा स्वयं को सताए जाने का वर्णन किया है। इन पदों से ज्ञात होता है कि संसार में 'नारी ही नारी की सबसे बड़ी दुश्मन होती है।' यह बात सास-बहू और ननद-भाभी के सम्बन्धों पर पूर्ण रूप से लागू होती है। इसके अतिरिक्त अन्य परिजन तथा समाज के लोग भी मीरा को कटु वचन बोलते थे और उनका उपहास उड़ाते थे। मीरा के एक अन्य पद में इसका वर्णन प्राप्त होता हैः-

'कड़वा बोल लोग जग बोल्या, करस्यां म्हारी हाँसी।'[5]

मीरा अपने परिजनों तथा अन्य लोगों के कथनों से आहत नहीं होतीं अपितु वे इन विरोधियों को चुनौती देती हुई कहती हैं कि कुल की मर्यादा और लोक लाज के नाम पर मैं अपनी स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होने दूँगी। वे समाज के लोगों से कहती हैं कि यदि आप लोगों को मेरी भक्ति या संकल्प से कोई आपत्ति है तो आप अपने घर में पर्दा कर लें। ये पागल अबला इस पुरुष प्रधान समाज के अत्याचार अब और नहीं सहन करेगी।

'लोकलाज कुल काण जगत की, दई बहाय जस पाणी।
अपणे घर का परदा करले, मैं अबला बौराणी।'[6]

मीरा समाज के लोगों के समक्ष अडिग खड़ी थीं। जब उन्होंने सती होने से इन्कार कर दिया था तब पितृ सत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को गहरा झटका लगा था क्योंकि उस सत्ता में स्त्री का अस्तित्व केवल पुरुष के साथ ही माना जाता था। उस समय भी मीरा ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में समानता की माँग की। वे चाहती थीं कि जैसे पुरुष अपना कोई भी निर्णय लेने में स्वतन्त्र होता है, वैसी ही स्वतन्त्रता नारी को भी प्राप्त होनी चाहिए। किसी भी स्त्री पर पुरुष (पिता, पुत्र, पति, भाई) का अधिपत्य समाप्त हो जाए। इसके लिए मीरा को बहुत से लांछन तथा यातनाएँ सहन करनी पड़ीं परन्तु वे अपने पथ पर निर्भय और निडर बनकर कृष्ण भक्ति के साथ अडिग खड़ी रहीं। सामन्ती समाज ने भी उन्हें बदनाम करते हुए अनेक लांछन लगाए जिनका मीरा ने कोई दबाव नहीं माना तथा समाज और परिवार द्वारा बनाई गई लक्ष्मण रेखा (नारी की मर्यादा की रेखा) को पार कर अपने तथा अन्य नारियों के लिए संघर्ष करते हुए लोगों का मुख निम्न प्रकार से बन्द कियाः-

'राणा जी म्हाने या बदनामी लगे मीठी।
कोई निंदो कोई बिन्दो, मैं चलूंगी चाल अपूठी'[7]

मीरा द्वारा समाज के बनाए नियम-कानून तोड़ने से समाज के नामी लोगों तो आपत्ति होनी स्वाभाविक थी। मध्यकालीन समाज में नारी द्वारा समस्त बंधन तोड़ देना उस समय के लोगों के लिए असहनीय था। लेकिन मीरा ने तत्कालीन समाज में भी पर्दा प्रथा का विरोध करने का साहस किया और उससे मुक्ति पाई। मीरा ने समाज में अपनी निन्दा की परवाह नहीं की। सास-ननद उनसे लड़ाई करतीं और जली-कटी बातें कहती हैं। ताले में बंद करके मीरा के घर से बाहर आने जाने पर रोक लगा देती हैं। यथा :

'हेरी म्हासूं हरि बिन रह्यो न जाय
सास लड़े मेरी नन्द खिजावै, राणा रह्या रिसाय।
पहरे भी राख्यों चौकी बिठार्यो, तालों दियो जड़ाय।।'[8]

आज के समाज में भी किसी नारी को अपने मन के प्रेम-भावों को व्यक्त करने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता है लेकिन मीरा ने मध्यकालीन समाज में भी श्री कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त किया तथा उनकी पत्नी बनना स्वीकार किया। उसका संसार से मोहभंग हो गया था। उन्होंने श्री कृष्ण के अलौकिक रूप से अथाह प्रेम किया और

इसे पूर्ण रूप से स्वीकार भी किया। श्री कृष्ण के प्रेम में वे इतनी रम गई थीं कि उस समय के नियम-कानूनों एवं राज परिवार की लोक मर्यादा को बिसरा कर साधु संतों के साथ भजन कीर्तन करने लगीं। पति की मृत्यु के पश्चात् मीरा पूर्ण रूप से श्री कृष्ण को समर्पित हो गई थीं। उस युग में मीरा एक ऐसी नारी के रूप में उभरकर सामने आईं जिसने सामाजिक रूढ़ियों और पारिवारिक मान्यताओं की आहुति दे दी थी। मीरा ने अपने पैरों में बँधी बंधनों की बेड़ियों को पूरी तरह तोड़ दिया था और अपनी आजादी का पथ स्वयं निर्धारित किया था। पति की मृत्यु के पश्चात् वे श्री कृष्ण की भक्ति में रमकर साधुओं के साथ बैठकर भजन-कीर्तन का आनन्द लेते हुए जीवन व्यतीत करने लगी थीं। मीरा का कथन है-

'म्हारा री गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई
जा के सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई
छाँड़ि दयी कुल की कानि, कहा करि है कोई?
संतन ढिग बैठि-बैठि, लोक-लाज खोयी
अँसुवन जल सींचि-सींचि, प्रेम-बेलि बोयी
अब त बेलि फैलि गयी, आणंद-फल होयी।'[9]

जब मीरा पारलौकिक प्रेम में पूर्ण रूप से रँगकर कृष्णमय हो गईं तो वे इस संसार को निस्सार समझने लगीं। तब राणा विक्रमादित्य ने उन्हें अत्यधिक कष्ट दिए। इसी के साथ मीरा का कठिन संघर्ष आरम्भ हो गया। राज घराने से संबंधित होने के कारण राजकीय रोष एवं प्रतिष्ठा को हथियार बनाकर राणा ने उनके पैरों में बेड़ियाँ डालने का प्रयास किया। मीरा के प्राणों में भी संघर्ष की अपराजेय शक्ति विद्यमान थी। वे कहीं से झुकीं नहीं तथा अनैतिकता के साथ समझौता भी नहीं किया। वे अपनों द्वारा कष्ट दिए जाने पर भी दुखी और आहत नहीं हुईं। उनका रोष उन लोगों के प्रति था, जिन्होंने उनके सरल जीवन पथ को नीति एवं प्रतिष्ठा के नाम पर अत्यधिक जटिल बना दिया था। मीरा ने लोक जीवन के साथ तारतम्य स्थापित करने के लिए अनेक सामन्तीय मूल्यों को ठुकराया-

'कहता बोले लोक जग बोल्या, करस्यां मीरा हाँसी।
मीरा हरि के हाथ बिकानी, जन-जनम री दासी।।'[10]

बात न मानने पर राणा ने मीरा को मारने की योजना बना ली। उन्होंने मीरा को मारने के भिन्न-भिन्न प्रकार के षड्यन्त्र रचे। विक्रमादित्य को मीरा का साधु-सन्तों के साथ मिलना अच्छा नहीं लगता था। इसलिए उन्होंने मीरा के भवन के बाहर पहरा बिठा दिया तथा किसी को भी भीतर-बाहर आने-जाने से मनाकर दिया गया। यह सब कुछ वे मीरा को कृष्ण-भक्ति से विमुख करने के लिए कर रहे थे। उन्होंने मीरा को मारने के लिए विष का प्याला तक भेजा जिसे मीरा हरिनाम का स्मरण करके पी गईं-

'विष को प्यालो राणा जी मेल्यो, द्यो मेड़तणी नैं पाय।
कर चरणामृत पी गई रे, गुण गोविंद रा गाय।'[11]

इसके पश्चात् मीरा को मारने हेतु विषधर भेजा गया क्योंकि राणा के मन-मस्तिष्क में यह बात घर कर गई थी कि मीरा को मारना उसकी प्रजा के हित में है। कहीं अन्य जन भी मीरा जैसा व्यवहार करके उसके विरुद्ध न खड़े हो जाएँ और मीरा का अनुसरण करने लग जाएँ। मीरा को मारने का उनका प्रथम उपाय असफल रहा तो उन्होंने दूसरे प्रयोग के लिए भंयकर विषधर पिटारे में डालकर मीरा के पास भेज दिया। इसी संदर्भ में एक पद चर्चित है-

'साँप पिटारा राणा भेज्या, मीरा हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गइ पाय।।'[12]

इसके पश्चात् राणा ने जहर से बुझे शूलों से निर्मित एक शैय्या मीरा के महल में भेजी और मीरा को इस शैय्या पर सुलाने के लिए अपने अनुचरों से कहा। इसी संदर्भ में एक निम्न पद है-

'सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यौं मीरा सुलाय।
साँझ भई मीरा सोवण लागी, मानौं फूल बिछाय।।'[13]

राणा श्री कृष्ण की भक्ति की शक्ति से अनभिज्ञ थे। वे नहीं जानते थे कि जिसके रक्षक श्री कृष्ण हैं, उसका वे कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। राणा ने इसके पश्चात् भी मीरा की भक्ति को खण्डित करने के लिए विषयी पुरुष को साधु भेष में उनके पास भेजा, मीरां के महल की चौकीदारी भी करवाई तथा मीरा को जल समाधि लेने के लिए प्रेरित किया परन्तु अपनी अगाध भक्ति तथा संघर्ष शाक्ति के द्वारा मीरा इन सभी से पार पा गईं लेकिन स्व-रक्षा हेतु मेवाड़ छोड़ने का निश्चय कर लिया। मीरा की दशा जब उनके बड़े पिता ने देखी तो उन्हें मेड़ता बुला लिया और फिर कभी मीरा चितौड़ वापस नहीं गईं। अपने पीहर आकर मीरा पूरी तरह कृष्ण भक्ति में लीन हो गईं। कुछ समय पश्चात् मीरा ने अपना घर भी छोड़ दिया। उनके जीवन का उद्देश्य कृष्ण की भक्ति में लीन होकर अपने जीवन को पूर्णतः अपने तरीके से जीना था। राणा के अधीन रहकर मीरा थक चुकी थीं। गृह त्याग करके मीरा स्त्री की पराधीनता को चुनौती देना चाहती थीं। मीरा के समय में नारी न तो सन्यासी बन सकती थी और न ही तीर्थ आदि के लिए कहीं भी जा सकती थी। अपने समय में मीरा ने नारी के अधिकारों के लिए आवाज उठाई और पहली बार रूढ़ियों पर आघात करने का साहस किया। उस समय भक्ति पर भी पुरुषों का वर्चस्व था। गृह-त्याग करने के पश्चात् भी मीरा को कठिनतम संघर्ष का सामना करना पड़ा। उस समय के पुरुष भक्त नारी को माया मानते थे, जो किसी को भी भक्ति या ब्रह्मचर्य के पथ से विमुख कर सकती थी परन्तु मीरा की भक्ति की शक्ति ने यहाँ भी विजय प्राप्त की। वे साधु-सन्तों के साथ भजन-कीर्तन करने लगीं। वृंदावन में जब चैतन्य महाप्रभु के शिष्य ने मीरा को स्त्री कहकर उनका उपहास किया तो मीरा ने उन्हें सन्देश भेजा-'कि वृंदावन में कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष है, बाकी सब तो स्त्री हैं।' इसका महाप्रभु जी के शिष्य के पास कोई उत्तर नहीं था। वस्तुतः वे निरुत्तर होकर स्वयं मीरा से मिलने के

लिए पहुँच गए।

मीराबाई ने मध्यकालीन समय में राजसत्ता एवं पुरुष-प्रधान समाज के विरुद्ध जाने का साहस किया और समाज में व्याप्त रूढ़ियों, बुराइयों, वर्जनाओं को तोड़ते हुए उनका विरोध किया। वर्तमान नारी विमर्श के परिप्रेक्ष्य में मीरा के काव्य में नारी की आशाओं, इच्छाओं और व्यथाओं का स्वर स्पष्ट द्रष्टव्य है। इसके साथ-साथ नारी के विद्रोह का स्वर भी ध्वनित हुआ है। मीरा ने अपनों द्वारा दी गई यातनाओं और उपेक्षाओं को व्यक्त करते हुए समाज की प्रताड़ित उस प्रत्येक स्त्री के शोषण को व्यक्त किया है। मीरा की आप बीती जग बीती बन गयी है। मीरा का संघर्ष उस प्रत्येक स्त्री का संघर्ष बन गया है, जो आज भी पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए संघर्ष कर रही है। मीरा ने नारी को पुरूष वर्चस्ववादी पितृ-सत्ता के उत्पीड़न, अपमान, घरेलू हिंसा तथा सांसारिक लोक-लाज त्यागकर अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने को प्रेरित करते हुए दृढ़ संकल्प के साथ अपने पथ पर अडिग रहने की प्रेरणा दी है।

संदर्भ :

1. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल, मीराबाईः प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली, पृष्ठ-37, भारतीय विद्या मन्दिर, शोध प्रतिष्ठान
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, मीरा काकाव्य, वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्र. सं.1989, पृष्ठ-69
3. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल, मीराबाईः प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली, पृष्ठ-43, भारतीय विद्या मन्दिर, शोध प्रतिष्ठान
4. भक्तिरस बोध नी टीका, प्रियादास कृत
5. विश्वनाथ त्रिपाठी, मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्र. सं.1989, पृष्ठ-104
6. वही, पृष्ठ-105
7. वही, पृष्ठ-104
8. सुदर्शन चोपड़ा, भक्त कवयित्रीः मीरा, हिन्दी पॉकेट बुक्स दिल्ली, पृष्ठ-115
9. आरोह भाग-1, सुपर पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली, पृष्ठ-91, प्रथम पद
10. डॉ. शेखर कुमार, मीरा का काव्यऔर भक्ति आन्दोलन, संजय प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-106
11. मीरा वृहत पदावली, पदांक 508 का अंश
12. मीरा वृहत पदावली, पदांक 430 का अंश
13. मीरा वृहत पदावली भाग-1, पदांक 430 का अंश

हाउस नम्बर-2337/38,सेक्टर-1,
हाउसिंग बॉर्ड कॉलोनी,
रोहतक-124001(हरियाणा)

गुप्त जी के काव्य में व्याप्त पर्यावरण संरक्षण

डॉ. मिथिलेश शर्मा

हिन्दी काव्य जगत् में राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त जी का आविर्भाव उस समय हुआ था जब देश राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के अहिंसात्मक नेतृत्व में पराधीनता के विरुद्ध स्वाधीनता की लड़ाई लड़ रहा था। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, जैसे अराजनैतिक संगठन, सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण का बिगुल बजा रहे थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी खड़ी बोली के विकास में भरसक योगदान प्रदान कर रहे थे। उसी समय गुप्त जी अपनी अलौकिक काव्य प्रतिभा के कारण सहज ही देश की तत्कालीन गतिविधियों में अपनी सक्रियता निभा रहे थे। गुप्त जी सच्चे अर्थों में शुद्ध चेतना और जन जागृति के कवि हैं। सांस्कृतिक संवेदना उनके काव्य की अपनी अद्भुत पहचान है। उन्होंने अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति में काव्य की संवेदना के स्तर पर सर्वसुलभ, सर्वहिताय, सामंजस्य स्थापित किया है।

आज पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न समस्त विश्व के सामने मुँह बाये खड़ा है। कारण कि हमारी चेतना के इर्द-गिर्द जो वातावरण है, भूमि, जल, अग्नि, वायु आकाश आदि का जो परिवेश है, वह दूषित होता जा रहा है। परिणाम स्वरूप प्रदूषण का प्राणघाती, सर्वभक्षी एक नया संकट उत्पन्न हो गया है। इस संकट का मूल कारण हमारी स्वार्थ वृत्ति है। हमने प्रकृति का विवेक पूर्वक सदुपयोग न कर अपनी अनंत विषय कामनाओं और अतृप्त काम भोगों की तृप्ति के लिए उसका शोषण शुरू कर दिया है।

मैथिलीशरण गुप्त जी ने इस भयावह स्थिति को गहराई से समझा और अपने काव्य में इसे अभिव्यक्ति प्रदान की। यह सच है कि गुप्त जी का काव्य मूलतः प्रकृतिपरक काव्य नहीं है किन्तु वे प्रकृति को मानवीय संवेदनाओं के परिप्रेक्ष्य में ही चित्रित करते हैं। पर जहाँ भी वे भूमि, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, आकाश आदि भौतिक तत्वों का चित्रण करते हैं, वहाँ वे इनकी सुंदरता पर मुग्ध होते हैं, इनके सर्वजन हितकारी उपयोग पर बल देते हैं। भूमि सदा से पवित्र मानी जाती रही है, वह हमारी माँ है और हम सब उसके पुत्र हैं। अपनी उर्वर शक्ति से वह हम सबका पालन-पोषण करती है। गुप्त जी ने इसी भूमि की भारत माता के रूप में वंदना की है और वे इसके प्राकृतिक सौंदर्य पर मुग्ध रहे हैं। मातृभूमि कविता में गुप्त जी कहते हैं-

'नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है। / सूर्य चंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है॥
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं। / बंदीजन खग-वृंद, शेषफन सिंहासन है॥
करते अभिषेक पयोद है, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की' ॥[2]

भारतवर्ष को समस्त सृष्टि का गौरव कहकर उसकी महिमा से अभिभूत होते हुए गुप्त जी भारत की श्रेष्ठता कविता में भारत को श्रेष्ठतम बतलाते हुए उसके अनुपम सौन्दर्य से

प्रभावित होते हुए कहते हैं -

'भू लोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीलास्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक, किस देश का उत्कर्ष है।
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है॥'[3]

पंचवटी (खंडकाव्य) में उन्होंने प्रकृति को मानवीय रूप में चित्रित किया है। गुप्त जी प्रकृति की प्रातः व सायंकालीन लीला को सुख-शांति और विश्राम की क्रीड़ा-स्थली मानते हैं। विविध चेष्टाएँ करती हुई प्रकृति रात्रि में सबके सो जाने पर सम्पूर्ण पृथ्वी पर ओस की बूँद रूपी मोती बिखेर देती है और भोर की बेला में सूर्य की रश्मियाँ उन मोतियों को बटोर लेती हैं। साथ ही, सूर्य पुनः इन मोतियों को आरामदायिनी संध्या की झोली में भर देता है, जो अपने केशों में तारों के रूप में गूँथ लेती है। इस दृश्य को कवि ने पृथ्वी, किरण और संध्या तीनों का मानवीकरण करते हुए, सुंदर शब्दों में वर्णित किया है -

'है बिखेर देती वसुंधरा, मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको, सदा सवेरा होने पर।
और विराम दायिनी अपनी, संध्या को दे जाता है।
शून्य-श्याम तनु जिससे उसका, नया रूप झलकता है॥'[4]

भूमि की तरह जल भी जीवन को शुद्ध और मधुर बनाता है। जल जीवन का परम आनंद है, जो प्रेम और करुणा की तरलता से जीवनरूपी बगीचे को सींचकर सहज और सरल बना देता है। साकेत की उर्मिला अपने दुःख से सबको दुःखी नहीं करती। वह बादल और नदियों को भी आहत नहीं करती बल्कि अपने जल तत्व को सब में वितरित करती हुई, हर्षित होती हुई कहती है-

'बरस घटा बरस मैं संग, सरसै अवनी के सब अंग॥
मिले मुझे भी कभी उमंग, सबके साथ सयानी,
मेरी ही पृथ्वी का पानी॥'[5]

इसी प्रकार गुप्त जी की उर्मिला गंगा की तरंगों के साथ आनंदोल्लास का अनुभव करते हुए आनंद से झूम उठती है और कहती है कि-

'जय गंगे, आनंद तरंगे, कलरवे, / अमल अंचले, पुण्य जले, दिव संभवे!
सरस रहे यह भारत-भूमि तुमसे सदा, / हम सबकी तुम एक चलाचल संपदा'॥[6]

मानव जीवन को सफल और साकार बनाने में गुप्त जी ने समय-समय पर प्रकृति के अनेक रूपों का सहारा लिया है। साकेत में जिस समय उर्मिला के विरह को दर्शाया है, उस समय शरद ऋतु में दिखाई देने वाले खंजन पक्षी से तुलना की है। उसे देखकर विरहिणी उर्मिला को अपने प्रियतम का आभास होने लगता है। वह सोचती है कि जब उसके प्रियतम ने अपने नेत्र इस ओर फेर लिए हैं तो संभवतः उनके दर्शनों का लाभ अतिशीघ्र ही प्राप्त होगा। यह सोचकर उर्मिला के हृदय में आनंद की लहरें हिलोर भरती

हैं, जिसकी अनुभूति इन पंक्तियों में देखी जा सकती है -

'निरख सखी, ये खंजन आए,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,

x x x

फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये!
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये'![7]

साकेत में कवि ने विविध स्थलों पर अनेक पक्षियों के माध्यम से उर्मिला के दुःख की अनुभूति को अभिव्यंजित किया है। जैसे कभी कोयल को सांत्वना देते हुए तो कभी चक्रवाक पक्षी को समझाते हुए, कभी कली को शिक्षा देते हुए तो कभी पुष्प और लताओं को प्रोत्साहन का पाठ पढ़ाते हुए और कहीं-कहीं पर तो शिशिर के समय मक्खी-मकड़ी के प्रति भी कवि ने उर्मिला की संवेदना को दृश्यमान किया है -

'शिशिर, न फिर गिरि-वन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नंदन में,
कितना कंपन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।
सखी कह रही, पांडुरता का क्या अभाव आनन में?

x x x

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,
जा लगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान-दशा'।[8]

गुप्त जी का 'साकेत' प्रकृति के तमाम उपमानों से चित्रित एक ऐसी सुंदर रचना है जिसमें उन्होंने प्रकृति और मनुष्य का सामंजस्य स्थापित कर, काव्य-जगत में एक अनोखी प्रेरणा को जन्म दिया है। प्रकृति के सुंदर रूप तो काव्य-जगत में सदैव देखने को मिलते हैं पर मानव का उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर एक रूप होना बहुत ही कम दिखाई देता है जो गुप्त जी के काव्य में है। गुप्त जी ने प्रकृति के समरूप का भी सुंदर वर्णन किया है ताकि मनुष्य में सभी को वितरित करने की भावना का उदय हो। संसार के सभी जनों में खुशहाली तभी आ सकती है जब प्रकृति द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का समान बँटवारा हो। आकाश, वृक्ष, नदियाँ सभी पृथ्वी के प्राणियों पर उपकार करते हैं और बदले में कोई इच्छा नहीं रखते। यदि, मनुष्य में भी यह भावना व्याप्त हो जाए तो संसार सुखमय हो जाए। वे कहते हैं -

'पर नद को अवकाश कहाँ है इसका? / सोचो, जीवन है श्लाघ्य स्वार्थमय किसका?/
करते हैं जब उपकार किसी का हम कुछ, / होता है तब संतोष हमें क्या कम कुछ?/
ऐसा ही नद के लिए मानते हैं हम, / अपना जैसा ही उसे जानते हैं हम। /
जब निष्फल था यदि तृषा न हममें होती, / है वही उगाता अन्न, चुगाता मोती।/

निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी, / हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि-बलिदानी'।[9]

अग्नि तत्व शुद्धता व पवित्रता का प्रतीक है। वह अपने संपर्क से समस्त विकारों को जलाकर निर्विकार कर देता है। जिस प्रकारअग्नि में ही वह शक्ति होती है कि सोने को तपाकर शुद्ध बनाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार के विकारों को सूर्य अपनी ऊष्मा से तपाकर नष्ट कर देता है और नैसर्गिक वातावरण को शुद्ध और स्वस्थ बना देता है। अग्नि तत्व तपस्वी है, तपोयोगी भी है। उसके संपर्क से मानव के समस्त विकार मानसिक, भौतिक, आत्मिक नष्ट हो जाते हैं। 'अग्नि- परीक्षा' देकर अपने आप को निर्दोष सिद्ध करने की परंपरा हमारे समाज में अति प्राचीन रही है। इसी आधार को केन्द्र में रखकर गुप्त जी ने सूर्य की किरणों को तपस्वी की भाँति निष्कलंकित बतलाते हुए कहा है कि -

'चंचल भी किरणों का, / चरित्र क्या ही पवित्र है भोला, /
देकर साख उन्होंने /उठा लिया लाल-लाल वह गोला। /
तपोयोगि, आओ तुम्हीं, सब खेतों के सार, /
कूड़ा-कर्कट हो जहाँ करो जलाकर छार'।[10]

अग्नि के समान वायु भी मानव को प्राण-दान देती है। वायु के अभाव में मनुष्य का जीवन संभव नहीं। वायु की शुद्धता जीवन के लिए परम आवश्यक है। हम सभी इस बात से भली-भाँति परिचित हैं कि दो मिनट के लिए भी शुद्ध वायु न मिले तो हम सबका जीवन संकट में पड़ जाता है। साकेत की उर्मिला अपने दुःख से वायु को दुःखी करना नहीं चाहती। वह मलयानिल को संबोधित करते हुए कहती है -

'जा मलयानिल, लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप' ![11]

भूमि, जल, अग्नि और वायु इन सबको विश्राम देता है - आकाश जो अनंत और असीम है। आकाश शुद्धता का स्वरूप है, अनंत होते हुए भी सभी को समान अवकाश देता है। वह अपने लिए संचित करके कुछ नहीं रखता। उसकी उदारता ही उसे महान बनाती है। गुप्त जी के राम आकाश तत्व के ही प्रतीक हैं। वह अपने लिए सँजोकर कुछ नहीं रखते बल्कि दूसरों को सर्वस्व देने के लिए ही अवतरित होते हैं। वह तप, त्याग और आदर्श की मूर्ति हैं। साकेत के राम आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में विश्वास न करके परंपरावादी व्यवस्था के समर्थक हैं। दूसरों के दुःखों को दूर करने मैं उन्हें आनंद का अनुभव होता है। प्रकृति के तमाम उपमानों के माध्यम से गुप्त जी के राम अपने जीवन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -

'मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,/ जो विवश, विकल,बल-हीन, दीन शापित हैं।/
हो जायँ अभय वे जिन्हें की भय भासित हैं,/जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित हैं।
मैं आया, जिसमें बनी रहे मर्यादा, /बच जाय प्रलय से, मिटें न जीवन सादा। /
सुख देने आया, दुःख झेलने आया, / गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया।'[12]

कृषक का पूरा जीवन मानो प्रकृति के संक्षरण के लिए ही होता है। वह प्रकृति का

शोषण नहीं दोहन करता है। जब सारी दुनिया सो रही होती है वह उस समय कठिन परिश्रम से खेत-खलिहानों को सींच रहा होता है। वह अपने श्रम पर जीवन जीता है फिर भी अपने द्वारा उत्पन्न पैदावार को अपने तक सीमित न रखकर, सबके उपयोग के लिए उसका वितरण करता है। उसका दूसरों के प्रति सेवा-भाव अनुकरणीय है। पर्यावरण को शुद्ध रखने में उसका महान योगदान है। राम का वन-गमन भी एक प्रकार से पर्यावरण को शुद्ध व संतुलित बनाने की ही यात्रा है। 'साकेत' में राम अपने त्याग, सेवा व मैत्री भाव से विकृति को नष्ट कर, सौहार्द्र प्रेम का बिगुल बजाते नजर आते हैं। राम का अपनी प्रजा के साथ संबंध शासक और शासित का नहीं है बल्कि प्रजा तो उनकी प्रकृति है। दोनों एक-दूसरे के ऋणी हैं, सुख-दुःख के सहभागी हैं। गुप्त जी राम के माध्यम से कहते हैं -

'सोचो तुम संबंध हमारा नित्य का, / जब से भव में उदय आदि आदित्य का।/
प्रजा नहीं, तुम प्रकृति हमारी बन गये,/ दोनों के सुख-दुःख एक में सन गये'।'[13]

गुप्त जी की उर्मिला पारंपरिक विरहिणी नायिका नहीं हैं। आधुनिक संदर्भ में देखें तो वह पर्यावरण की संरक्षिका है। वह अपने दुःख से दुःखी होकर पर्यावरण के किसी भी अंश को कोसती नहीं है और न ही ईर्ष्या करती है। वह कोयल, मकड़ी सभी जीव-जंतुओं के प्रति सहानुभूति की भावना रखती है। यहाँ तक कि पीले पत्तों को भी अपने आँचल में भरकर, उनके प्रति अपनी संवेदना को व्यक्त करती हुई कहती है -

'पाऊँ मैं तुम्हें आज, तुम मुझको पाओ, / ले लूँ अंचल पसार, पीतपत्र, आओ। /
फूल और फल-निमित्त, / बलि देकर स्वरस-चित्त, /
लेकर निश्चिंत चित्त, / उड़ न हाय! जाओ, /
लूँ मैं अंचल पसार, पीत-पत्र, आओ'।[14]

सच तो यह है कि कवि ने उर्मिला के माध्यम से एक ऐसे पात्र की रचना की है जिसकी अन्तः प्रकृति पूर्णतः निर्मल और निर्विकार है। उसे अपने चारों ओर प्रकृति प्रसन्न मुद्रा में दिखाई देती है। खिलते कमल, हँसता चंद्रमा, संसार को दीप्तमान करता सूर्य ये सब उसे सुखद अनुभूति कराते हैं। इसी कारण, उर्मिला की वेदना, सिर्फ उसकी वेदना नहीं रह जाती। वह कह उठती है -

वेदने, तू भी भली बनी! / पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी। /
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर- कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख अनी![15]

आज, ऐसा प्रतीत होता है कि स्वार्थ के वशीभूत होकर सभी शक्तियाँ कैकयी के रूप में परिवर्तित हो गयी हैं। इसी कारण, जीवन से सुख- शांति रूपी राम वन चले गए हैं। जब तक कैकयी राम के लिए चित्रकूट जाकर स्वयं पद, प्रतिष्ठा और स्वार्थ से तिलांजलि देकर प्रायश्चित नहीं करेगी तब तक पर्यावरण की सुरक्षा पूर्ण रूपेण असंभव है। पर्यावरण संरक्षण के लिए आवश्यक है - लोभ और काम जैसी वृत्तियों का शमन करें, त्याग व

प्रेम जैसे उच्च भावों को जन-जन तक पहुँचाएँ तभी पर्यावरण को शुद्ध रूप में सुरक्षित रखा जा सकता है। इसके लिए एक उर्मिला नहीं बल्कि हम सबको उर्मिला बनना होगा और उर्मिला के शब्दों को ही दुहराना होगा -

'सींचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ हरी।
क्रीड़ा-कानन शैल यंत्र जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे' ?[16]

भारतीय साहित्य में प्रकृति वर्णन का इतिहास बहुत पुराना है। हिंदी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल में भी प्रेम के आलंबन और उद्दीपन हेतु प्रकृति के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से उसके महत्व को प्रतिपादित किया गया। आधुनिक काल में ठाकुर जगमोहन सिंह अकेले प्रकृति की उपासना करते हुए द्विवेदी युग के लिए आधार भूमि तैयार करते हैं। परिणामतः मैथिलीशरण गुप्त अपने काव्य में प्राकृतिक उपादानों से पर्यावरणीय बहस को जन्म देते हैं। ग्लोबल वार्मिंग से उपजी जिन समस्याओं को हम वर्तमान में देख रहे हैं, इनकी शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी में ही मशीनों के आग मन से हो चुकी थी। ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन से प्रकृति का क्षरण, कल-कारखानों और शहरीकरण के विस्तार सेवनों की कटाई और उसके दुष्परिणाम को मैथिलीशरण गुप्त जैसे दूरदर्शी रचनाकार अपनी खुली आँखों से देख रहे थे। अतः वे प्राकृतिक उपादानों के सौंदर्य बखान से मानव जीवन में प्रकृति केमहत्व को समझाने के लिए प्रकृति रक्षा हेतु जागरूकता फैलाने का कार्य साकेत महाकाव्य और पंचवटी जैसे खण्ड काव्य से करते हैं। डॉ. नगेन्द्र द्वारा द्विवेदी युग को दिया गया नाम जागरण सुधारकाल को पर्यावरणीय जागरण के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

संदर्भ :

1. https://archive.org/stream/in.ernet.dli.2015.348445/2015.348445.Aanaya-Mamgan_djvu.txt
2. http://kavitakosh.org
3. https://www.hindi-kavita.com/HindiBharatBhartiGupt.php
4. गुप्त मैथिलीशरण, पंचवटी, साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२७ वि, पृ. 8
5. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 292
6. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (पंचम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ.145
7. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ.299
8. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८

वि, पृ.309-310
9. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (अष्टम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 233
10. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 285-286
11. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 313
12. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (अष्टम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 234
13. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (पंचम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 129
14. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 311
15. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 280
16. गुप्त मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, २०२८ वि, पृ. 270

रामानंद रामरस माते, कहहि कबीर हम कहि कहि थाके...

डॉ. अशोक कुमार मीणा

हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वामी रामानंद की उपस्थिति जितनी गरिमामयी है, ऐतिहासिक दृष्टि से उतनी ही धुँधली भी। किंवदन्तियों एंव मिथकों ने भक्ति आन्दोलन में उनके योगदान को पूर्णरूप से प्रकट नहीं होने दिया है। उन्होंने भक्ति आंदोलन में उस नींव के पत्थर की भूमिका निभाई है, जिस पर हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ भक्ति साहित्य रूपी प्रासाद निर्मित हुआ है। हिन्दी भाषा की उन्नति तथा रामभक्ति साहित्य का मूल उत्स स्वामी रामानंद एवं उनके द्वारा प्रवर्तित रामानंदी सम्प्रदाय ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। रामानंदी सम्प्रदाय ने मध्यकालीन धर्म साधना के विविध मत-मतांतरों में जनमानस को दिग्भ्रमित होने के बजाय एक समन्वयकारी तथा युगानुकूल भक्ति मार्ग से अवगत कराया। इस सम्प्रदाय ने भारतीय इतिहास में समाज सुधार एवं धर्म सुधार आंदोलन का शंखनाद करते हुए भक्ति जैसी रूढ़िग्रस्त परंपरा को प्रगतिशील चिंतनधारा से संम्पृक्त किया है। रामानंदी सम्प्रदाय ने देवदर्शन से भी वंचित कर दिये गए शूद्रों एवं स्त्रियों को भी अपने भक्ति मार्ग का सहयात्री बनाया तथा ईश्वर को वर्ग सापेक्ष के बजाय सही अर्थों में समाज सापेक्ष स्थिति प्रदान की।

रामानंदी सम्प्रदाय ने यूरोप के धर्म सुधार आंदोलन से भी पूर्व भारत में धर्म को जाति बन्धनों से मुक्त करने का श्रीगणेश किया तथा बौद्ध मठों की भाँति सभी वर्गों एवं वर्णों के लोगों को अपने यहाँ आश्रय प्रदान किया। यह सम्प्रदाय विश्व बन्धुत्व एवं प्रगतिशील चिंतन की भावभूमि पर निर्मित हुआ है। यही कारण है कि इसमें कर्म और ज्ञान के बजाय अनन्य भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय के उदय से धार्मिक संघर्षो पर विराम लग गया या फिर शूद्रों को समाज में उचित स्थान मिल गया, इसका भले ही कोई ठोस प्रमाण न हो, लेकिन इतना तो तय है कि इस सम्प्रदाय से प्रेरणा पाकर ही निर्गुण संत मत का उदय हुआ, जिसने इस सम्प्रदाय की विचारधारा को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य किया। रामानंदी सम्प्रदाय द्वारा भक्ति को जाति की कारा से मुक्त करने का परिणाम यह हुआ कि कई प्रतिक्रियावादी तत्वों को प्रवाद फैलाने का अवसर मिल गया। ब्राह्मण आचार्य द्वारा जाति-पाँति के बन्धनों को नकारना, ब्राह्मणवादी कट्टर विचारकों को काफी नागवार गुजरा। यही कारण है कि इन तत्वों द्वारा कभी कबीर को विधवा ब्राह्मणी का पुत्र बताया गया, तो कभी रैदास को पूर्वजन्म का कर्तव्य-भ्रष्ट ब्राह्मण घोषित किया गया। इन प्रवादों से संकेत मिलता है कि स्वामी रामानंद की विचारधारा ने तात्कालिक समाज व्यवस्था में काफी प्रभावशाली क्रांतिकारी भूमिका निभाई थी।

रामानंद से प्रभावित तथा राम के निर्गुण रूप की भक्ति में आस्था रखने वाले कबीर को 'भक्तमाल' तथा 'आनंदभाष्य' में स्वामी रामानंद का शिष्य बताया गया है। हिंदी

साहित्य के अधिकांश इतिहासकारों तथा संत साहित्य के विद्वानों ने भी कबीर को रामानंद से सम्बंधित माना है। फिर भी बिना किसी पुष्ट प्रमाण के कबीर को रामानंद का शिष्य निश्चित रूप से घोषित नहीं किया जा सकता है, परन्तु कबीर की कविता रामानंद की शिक्षाओं से प्रभावित है, इसमें कोई संदेह नहीं हैं।

कबीर ने स्वामी रामानंद से ब्रह्म के निर्गुण रूप को ग्रहण करते हुए रामानंदी सम्प्रदाय से जाँति-पाँति के विरोध तथा लोकभाषा में साहित्य रचने के उपदेश को संस्कार रूप में प्राप्त किया था। स्वयं कबीर ने कई स्थलों पर स्वामी रामानंद से अपना सम्बंध जोड़ा है-

'आपन आस कीजै बहुतेरा, काहहु न भरम पाव हरि केरा,
इन्द्री कहां करै बिसरामा, सो कहाँ गये जो कहते रामा।
सो कहा गये जो होत सयाना, होय मृतक वहि पदहि समाना।
रामानंद रामरस माते। कहहि कबीर हम कहि कहि थाके ।'[1]

कबीर को निःसंदेह राममंत्र रामानंद से प्राप्त हुआ था तथा उनका ज्ञान मार्ग रामानंद की शिक्षाओं पर आधारित है। उन्होंने इस बात को स्वीकार भी किया है-

'हम काशी में प्रकट भये है, रामानंद चेताये।
प्यास अहर की साथ हम लाये, मिलन करन को आये।।'[2]

कबीर ने दशरथ पुत्र राम से भिन्न निर्गुण व निराकार राम की उपासना धार्मिक कर्मकांडों से परे हटकर आंतरिक भाव से की है। कबीर ने गुरु को ईश्वर से भी बढ़कर माना है। उन्होंने गुरु भक्ति को भगवत प्राप्ति का मुख्य माध्यम बताया है। रामानंदी सम्प्रदाय में भी गुरु कृपा से ही ईश्वर से साक्षात्कार संभव माना गया है। कबीर का गुरु प्रेम बहुत गहरा है -

'सद्गुरु के परताप तें, मिटि गयों सब दुख-दंद।
कहै कबीर दुबिधा मिटि, गुरु मिलिया रामानंद।।'[3]

रामानंदी सम्प्रदाय में शालिग्राम की पूजा का विधान है। कबीर ने भी अपने एक पद में इस रामानंदी उपासना पद्धति का संकेत किया है-

'सालिग्राम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ी माया नर दूजा।
ठाकुर लै पाटै पौढ़ावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा।
साँच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै।।'[4]

कबीर की साखियों में व्यक्त वर्ण व्यवस्था तथा जाँति-पाँति का खंडन रामानंदी सम्प्रदाय की सामाजिक समरसता का प्रभाव माना जाता है। स्वामी रामानंद की तरह कबीर ने भी मनुष्य मात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित करते हुए वर्ण, जाति, लिंग, धर्म आदि बन्धनों को व्यर्थ माना है-

'एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति तै सब उतपनॉ , कौन बॉम्हन कौन सूदा।।'[5]

इसी प्रकार कबीर ने रामानंदी सम्प्रदाय से वैष्णवी अहिंसा का संस्कार भी प्राप्त

किया है। रामानंदी सम्प्रदाय में मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। वस्तुतः मध्यकालीन धर्म साधना में वैष्णवों का सामान्य अर्थ ही अहिंसक साधकों के रूप में प्रचलित था। इसी अहिंसा की भावना को प्रकट करते हुए कबीर ने कहा है-

'बकरी पाती खात है, वाकी काढ़ी खाल,
जो जन बकरी खात हैं, तिनकै कौन हवाल।।'[6]

कबीर का वैष्णव प्रेम रामानंदी संम्प्रदाय के तात्कालिक जन मानस में व्याप्त प्रभावों का भी संकेत देता है। कबीर ने वैष्णव भक्तों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। दशनामी शैवों तथा रामानंदी साधुओं के परम्परागत संघर्ष के कारण कबीर ने शाक्तों की निंदा तथा वैष्णवों की प्रशंसा की है -

'चंदन की कुटकी भली, ना बँबूर की अबराउँ।
बैस्नों की छपरी भली, ना साषत का बड़गाउँ।
साषत बांभण मति मिलै, बैसनों मिलै चंडाल।
अंक मालदे भेजिये, मानो मिले गोपाल।।'[7]

कबीर ने रामानंदी सम्प्रदाय से तत्ववाद कम तथा भक्ति का संस्कार अधिक पाया था। उन्होंने रामानंदी सम्प्रदाय के पंचसंस्कारों, कर्मकांडों आदि का विरोध करते हुए परमात्मा के प्रति अनन्य अनुराग को ही भक्ति का प्रमुख साधन माना है। प्रभु के नाम स्मरण से ही कबीर मोक्ष प्राप्ति संभव मानते है। कबीर ने वैष्णव भक्तों में कर्मकांडों की बजाय विवेक को आवश्यक माना है -

'बेसनों भया तो का भया, बूझा नहीं बिबेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक।।'[8]

रामानंदी नवधा भक्ति में कबीर की पूर्ण आस्था थी। उन्होंने बाह्याचारों की अपेक्षा इसके मानसी रूप को ही अपनाया। नामस्मरण, कीर्तन, श्रवण, वन्दन, आत्मसमर्पण, दास्यभाव आदि का परिचय कबीर ने अपने कई पदों में दिया है। रामानंदी सम्प्रदाय के प्रपत्ति सिद्धांत से भी कबीर प्रभावित जान पड़ते हैं। उन्होंने राम के प्रति अनन्य प्रेम भाव व्यक्त करते हुए हरसंभव उनकी कृपा दृष्टि पाने का प्रयास किया है। कबीर ने प्रभु भक्ति में गृहस्थ जीवन को बाधक नहीं माना है। स्वामी रामानंद द्वारा प्रदत्त न्यास भाव अर्थात प्रवृत्ति में निवृत्ति को उन्होंने स्वीकार किया। कबीर के अनुसार प्रभु को प्रेम से प्राप्त किया जा सकता है, संन्यास या योग द्वारा नहीं -

'गुण गाए गुण ना कटै, रटै न राम वियोग।
अहि निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूँ पावै दुर्लभ जोग।।'[9]

रामानंदी सम्प्रदाय के षड़ाक्षर राममंत्र की अपेक्षा कबीर केवल रामनाम का ही स्मरण करते हैं। रामानंदी सम्प्रदाय के षोड्स पूजा विधानों में कबीर की कोई आस्था नहीं है। वे कर्मकांडों और आड़म्बरों से परे मानसी भक्ति का समर्थन करते हैं-

'नींव बिहूणा देहुरा, देह बिहूणा देव।
कबीर तहां विलम्बिया, करै अलष की सेव।।'[10]

ईश्वर और जीव में कबीर ने 'हरि जननी मैं बालक तोरा' कहकर पिता-पुत्र संबंध को स्वीकार किया है। रामानंदी सम्प्रदाय में आराध्य-आराधक के मध्य छः प्रकार के सम्बंध माने गये हैं। इनमें कबीर ने दास्य एंव माधुर्य भाव को प्रमुखता दी है। रामानंदी रसिक उपासना की भांति कबीर ने ईश्वर से सखी के बजाय पति-पत्नी का सम्बंध जोड़ा है-

'हरि मोरा पीउ माई हरि मोरा पीउ।
हरि बिन रहि न सकै मोरा जीव।।'

लेकिन कबीर ने ईश्वर विरह को अधिक उभारा है। उन्होंने राम वियोगी होकर रात दिन राम नाम स्मरण से अपनी भक्ति को अधिक प्रभावी बनाया है। दार्शनिक दृष्टि से कबीर विशिष्टाद्वैतवाद से कम तथा अद्वैतवाद से ज्यादा प्रभावित हैं। उन्होंने प्रकृति को माया बताते हुए उसे ईश्वर प्राप्ति में बाधक माना है। इसी प्रकार उन्होंने मोक्ष के रूप में ईश्वर में विलीन होने को ही अधिक महत्व दिया है। कबीर ने स्वामी रामानंद से राम के निर्गुण स्वरूप को ग्रहण अवश्य किया है, लेकिन दार्शनिक मत तथा बाह्याचारों को आंशिक रूप से ही ग्रहण किया है। वस्तुतः कबीर ने रामानंदी सम्प्रदाय की सामाजिक तथा भक्ति सम्बंधी मान्यताओं को सहर्ष स्वीकार किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि - 'रामानंद के प्रधान उपदेश 'अनन्य भक्ति' को कबीर ने शिरसा स्वीकार कर लिया था। बाकी तत्वज्ञान को उन्होंने अपने संस्कारों, रुचि और शिक्षा के अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था।'[11]

कबीर और स्वामी रामानंद द्वारा रचित हिंदी पदों की शब्दावली काफी सीमा तक एक समान है। रामानंद ने अपने हिंदी पदों में निर्गुण राम के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। कबीर की निर्गुण राम भक्ति तथा तुलसी की सगुण रामभक्ति धारा का उद्गम स्थल रामानंदी सम्प्रदाय ही है। जिस प्रकार तुलसी ने रामानंदी सम्प्रदाय की सगुण रामोपासना को लोकप्रिय बनाया, उसी प्रकार कबीर ने निर्गुण रामोपासना को लोकलुभावक और सर्वसुलभ बनाया। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा ने माना है कि 'रामानंद की हिंदी साहित्य सम्बंधी सेवा यही क्या कम है कि उन्होंने व्यक्तित्व से कबीर और अपने आदर्शों से तुलसी जैसे महाकवि उत्पन्न किये।'[12]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कबीर पर रामानंदी संम्प्रदाय के दार्शनिक प्रभाव की अपेक्षा उसके भक्ति सिध्दांतों का काफी असर पड़ा है। मूलतः रामानंदी सम्प्रदाय भक्ति सम्प्रदाय है तथा स्वामी रामानंद हिंदी साहित्य में वैष्णव आचार्य की अपेक्षा समाज सुधारक के रूप में अधिक प्रतिष्ठित हैं। रामानंदी सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं से प्रभावित अधिकांश साम्प्रदायिक रचनाएँ मठों और मंदिरों में अप्रकाशित रूप में पड़ी हैं। इन रचनाओं में रसिक शाखा के कुछ भक्तों को छोड़कर अधिकांश रचनाएँ शुद्ध साहित्यिक श्रेणी की नहीं मानी जाती हैं। अतः भक्ति आंदोलन तथा हिंदी साहित्य पर रामानंदी सम्प्रदाय

की भक्ति साधना तथा सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव अधिक पड़ा है।

संदर्भ :

1. बीजक, टीकाकार- अभिलासदास पारख, कबीर संस्थान, इलाहाबाद, संस्करण 1995,पद संख्या 77
2. कबीर ग्रंथावली, संपादक माता प्रसाद गुप्त, साहित्य भवन प्रा.लि. इलाहाबाद, संस्करण 2001, पृष्ठ सं. 5
3. कबीर ग्रथावली, संपादक माता प्रसाद गुप्त, साहित्य भवन प्रा.लि. इलाहाबाद, संस्करण 2001, पृ सं 17
4. कबीर, संपादक रामेश्वर उपाध्याय, सूचना व प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण 1978 पृष्ट सं. 72
5. कबीर ग्रंथावली, संपादक-श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, संस्करण 1975 ई. पृष्ठ सं. 57
6. कबीर ग्रंथावली, संपादक-श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, संस्करण 1975 ई. पृष्ठ सं. 45
7. कबीर ग्रंथावली, संपादक-श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, संस्करण 1975 ई. पृष्ठ सं. 41
8. कबीर ग्रंथावली, संपादक-श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, संस्करण 1975 ई. पृष्ठ सं. 36
9. कबीर ग्रंथावली, संपादक-श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, संस्करण 1975 ई. पृष्ठ सं. 7
10. कबीर ग्रंथावली, संपादक-श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, संस्करण 1975 ई. पृष्ठ सं. 15
11. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. सं.-85
12. हिंदी का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. राम कुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, सं. 1997, पृ. 46

डॉ. अशोक कुमार मीणा,
सहायक प्रोफेसर (हिन्दी विभाग),
राम लाल आनंद महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-21

रसानुभूति और महेश दिवाकर का काव्य

डॉ. सुनील कुमार

भारतीय काव्यशास्त्र में रस सिद्धांत की बहुत ही समृद्ध परम्परा रही है। आचार्यों द्वारा रस को काव्य की आत्मा माना गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस सिद्धांत की यह सुदीर्घ परम्परा हमें उपनिषदों से ही मिलने लगती है। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है- 'रसौ वै सःरस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'।[1] इस प्रकार उपनिषद् काल से ही रस को जगत का सार सूत्र और मूलाधार मानने की परम्परा भारतीय काव्यशास्त्र के मूल में निहित रही है। रस सिद्धांत की विवेचना करते हुए 'आचार्य विश्वनाथ' ने 'साहित्य दर्पण' में कहा है-'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'[2] अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। रस सम्प्रदाय के मूर्धन्य 'आचार्य भरत मुनि' रस सिद्धांत का निर्वचन करते हुए 'नाट्य शास्त्र' में सूत्रात्मक स्थापना इस प्रकार देते हैं-'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति।'[3] अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के सहयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस सिद्धांत के इसी परिप्रेक्ष्य में 'महेश दिवाकर' के काव्य को अवलोकनार्थ लिया गया है। 'दिवाकर' जी की साहित्य साधना का स्वरूप बहुआयामी रहा है। उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी लेखनी प्रभावी ढंग से चलाई है। आपका काव्य भारतीय संस्कृति के सारस्वत संस्कारों का पोषक होकर उभरता है। आपकी काव्य यात्रा का श्रीगणेश 1997 में 'अन्याय के विरुद्ध' नामक काव्य संग्रह के प्रकाशन से हुआ और इसी वर्ष दूसरा काव्य संग्रह 'पथ की अनुभूतियाँ' भी प्रकाशित हो गया। ई. सन 2021 तक आते-आते 'दिवाकर' जी के 18 काव्य ग्रंथ, 2 शोध ग्रंथ, 7 समीक्षा और शोध-ग्रंथ, 2 साक्षात्कार संग्रह, 7 प्रबंध काव्य, 13 यात्रा-वृत, 2 संस्मरण एवं रेखा चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। इसके साथ ही सम्पादित ग्रंथों में10 अभिनंदन ग्रंथ, 2 स्मृति ग्रंथ, 6 कोश ग्रंथ, 17 काव्य संकलन, 3 विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम काव्य संकलन, 3 साहित्यकार विशेष काव्य संकलन, तथा 13 विशिष्ट संकलन सम्मिलित हैं। अभी तक 'दिवाकर' जी के 44 मौलिक ग्रंथों का विविध विधाओं के अंतर्गत प्रकाशन हो चुका है तथा 54 ग्रंथों का सम्पादन उनके द्वारा किया गया है। सरस्वती पुत्र 'दिवाकर' जी की लेखनी अभी भी अनवरत रूप से साहित सृजन में रत है। काव्य विधा की अद्यतन फलश्रुति के रूप में 'दिवाकर' जी की 'लोकधारा'-1 का प्रकाशन 2018 में 'लोकधारा-2 तथा 'लोकधारा'-3 का प्रकाशन 2019 में हुआ। तदंतर 2021 में 'लोकधारा'-4 एवं -5 का प्रकाशन हुआ। इस प्रकार 'दिवाकर' जी की लेखन परम्परा बहुत सुदृढ़ रही है। यह उनकी साहित्यिक लोकप्रियता ही रही कि अभी तक विभिन्न विश्वविद्यालयों में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर लगभग 20 शोध हो चुके हैं। इस तरह 'दिवाकर' जी की साहित्यिक यात्रा के अनेक स्वरूप और पड़ाव हमें देखने को मिलते हैं।

'दिवाकर' जी द्वारा रचित काव्य में लोकधर्मी चेतना और अनुभूति का पक्ष सहृदय को

रसाप्लावित करने वाला रहा है। उनके काव्य में गेयात्मकता और नाद सौंदर्य का स्वरूप भी अपने उदात्त रूप में उपस्थित है। रसानुभूति का मुख्य पक्ष काव्य की रागात्मकता है। काव्य जितना गेयात्मक और राग-तत्व से परिपूर्ण होगा, उसका सहृदय के साथ तादात्म्य उतना ही गहरा होता जाएगा। काव्य में राग-तत्व का औदार्य भावों, अनुभावों और विभावों को उदीप्त करने में सहायक होता है। अतः काव्य में राग-तत्व की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रसानुभूति की उपस्थिति 'दिवाकर' के काव्य में सार्थक रूप से देखने को मिलती है यथा :-

त्याग- तपस्या- देश भक्ति का, / नैतिक भी अधिकार नहीं था। /
सिंहासन के रखवालों में / किंचिद भी आचार नहीं था॥'[4]

भ्रष्टाचार नामक कविता से उद्धृत इन पंक्तियों की गेयात्मकता और नाद सौंदर्य तो उदात्त रूप में है ही व्यंगात्मकता भी बहुत सटीक और तीक्ष्ण रूप में उभरती है। पंक्तियों का भावबोध और कलात्मकता भी देखते ही बनती है। गेयता का गुण और संगीतात्मकता का प्रभाव पंक्तियों के कथ्य पक्ष को प्रभावी बना रहा है। पंक्तियों में रसात्मकता का गुण भरपूर रूप में विद्यमान है। सहृदय पाठक या श्रोता जब इन पंक्तियों को पढ़ने या सुनने में प्रवृत होता है तो सहज ही रसानुभूति से एकात्म होने लगता है। उद्धृत पंक्तियों में सुर, ताल, लय और नाद सौंदर्य एकात्म होकर उभरता है, फलतः सहृदय के भावों का उद्दीपन सहज स्वाभाविक रूप से हो जाता है। स्थायी भाव के रूप में विस्मय की उद्दीप्ति यहाँ पर देखी जा सकती है। पंक्तियों में ग्लानि और चिंता संचारी भावों को प्रदीप्त कर रहे हैं। सुर, ताल और नाद सौंदर्य वाणी के माधुर्य को बढ़ा कर वाचिक अनुभाव की प्रदीप्ति का कारक बन रहा है। सात्विक अनुभावों में वैवर्ण्य (नैराश्य) यहाँ पर काव्योचित प्रसंग के साथ उपस्थित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पंक्तियाँ रसानुभूति के धरातल पर बहुत प्रभावी हैं। इसी को सिद्ध करता हुआ एक दूसरा उदाहरण देखा जा सकता है-

'फाँसी के फंदे पर लटका / पाप मुक्ति भी पा जाता है।
धन का वैभव सजा बदलता; / सत्य देखता घबराता है॥'[5]

न्यायपालिका कविता से उद्धृत इन पंक्तियों का सुर, ताल और लय अपने उदात्त रूप में उभरता है। नाद सौंदर्य का औदात्य भी पंक्तियों में सधा हुआ अनुभव किया जा सकता है। वाणी का माधुर्य पंक्तियों में अंतर्निहित है, तथा व्यंग्य-बाण भी सहृदय को झकझोरने वाला है। पाठक जब इन पंक्तियों को पढ़ता और गुनगुनाता है तो काव्य का राग-तत्व उसके भावों को यथायोग्य रूप से प्रदीप्त कर जाता है। पूर्व पंक्तियों की भाँति ही यहाँ भी स्थायी भाव के रूप में विस्मय और संचारी भावों के रूप में ग्लानि और चिंता की उद्दीप्ति होती है। वाणी माधुर्य से वाचिक अनुभाव और वैवर्ण्य (नैराश्य) तथा कायिक अनुभाव के रूप में भ्रू-भंग तथा संगीतात्मकता से राग-तत्व द्वारा उद्दीपन विभाव की प्रदीप्ति रसानुभूति का कारक बन रही है। इस प्रकार स्थायीभाव, अनुभाव और विभाव के संयोग से सहृदय को कविता में रसानुभूति की दशा प्राप्त होने लगती है। कविता का

ध्येय सुधारात्मक दृष्टिकोण होने के कारण उसका हेतु समाज कल्याण और नैतिकता का पोषक बन रहा है, अतः पाठक वर्ग की उसके साथ सहज ही आत्मीयता बन जाती है। कविता के हेतु का सीधा संबंध सामाजिक सरोकारों के साथ जुड़ता है। अतः पाठक उसके साथ स्वाभाविक रूप से अपने को जुड़ा हुआ अनुभव करता है। इस दशा में अपने और पराए का भेद तिरोहित होने की दशा बनती है। अतः यहाँ पर रसानुभूति की सहज निष्पत्ति देखने को मिलती है। आचार्यों के अनुसार रसानुभूति की सामर्थ्य को काव्य का सर्वाधिक सबल पक्ष माना गया है। इस धरातल पर 'न्यायपालिका' नामक कविता सार्थक सिद्ध होती है। प्रस्तुत कविता का काव्यत्व सभी अपेक्षाओं पर अपनी सार्थकता प्रमाणित करने में समर्थ है। रसानुभूति के पक्ष को समझने के लिए एक और उदाहरण देखा जा सकता है-

'गोरे हाथों में मेहंदी के बिंदु कैसे गमक रहे हैं।
नभ के तारे सिंधु-पटल पर झिलमिल-झिलमिल झलक रहे हैं।
बाले! मचल रहा मेरा मन ले चूमूँ मुंह हाथों को तेरे,
नभ के तारे हाथ तुम्हारे इंदु जैसे चमक रहे हैं।'[6]

इन पंक्तियों में अंतर्भूत नाद-सौंदर्य सहृदय पाठक की अनुभूति तथा मनोवेगों को रसाप्लावित करने के गुणों से परिपूर्ण है। पंक्तियों का लावण्य भी सहज ही रसाप्लावित करने वाला है। पंक्तियों का संवेगात्मक गुण पाठक को अपनी ओर सहज ही खींचता है। सहृदय पाठक और श्रोता जब उद्धृत पंक्तियों को पढ़ता और गुनगुनाता है तो स्वाभाविक रूप से काव्योचित आनंद की अनुभूति करता है। यहाँ पर कवि की रचनात्मक प्रतिभा सहज ही प्रकाशित हो रही है। उल्लेखनीय है कि पंक्तियों में रसात्मकता की प्रदीप्ति अपने स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित है। इन पंक्तियों में काव्य का उदात्त रूप पाठक और श्रोता को अपने साथ बाँधे रखने की क्षमता रखता है। काव्य की संवेगात्मकता भी प्रभावी रूप में है, जो सहृदय पाठक और श्रोता को अनायास ही अपनी ओर खींचती है। इस प्रकार यहाँ रसानुभूति का उत्कृष्ट स्वरूप देखा जा सकता है। 'रसानुभूति को पुष्ट करती हुई ये पंक्तियाँ देखिए- :-

'प्रीत की अनुपम मनोरम बादलों की पुण्य बेला ।
आ रही है याद तेरी, मीत! बिन क्यों कर अकेला ।
फिर मिलन की साध लेकर जी रहा है प्राण-पंछी,
आओगे कब मीत रे! उठ रहा जीवन का मेला॥'[7]

प्रस्तुत पंक्तियाँ रसानुभूति का बहुत उत्कृष्ट उदाहरण हैं। नाद सौंदर्य और राग-तत्व का औदात्य यहाँ देखते ही बनता है। सुर, ताल, यति, गति, आरोह, अवरोह जैसी काव्यात्मक वृत्तियों का बहुत सुंदर निर्वाह इस मुक्तक में देखा जा सकता है। काव्य में जिस लावण्य की अपेक्षा रहती है, उसका प्रवाह यहाँ बहुत स्वाभाविक रूप में अंतर्निहित है। रसानुभूति की दशाओं को जिस काव्यात्मक वृत्ति की अपेक्षा रहती है वह भी यहाँ

पर सार्थकता के साथ उपस्थित है। रसानुभूति के पक्ष को समझने के लिए बसंत नामक कविता का एक और उदाहरण द्दष्टव्य है-

'धानी चूनर तन पर ओढ़े, लगती सखियाँ प्यारी!
किसने इस सारी वसुधा पर, छिटका दी उजियारी॥
तन-मन पर अधिकार जताने, लाया रूप बसंत॥
पीली पीली सरसों फूली, पीला हुआ दिगन्त!
रूप सलोना धरकर आया' मानो बाल बसन्त।'[8]

सहृदय पाठक की भाव-भूमि को उद्दीप्त करने वाली ये पंक्तियाँ रसानुभूति कराने में पूर्णतः समर्थ हैं। काव्य में ऋतुराज बसंत की मनोहारी छटा द्दष्टव्य है। बसंत की चहुँ दिश फैली चित्तग्राही रमणीयता में धानी चुनर ओढ़े सखियों का शोभायमान होता हुआ मोहक रूपवर्ण और वसुधा के आँचल पर फैला हुआ प्रभाकर का उजाला देखकर लगता है मानो तन-मन को वशीभूत करने के लिए अठखेलियाँ करते हुए बसंत का आगमन हुआ हो। खेत-खलिहान में खिली हुई पीली सरसों की शोभा देख कर लगता है जैसे पृथ्वी से आकाश तक पूरा दिगंत पीला हो गया हो। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो बसंत अपना मनोहारी बाल रूप धारण करके सम्मोहित करने आया है।

प्रस्तुत पंक्तियाँ जहाँ रसात्मकता से ओतप्रोत हैं, वहीं उत्कृष्ट काव्य के वे सभी कारक विद्यमान हैं जो काव्य को उदात्त बनाते हैं। सहृदय पाठक को इन पंक्तियों में काव्य का राग-तत्व पूर्णतः प्रभावित करने वाला है। भाव सौंदर्य की अद्भुत छटा पंक्तियों में देखी जा सकती है। रसानुभूति के संदर्भ में एक उदाहरण और देखिए-

'कंज से दोनो नयन हैं रतनारे
ज्यों क्षितिज पर हों चमकते दो सितारे।
भाल पर बिंदी सजी अनुपम गमकती;
प्रात के नभ पर तरइयाँ ज्यों चमकती॥'[9]

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से श्रृंगार रस की ये पंक्तियाँ रसानुभूति का सुंदर उदाहरण है। काव्य माधुर्य यहाँ पर सहज रूप से पंक्तियों में निबंद्ध हुआ है। आलम्बन विभाव के रूप में रति भाव अवस्थित है। उद्दीपन विभाव के रूप में रम्य वातावरण सौंदर्य क्षितिज पर चमकते सितारे की रमणीयता देखते ही बनती है। अनुभाव के रूप में नायिका के मुखमंड़ल, की आभा तथा तन-मन की भाव-भंगिमाएँ और भाल पर बिंदी शोभायमान हैं। वाचिक अनुभाव के रूप में वाणी का माधुर्य और मोहकता सार्थकता के साथ उपस्थित है। संचारी भाव के अंतर्गत रतिभाव को प्रदीप्त करने वाले कारक चपलता तथा आवेग, की प्रदीप्ति देखते ही बनती है। इस प्रकार काव्य में रसानुभूति का पक्ष भी उदात्त रूप में उभरता है। ऐसा ही एक और देखा जा सकता है-

'एक अनूठा दिव्य दृश्य, धरती-अम्बर में छाया।
चाँद गगन से उतर धरा पर लगता जैसे आया।।

बिखर रही है मधुर चाँदनी, नभ से आये तारे।

फैल गए हैं जुगनू बनकर लगता माधव आया॥'[10]

महासाध्वी अपाला नामक प्रबंध काव्य के द्वितीय सर्ग की इन पक्तियों में काव्य का रमणीय पक्ष और लावण्य उल्लेखनीय है। प्रस्तुत पंक्तियाँ श्रृंगार रस की उद्भावना और प्रदीप्ति कर रही हैं। सुर, ताल, यति, गति, आरोह, अवरोह जैसे काव्य के गुण यहाँ पर प्रभावोत्पादक रूप में देखे जा सकते हैं। पंक्तियों का नाद सौंदर्य भी देखते ही बनता है। संवेगात्मकता और भाव सौंदर्य भी अपने औदात्य के साथ काव्यबद्ध है। काव्य में माधुर्य की सहज प्रतीति हो रही है। संगीतात्मकता के साथ रागात्मकता से भी काव्य परिपूर्ण है। पंक्तियाँ सहृदय पाठक और श्रोता के भावों को उद्दीप्त करने में सफल हैं। इस तरह रसानुभूति कराने के सभी गुणों में रचना सक्षम है। ऐसा ही एक उदाहरण और देखा जा सकता है-

रूप धर कर व्योम से उतरा धरा पर चंद्रमा।

और उसके उर समायी प्राण बनकर वंदना।।

आ गया रति खोजता रूप धारण कर मदन।

और चंदन से सुवासित कर लिया अपना वदन॥'[11]

महासाध्वी अपाला नामक प्रबंध काव्य के द्वितीय सर्ग की इन पक्तियों में काव्य-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य और नाद-सौंदर्य की छटा भी मोहक रूप में देखी जा सकती है। गेयात्मकता सहित काव्य के सभी प्रभावी गुण पंक्तियों में निबद्ध हैं। काव्योचित राग-तत्वों से पंक्तियाँ सुशोभित हैं। विभाव, अनुभव और संचारी भावों की प्रदीप्ति भी प्रभावोत्पादक ढंग से हो रही है। 'प्रस्तुत पंक्तियों में आलम्बन विभाव के अंतर्गत रति भाव उद्रेक देखा जा सकता है। आलम्बन विभाव के कारण जाग्रत रम्य वातावरण, उद्भावना व्योम से उतरता हुए चंद्रमा आदि उद्दीपन विभाव की उद्दीप्ति हो रही है। पंक्तियों में रति भाव का उद्दीपन हो जाने के कारण नायिका के मुखमंडल पर हर्ष, उल्लास, रोमांच, खुशी और तेज जैसे सात्विक अनुभावों का तथा नाद सौंदर्य से वाचिक अनुभाव का प्रकाशन हो रहा है। चपलता, हर्ष, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी भाव रति भाव को उदीप्त कर रहे हैं जिससे स्थायी भाव 'रति' की निष्पत्ति हो रही है। पंक्तियों का काव्य सौन्दर्य सहृदय पाठक और श्रोता को सुर, ताल, यति, गति के साथ रस निष्पत्ति और रसानुभूति कराने में समर्थ है। प्रस्तुत रचना का पठन-पाठन और श्रवण काव्यानंद की अनुभूति सहज स्वाभाविक रूप से करा जाता है।

'दिवाकर' के काव्य का अवलोकन करने से विदित होता है कि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उनकी रचनाओं में रसानुभूति का पक्ष सबल रूप से विद्यमान है। सामाजिक सरोकारों को रेखांकित करने वाली उनकी रचनाएँ जहाँ अपने नैतिक पक्ष को लेकर जानी जाती है, वहीं उनमें रसानुभूति कराने की भी विलक्षण सामर्थ्य देखने को मिलती है। 'दिवाकर' की काव्य कृतियाँ प्रधानतः सामाजिक चेतना को रेखांकित करने वाली रही हैं, लेकिन

काव्यानंद और रसानुभूति के धरातल पर भी उनका काव्य पूर्णतः सफल है। पठन-पाठन और श्रवण के धरातल पर सहृदय पाठक और श्रोता को रसानुभूति कराने की उनके काव्य में पूर्ण सामर्थ्य विद्यमान है। 'दिवाकर' जी की रचनाओं का रसास्वादन करने से विदित हो जाता है कि रसानुभूति के धरातल पर भी रचनाकार ने अपनी रचनाओं में कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा को प्रभावी ढ़ंग से सिद्ध किया है।

संदर्भ :

1. मम्मट विरचित काव्यप्रकाश, व्याख्याकार डॉ. महेश चंद्र शर्मा, पृष्ठ 118, सरोज प्रकाशन, 44 प्रोफेसर कॉलोनी, मोदीनगर, 201204, प्र. संस्करण 2002-03
2. वही, डॉ. महेश चंद्र शर्मा, पृष्ट 06
3. वही, डॉ. महेश चंद्र शर्मा, पृष्ट 118
4. 'लोकधारा'-3, डॉ. महेश 'दिवाकर', विश्व-पुस्तक प्रकाशन, 304-, बी. / जी. पश्चिम विहार, नई दिल्ली, -63, संस्करण 2019, पृष्ठ 01
5. वही, 'लोकधारा'-2, डॉ. महेश 'दिवाकर', पृष्ठ 25 ,
6. वही, 'लोकधारा'-2, डॉ. महेश 'दिवाकर', पृष्ठ 100,
7. वही, 'लोकधारा'-2, डॉ. महेश 'दिवाकर', पृष्ठ 127,
8. वही, 'लोकधारा'-2, डॉ. महेश 'दिवाकर', पृष्ठ 257 ,
9. 'लोकधारा'-3, डॉ. महेश 'दिवाकर', विश्व-पुस्तक प्रकाशन, 304-, बी./जी. पश्चिम विहार, नई दिल्ली-63, संस्करण 2019, पृष्ठ 373
10. 'लोकधारा'-4, डॉ. महेश 'दिवाकर', विश्व-पुस्तक प्रकाशन, 304-, बी. / जी. पश्चिम विहार, नई दिल्ली, -63, संस्करण 2021, पृष्ठ 116
11. वही, 'लोकधारा'- 4, डॉ. महेश 'दिवाकर', पृष्ठ 124,

क्षेत्रीय निदेशक,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, अहमदाबाद केंद्र
बाल भवन शास्त्री स्टेडियम,
बापूनगर अहमदाबाद, 380024

भविष्य की उम्मीद को टटोलती समकालीन कविता

डॉ. शशि शर्मा

बच्चे फूल की तरह कोमल और नाजुक ही नहीं, फूल की तरह सुगंधित भी होते हैं। उनकी सहज मुस्कान, उनकी अपरिपक्व कथनी, उनकी निश्छल करनी, सभी मनभावन होते हैं। बच्चों के बिना परिवार, समाज और देश की परिकल्पना निरर्थक है। बच्चों की उपस्थिति परिवार के लिए सुख का पर्याय है तो देश के लिए उनके कंधे अतीत और भविष्य का भार उठाने की उम्मीद हैं। देश की उन्नति और प्रगति में उनकी निर्णायक भूमिका होती है। इसलिए उनका सही और समग्र विकास परिवार, समाज और देश की सर्वप्रमुख जिम्मेदारी है। विडंबना यह है कि इस जिम्मेदारी का निर्वहन सटीक ढंग से नहीं हो रहा है। बच्चों से जुड़ी कई संस्थाओं यथा यूनिसेफ, क्राई आदि की ताजा रिपोर्ट दर्शाती है कि हमारे जीवन को दिशा और गति देने वाले ये बच्चे चाहे वह अमीर घर से ताल्लुक रखते हों या गरीब घर से - आर्थिक, सामाजिक, मानसिक और शारीरिक शोषण का शिकार हो रहे हैं। प्रत्येक दिन अखबारों में बच्चों से जुड़ी किसी न किसी भयावह खबरों से हम मुखातिब होते हैं। 'बच्चे और हम' पुस्तक की भूमिका में संपादक राजकिशोर ने जो बातें रखी हैं, अवलोकनीय हैं- 'यह हमारी सभ्यता पर एक प्रतिकूल टिप्पणी है कि उसके विकास के साथ-साथ बच्चों की दुनिया मुश्किल होती गयी है।'[1] वास्तव में यह तथाकथित विकास बच्चों के शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सांस्कृतिक विकास के लिए काफी प्रतिकूल है।

समकालीन कविता भविष्य की उम्मीद अर्थात् बच्चों के प्रति प्रतिबद्ध कविता है। बच्चों की सोच, समस्या, आशा-आकांक्षा, पीड़ा, महत्ता को कई समकालीन कवियों ने शब्द दिया है। बच्चे माता-पिता के बीच का वह सेतु हैं, जिनकी वजह से दाम्पत्य संबंधों में सुदृढ़ता आती है। कवि गिरधर राठी लिखते हैं -'किलकारियाँ /पाट देतीं दरारें / हम तुम फिर एक हो जाते।'[2] बच्चों की उपस्थिति असीम प्रेम और आनंद से सराबोर कर देती है। उनकी अनुपस्थिति से उत्पन्न बेचैनी को अनामिका के शब्दों में महसूसा जा सकता है- 'घर से बच्चा चला गया है / छूट गई है एक जुराब,/ जागी आँखों में छूटा हो/जैसे एक खिलौना ख्वाब!'[3]

यह तथ्य निर्विवाद है कि बच्चे संपूर्णता का एहसास कराते हैं। तकनीक का तीव्रतर विकास दर्शाता है कि बच्चे सिर्फ संतानहीनता का टैग नहीं हटाते बल्कि माता-पिता के जीवन को एक औचित्य भी देते हैं। कवयित्री अंजना भट्ट के लिए बच्चा उनके 'जिस्म पर उगा हुआ/ इक प्यारा सा नन्हा फूल...'[4] है जिसके साथ वे आत्मा-परमात्मा सी अनुभूति पाती हैं। उनकी सारी चेतना बच्चों के इर्द-गिर्द घूमती है- 'तेरी मुस्कुराहटों से जागता है /मेरी सुबहों का लाल सूरज /तेरी संतुष्टि में ढलता है /मेरी शामों का सुनहरा सूरज।'[5]

आशीष त्रिपाठी महसूसते हैं कि बेटी का 'हाथ पकड़ना' - 'आत्मा के सबसे प्यारे

टुकड़े को छूना'[6] जैसा है। जितेन्द्र श्रीवास्तव के लिए- 'बेटियाँ होती ही शहद हैं / जो मिटा देती हैं / आत्मा की सारी कड़वाहट'[7] स्पष्ट है कि बच्चों के बिना सब कुछ निराधार, निष्प्रयोजन और निर्जीव है।

भूमंडलीकृत पूँजीवादी शक्तियों के वर्चस्व, संयुक्त परिवार के विघटन, नौकरीपेशा माता-पिता की व्यस्तता, आर्थिक अभाव, तकनीकी मायाजाल के दुष्प्रभाव स्वरूप आज भविष्य की उम्मीद पर खतरा मँडरा रहा है। जिस प्यार और संस्कार के साथ उनकी परवरिश होनी चाहिए, वह नदारद है। संपन्न बच्चे अपनों की उपेक्षा के शिकार हैं, तो विपन्न बच्चे आर्थिक जरूरतों की जद्दोजहद में अपने बचपन को नहीं जी पाते हैं। संपन्न बच्चे डेढ़-दो साल में स्कूल के बोझिल परिवेश में जीने को बाध्य हैं तो विपन्न बच्चे भूख की लड़ाई लड़ते-लड़ते स्कूल ही नहीं पहुँच पाते हैं। कवि ज्ञानेंद्रपति की कविता विपन्न बच्चों के सन्दर्भ में 'गणतंत्र-दिवस' के विरोधाभास को दर्शाती है - 'वे बेच रहे हैं ये झण्डे /घरमुँही दीठ के आगे लहराते/ झण्डे, स्कूल जाने वाले उनके समवयसी बच्चे जिन्हें पकड़ेंगे/ गणतंत्र-दिवस की सुबह /स्कूली समारोह में / पूरी धज में जाते हुए'[8] गरीब बच्चों के लिए 'गणतंत्र-दिवस' की सार्थकता इसी में है कि झण्डे के बिकने से इनका पेट भरेगा।

समकालीन कविता बच्चों के मनोसंसार में प्रवेश कर उनकी वास्तविकता को हमारे समक्ष उद्घाटित करती है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था से बच्चे आक्रान्त हैं। 'मार्क्स' केन्द्रित बोझिलता से लबरेज शिक्षा पद्धति असमय बच्चों को परिपक्व बना रही है। रंजना जायसवाल के शब्दों में - 'स्कूल के विशालकाय फाटक पर / खूँटियों में टँगी रहती है / बच्चों की माप की जंजीरें / जिन्हें पहनकर ही / प्रवेश कर सकते हैं वे / कैम्पस में / बच्चे उन्हें उतारते हैं / पहनते हैं / और अपना बचपना / वहीं छोड़कर / बड़े-बुजुर्ग बन जाते हैं / खामोश..... गंभीर /संयमित बुजुर्ग'[9] किताबों के बोझ से आक्रान्त बच्चे की मानसिक बैचेनी को अनामिका सुन्दर तरीके से उकेरती हैं -'माँ, मैं अदृश्य हुआ जाता हूँ । / ऊँचे पहाड़ ये किताबों के / बना गए है मुझको/ एक नया 'इनविजिबल मैन' -/ अस्थिर बेचैन !/ पर मुझको देह चाहिए -/दो मुझको, फिर जन्म दे दो'[10]

शिक्षा जो जीवन के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, नीरस और संवेदनहीन हो चुकी है क्योंकि -'बच्चों की पोथियों में सब कुछ होता है / सिवा उनके बचपन के।'[11]

समकालीन कविता में बच्चों के जीवन के कई पहलू चित्रित हुए हैं। भूख और अभाव के कारण हिंसा झेलते बच्चों के जीवन के कई असहनीय दर्द को इन कवियों ने दर्ज किया है। 'भूख' विपन्न बच्चों के लिए सबसे भयानक शब्द है क्योंकि इस शब्द का एहसास उनके अस्तित्व को तोड़-मरोड़ कर रख देता है। कवि हेमंत कुकरेती के शब्दों में कहें तो - 'कई बच्चों के लिए रोटी पहेली की तरह है /और जीवित बच जाना आश्चर्य जैसा'[12] जिस उम्र में उन्हें बेफिक्र रहना चाहिए, शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, उस

उम्र में वे रोटी के जुगाड़ में अपने बचपन और सपनों को निर्ममता से कुचल रहे हैं। अनामिका 'कूड़ा बीनते बच्चे' की बैचैनी को अच्छी तरह समझ रही हैं - 'उन्हें हमेशा जल्दी रहती है / उनके पेट में चूहे कूदते हैं / और खून में दौड़ती है गिलहरी।'[13] चूहे और गिलहरी को शांत करने के लिए ये मासूम और अबोध बच्चे अनजाने उस रास्ते पर चल पड़ते हैं जहाँ इनकी विवशता 'चोर' के रूप में परिभाषित होने लगती है। इस विडम्बना को कवि अच्युतानंद मिश्र भी गहराई से महसूस करते हैं-

'बच्चे जो कि चोर नहीं थे / चोरी करते हुए पकड़े गए / चोरी करना बुरी बात है / इस एहसास से वे महरूम थे / दरअसल अभी वे इतने / मासूम और पवित्र थे / कि भूखे रहने का / हुनर नहीं सीख पाए थे।'[14]

घर बच्चों के लिए काफी महत्वपूर्ण होता है। यह दरअसल उनके लिए सिर्फ रहने की जगह नहीं है, वह उनके लिए एक एहसास है। पिता का सुरक्षा घेरा, माँ की मीठी लोरी, भाई-बहनों संग मीठी झड़प, मित्रों संग कल्पना की असीमित उड़ान है। पर विडम्बना यह है कि विपन्न बच्चों के लिए घर ऐसा नहीं होता। भूख और अभाव उन्हें घर के स्नेह से वंचित कर देता है। वे घर में रहने की नहीं, घर को बचाने की जद्दोजहद में लगे रहते हैं। घर की कमी को माचिस के डिब्बों से भरने की इनकी मासूम कोशिश कवयित्री अनामिका को दिख जाती है- 'बना देते हैं /माचिस के खाली डिब्बों के / छोटे-छोटे कई घर !/ खुद तो वे कहीं नहीं रहते,/पर उन्हें खूब पता है घर का मतलब !'[15]

'घर की गंध' को नीलेश रघुवंशी की 'बच्चा सँभालने वाली लड़की' भी महसूस करती है। खुद संभलने की उम्र में घर से दूर मालिक-मालकिन के घर में उनके बच्चे को संभालने को मजबूर है। वहाँ उसे कई तरह के भौतिक सुख मिलते हैं पर उसके बाल-सुलभ सपनों को उड़ान भरने का मौका नहीं मिलता। बकौल कवयित्री - 'सब कुछ के बाद भी लड़की खिली-खिली और खुश-खुश नहीं रहती/ उदास और अनमनी रहती है लड़की / कहीं ऐसा तो नहीं कि /लड़की जब-जब स्वप्न में जाती हो / तब-तब बच्चे के रोने की आवाज उसके सपनों को तोड़ती हो।'[16]

संपन्न बच्चों के लिए घर अपनत्व की तलाश है। अत्याधुनिक खिलौने और सुख-सुविधाओं से लैस घर अपनों की उपेक्षा और बनावटी जीवन के कारण उन्हें कैदखाने की अनुभूति कराते हैं। घर का परिवेश बच्चों के स्वाभाविक सर्वांगीण विकास का प्रमुख कारक है। इसलिए लीलाधर जगूड़ी 'बच्चों के शब्द' कविता में लिखते हैं - 'इन बच्चों को कुछ दो- पत्नी कहती है / समय दो, संस्कार दो / लेकिन दोनों ही नहीं हैं तुम्हारे पास/ बहुत दिनों से हमने कुछ भी नहीं दिया बच्चों को।'[17]

कवयित्री एवं आलोचक मनीषा झा अपनी पुस्तक 'समय, संस्कृति और समकालीन कविता' में बच्चों की स्थिति पर विचार करते हुए लिखती हैं - 'बच्चा चाहे परिवार के भीतर का हो, या गली सड़क का, दोनों तरह के बच्चों की अपनी-अपनी समस्याएँ हैं। अलग-अलग समस्याएँ हैं। खाते-पीते घर के बच्चे बड़ों की तरफ से उपेक्षा के शिकार

हैं, संस्कार का अभाव होता जा रहा है, प्यार और अपनेपन से वंचित हो रहे हैं, सभ्यता के दबाव में हैं, तो गली-सड़क के बच्चे भूख और गरीबी झेलते दर-दर भटकने को, बाल-मजदूरी करने को, बलात्कार से गुजरने को, कानून और व्यवस्था की उपेक्षा सहने को विवश हैं।'[18]

समकालीन कवियों ने बाल मजदूरी और बाल यौन शोषण के यथार्थ को अपनी रचनाशीलता के केंद्र में रखा है। बाल मजदूरी बच्चों के कोमल मन पर पड़ने वाला ऐसा आघात है जिससे न केवल उनका बचपन नष्ट होता है बल्कि उज्ज्वल भविष्य की उम्मीद पर भी ग्रहण लग जाता है। कानून और बच्चों के लिए कार्यरत संस्था की सक्रियता के बावजूद बाल-मजदूरी जारी है। इस दरिद्रता के कोख- 'जाए बेटे' की स्थिति में बदलाव न आने का कारण कवि ज्ञानेंद्रपति अच्छी तरह जानते हैं - 'वे बच्चे /रिश्तेदार बताये जाते हैं / नजकीदी रिश्तेदार / दूर गाँव के अपने 'सगे /और देखते रह जाते हैं ठगे / प्रशासक और न्यायाधीश / नियम-अधिनियम के नट-बोल्टू / कसने का अभिनय करते / माथ झुकाये'[19]

बाल यौन शोषण एक घिनौनी मानसिकता है। ऐसी मानसिकता से ग्रसित लोगों को निर्मला पुतुल 'पूँजीवादी सौदागर' संबोधित करती हैं। वे सचेत करते हुए लिखती हैं - 'सौदागर हैं वे... समझो.../पहचानो उन्हें बिटिया मुर्मू...पहचानो!/पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं /उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे बच्चों का / बचपन चीत्कार है / उन्हीं की गाड़ियों पर /तुम्हारी लड़कियाँ सब्जबाग देखने/ कलकत्ता और नेपाल के बाजारों में उतरती हैं।'[20]

'बच्ची की फरियाद' रंजना जायसवाल की एक मार्मिक कविता है,जिसमें एक बेटी के पिता के भोगवादी पाशविक मनोवृति से पीड़ित बच्ची का सवाल हमें उद्वेलित करता है - 'मुझे मत मारो अंकल, दुखता है /मैं आपकी बेटी से भी छोटी हूँ /क्या उसे भी मारते हैं इसी तरह/ मेरे कपड़े मत उतारो अंकल/ अभी नवरात्रि में /मुझे लाल चुनर ओढ़ाकर पूजा था न तुमने'[21]

इसी तरह एक वयस्क पुरुष द्वारा दस साल की बच्ची के बलात्कार पर मर्माहत होकर सविता सिंह लिखती है - 'दस साल की इस बच्ची के लिए / यह दुनिया संभावनाओं के इन्द्रधनुष-सी थी / यही दुनिया उस बच्ची को कैसी अजीब लगी होगी / हजारों संशयों भयानक दर्द से भरी हुई / जिसे उसने महसूस किया होगा मृत्यु की तरह / जब उसे ढकेल दिया होगा किसी पुरुष ने / खून और खामोशी में /सदा के लिए लथपथ'[22]

ये कैसा विरोधाभास है कि एक तरफ हम नवरात्र में बच्चियों को देवी बनाकर पूजते हैं, वहीं दूसरी तरफ उन्हें भोगपरक दृष्टि से निहारते हैं। यह कैसी मनोवृत्ति है जो वात्सल्य को कुचलकर देह के दायरे में सिमट गया है। कन्या-भ्रूण हत्या भी बच्चों के जीवन से जुड़ी एक गंभीर समस्या है। भगवत रावत के शब्दों में- 'बहिनें लगातार कम होती जा रही हैं / एक पेटजायी भी / कितनी रह गई हैं बहिनें'[23] आज बेटियाँ हर क्षेत्र

में हमें गर्वित कर रही हैं। बावजूद इसके हमारा समाज इस संकीर्ण मानसिकता से मुक्त नहीं हो पा रहा है। मधुरिमा सिंह 'भ्रूणकाया' कविता में इस स्थिति को बेहद मार्मिक ढ़ंग से उजागर करती हैं। दो बेटियों के पिता को भ्रूण जाँच में तीसरी बेटी की सूचना मिलती है और वह पत्नी का गर्भपात करा देता है। कन्या-भ्रूण की आपबीती हमें है झकझोरती। क्या कन्या-भ्रूण होना इतना बड़ा अपराध है कि उसे नवजीवन से वंचित कर दिया जाए, अपने ही जन्मदाता द्वारा-'मैंने कहना चाहा / अपने पिता से /आने दो मुझे / मैं भी बैठना चाहती हूँ / माँ की गोद में / झुलना चाहती हूँ / तुम्हारी बाहों में / खेलना चाहती हूँ / हरे-भरे मैदानों में / बच्चों के साथ।'[24]

कवयित्री सविता सिंह इसके लिए पुरुषवादी समाज की संकीर्ण सोच को ही दोषी नहीं मानतीं बल्कि उसे जन्म देने वाली माँ के साहस की कमी और भय की भी तीखी आलोचना करती हैं - 'नमन करूँ उस माँ को / अपनी बेटियों को जनती हुई जो / रोती है। 'अब क्या होगा इनका ईश्वर / इस संसार में।'[25]

समग्रतः समकालीन हिंदी कविता में बच्चों की मनोवेदना को मुखर अभिव्यक्ति दी गयी है। यह विडंबना ही कही जा सकती है कि आज हमारी संवेदनहीनता, उपेक्षा और घृणित मानसिकता के कारण हमारे भविष्य की उम्मीद संकट में हैं। अगर हम अभी भी सचेत नहीं हुए तो वह दिन दूर नहीं जब हम वात्सल्य के वास्तविक आनंद से वंचित हो जायेंगे।

सन्दर्भ :

1. सं. राजकिशोर, बच्चे और हम, पृ. 82
2. सं. परमानंद श्रीवास्तव, समकालीन हिंदी कविता, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली,पृ. 232
3. अनामिका, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 82
4. अंजना भट्ट, मेरे बच्चे, मेरे प्यारे, www.kavitakosh.org/anjanabhatt
5. अंजना भट्ट, मेरे बच्चे, मेरे प्यारे, www.kavitakosh.org/anjanabhatt
6. आशीष त्रिपाठी, बेटी का हाथ -1,www.kavitakosh.org/ashishtripathi
7. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली,पृ. 75
8. ज्ञानेन्द्रपति, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 23
9. आलोचना, अंक 49, पृ. 69
10. अनामिका, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 84
11. आशीष त्रिपाठी, बेटी का हाथ-3, www.kavitakosh.org/ashishtripathi
12. हेमंत कुकरेती, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 77
13. अनामिका, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.108
14. अच्युतानंद मिश्र, बच्चे-1,www.kavitakosh.org/achayutaanandmishra
15. अनामिका, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.108

16. नीलेश रघुवंशी, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 44
17. लीलाधर जगूड़ी, भय भी शक्ति देता है, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 73
18. मनीषा झा, समय, संस्कृति और समकालीन कविता, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, पृ. 187
19. ज्ञानेन्द्रपति, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 21
20. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली,पृ. 15
21. रंजना जायसवाल, बच्ची की फरियाद, www.kavitakosh.org/ranjana-jaiswal
22. सविता सिंह, नींद थी और रात थी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, पृ.101
23. भगवत रावत, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 106
24. मधुरिमा सिंह,भ्रूणकाया, www.kavitakosh.org/madhurimasingh
25. सविता सिंह, पचास कविताएँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 27

गौर आवासन,
रविन्द्रपल्ली,
माटीगाड़ा,
जिला-दार्जिलिंग-734010,
पश्चिम बंगाल

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' की 'बस एक ही इच्छा' में चित्रित स्त्री संवेदना

डॉ. पठान रहीम खान

भारतीय समाज में स्त्री सदियों से प्रताड़ित होती आ रही है। उसके साथ समाज में लगातार अन्याय ही हो रहा है। बाहर की अपेक्षा वह घर की चारदीवारी में ज्यादा दबी हुई है परन्तु वर्तमान समय में वह शिक्षित एवं सचेत होकर, नौकरी करती हुई परिवार की पालनहार बन गयी है। स्त्री के इस आत्मबल, साहस और संघर्ष-चेतना के विविध संदर्भों को आज के अनेक कथाकारों ने अपने लेखन में चित्रित किया है। विशेषतः इक्कीसवीं सदी के लेखकों ने स्त्री के युग-परिवेश को केंद्र में रखकर उसके विविध पारिवारिक संदर्भों, उसके संघर्ष एवं चेतना को प्रस्तुत किया है। इक्कीसवीं सदी के लेखकों में डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' का नाम विशिष्ट है। इनके साहित्य में भी स्त्री-जीवन संबन्धी अनेक मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक समाज में स्त्री अनेक तरह से स्वावलंबी हुई है। रमेश पोखरियाल 'निशंक' ने अपनी कहानी 'कितना संघर्ष और' में स्वावलंबी स्त्री का चित्रण किया है, जो अपने भाई-बहनों के लिए अपने सपनों को भी भूल जाती है। वर्तमान समय में जहाँ स्त्री आजाद हुई है, वहीं उसके अलग-अलग रूप भी हमें दिखने लगे हैं परन्तु पुरुषवादी समाज की सोच में बदलाव न आने के कारण उसे आज अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। लेखक ने अपनी कहानियों के माध्यम से स्त्री की ऐसी ही विभिन्न संवेदनाओं को चित्रित किया है।

स्त्री के शिक्षित होने से पूरी पीढ़ी शिक्षित होती है। वर्तमान समय में स्त्री सिर्फ घर की चारदीवारों में नहीं रहती है, बल्कि वह एवरेस्ट भी चढ़ रही है, उड़ान भी भर रही है। डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक की 'कितना संघर्ष और' कहानी में श्वेता की प्रेरणा और उसके आत्मविश्वास का चित्रण हुआ है। श्वेता का परिवार बड़ा है और उसके पिता गैर-जिम्मेदार हैं, फिर भी वह अपने परिवार की विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए पढ़ाई में प्रथम आती है। जैसे कहा जाता है कि कष्टों का फल अवश्य मिलता है और वह कार्य श्वेता कर दिखाती है - 'इन विषम परिस्थितियों में भी श्वेता का प्रथम आना, न केवल अपने आप में एक अनोखा उदाहरण था, बल्कि अभावों में पल रही कुंठित होती प्रतिभाओं के लिए प्रेरणा का विषय भी था। श्वेता ने बाधा और विडंबनाओं की सभी श्रृंखलाओं को तोड़कर अपनी जैसी सैकड़ों लड़कियों को विश्वास दिला दिया था कि अभावों के काँटों में पलकर कड़वा से कड़वा घूँट पीते हुए, अन्याय और अत्याचारों के पाटों में पिसते रहने पर भी एक दिन सत्य की विजय अवश्य होती है और सफलता उसके चरण चूमती है।'[1]

इस कहानी में श्वेता के संघर्ष और प्रेरणा का चित्रण हुआ है। जब श्वेता को देखने

के लिए रमेश उसके पास जाता है, तो श्वेता का संघर्षशील व्यक्तित्व देखकर द्रवित हो उठता है - 'मुझसे श्वेता का रोना न देखा गया और मैं कमरे से बाहर चला आया। इतने वर्षों में आज पहली बार मैंने उसकी आँखों में आँसू देखे थे। वह श्वेता जो कठिनाइयों में भी हमेशा मुस्कुराती नजर आती थी, आज बेबस हो आँसू बहाए जा रही थी।'[2]

इस कहानी में श्वेता की शैक्षणिक चेतना का चित्रण भी हुआ है। इस कहानी में श्वेता अपने भाई-बहन को शिक्षित कराना चाहती है। एक स्वावलंबी स्त्री पारिवारिक बोझ न बन कर, अपना भार खुद उठाती है एवं अपने भाई-बहनों के सपनों को खुद का स्वप्न बना देती है - 'इस पगली ने चिंता कर-कर के अपना नाश मार दिया है। अब तो विनय भी चौदह वर्ष का हो गया, अपना पेट भरने के लिए कुछ तो कर ही सकता है। ये श्वेता भी तो जिद्दी है। कहती है कि - 'भाई-बहन को किसी भी कीमत पर पढ़ाना है। लेकिन अब मैं इसकी जिद चलने नहीं दूँगी, इसे इतनी भाग-दौड़ नहीं करने दूँगी।'[3] कहानीकार इस कहानी के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि समाज में स्त्री-शिक्षा अत्यंत आवश्यक और जरूरी भी है।

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' की 'याद रखूँगा' कहानी में टूटते पारिवारिक संबंधों का चित्रण किया गया है। इस कहानी का पात्र 'मैं' कहता है कि - 'साहब, वह काम करना नहीं चाहती। मेरी शादी को बारह साल हो गए हैं, इन बारह सालों में वह अधिकांशतः गाँव में अपनी माँ के पास रही है।'[4] वह आगे कहता है कि- खूब समझाया साहब, खूब! अभी पिछले वर्ष समझाते-समझाते भी नहीं समझती तो मैंने दो-चार हाथ जड़ दिए, फिर क्या था भाग गई और बड़ी मुश्किल से बुलाया भी तो फिर चल दी।'[5]

परिवार में पति-पत्नी के बीच संबन्धों में हमेशा समझौता होना चाहिए। दोनों में विश्वास, अटूट स्नेह-प्रेम होना जरूरी है। तभी जाकर वैवाहिक सम्बन्ध सुखदायक बन सकते हैं। कभी-कभी वैवाहिक जीवन में तनाव एवं कलह का वातावरण आ जाता है। यह वर्तमान समय में आम बात हो गयी है। पति-पत्नी में थोड़ी सी उलझन आई तो भी रिश्ता खत्म एवं बात तलाक पर आ जाती है। डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' की 'राधा' कहानी इसी समस्या पर लिखी गई है, जिसमें राघव संयम रखता हुआ अपनी पत्नी राधा से व्यवहार करता है परन्तु उसे कभी नुकसान नहीं पहुँचाता है। हमेशा राधा को समझाने की कोशिश करता है। वह अपनी पत्नी से कहता है कि - 'सुनो राधा! आज तक मैं तुम्हारी हर बात मानता रहा, मैंने हमेशा ही कोशिश की कि तुम्हें कहीं तनिक भी पीड़ा न पहुँचे। मैंने आज तक सभी अच्छी-बुरी बातों को दिल में दबाये रखा, सिर्फ इसलिए कि तुम आज नहीं तो कल अवश्य इस बात को समझोगी, पर तुमने कभी मुझे समझने की कोशिश नहीं की।'[6]

इस कहानी में संयुक्त परिवार का टूटन चित्रित हुआ है। राघव अपने परिवार के साथ अपनी माँ और छोटे भाई को रखना चाहता है। छोटे भाई को अपने पास रखकर पढ़ाना चाहता है। लेकिन राघव की पत्नी राधा इस प्रकार के व्यवहार को नहीं मानती है। राघव

अपनी माँ और पत्नी को अत्यंत प्रेम करता है। वह राधा की बातों से परेशान तो हो जाता है, परन्तु कभी उसे छोड़ने की बात नहीं करता है। बल्कि उसके व्यवहार में बदलाव लाने की कोशिश भी करता है। वह राधा से कहता है कि - 'तुम सोचती तो इस तरह बोलती ही नहीं, तुम्हें थोड़ा भी महसूस नहीं होता कि सब कुछ होते हुए भी छोटा भाई, अनाथों की तरह और माँ बेसहारों की तरह दिन गुजार रहे हैं।'[7]

इस कहानी में परिवार में राधा और राघव के विचारों में भिन्नता के कारण उनमें कभी भी एक राय नहीं बनती है। राघव की बातों को राधा समझने की कोशिश भी नहीं करती है। वह हमेशा अपने पक्ष को ही सही मानती है। जैसे- 'राघव ने गरीबी को अधिक निकटता से देखा था। वह अभावों का मुँह तक न देखा था। इस लिए तो राधा की बातें उसे कई बार हीनता की चार दीवारी में धकेल देती थीं।'[8]

इस कहानी में माँ-पुत्र के संबंधों में वेदना की तड़प देखने को मिलती है। जैसे कि - 'अब जब भी उसे माँ और भाई की याद आती, उसका शरीर काँप उठता, अंग-प्रत्यंग शिथिल हो जाते। वह असीम वेदनाओं के बीच घिर जाता।'[9] वह अपनी माँ और भाई की याद करता हुआ दुःखी होता है- 'उधर माँ की चिंता भी उसे खाये जा रही थी। उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय उसे गाँव में उपेक्षित छोटे भाई का भविष्य अंधकारमय नजर आता। वह भाई को साथ लेकर शहर के किसी स्कूल में भर्ती कराना चाहता था, किन्तु यह राधा की इच्छा के बिना कहाँ संभव था।'[10]

इस तरह इस कहानी के राधा और राघव दोनों में हर बात में अन-बन होती है। उसके घर देर से आने पर राधा-चिल्लाते हुए बोलती है कि- 'मुझे खाना ही होता तो इतनी देर इंतजार क्यों करती? एक तो इतनी देर से घर पहुँचो और फिर ऊपर से मुझ पर रौब भी डालो। अब मुझसे नहीं हो सकेगा इतना कि मैं तुम्हारे घर का काम भी सँभालूँ और तुम्हारी बातें भी सुनूँ।'[11] इस प्रकार वह अपनी अहंकार जनित चेतना का संकेत देती है।

समाज या परिवार में बदलाव बुरी चीज नहीं है। यदि बदलाव अच्छी चीजों के लिए होता है, तो उसमें कोई समस्या नहीं है। 'निशंक' की 'राधा' कहानी में राधा सही को अपनाने के लिए सोचती है। आखिर वह राघव के लिए सोचती है और आत्मविश्लेषण करती है- 'आज उसे आत्मविश्लेषण का अच्छा मौका मिला था। घंटों और माँ को साथ रखने की बात है और फिर जिनके लिए राघव मुझसे दूर रहने को भी तैयार है, वे हैं तो अपने ही, हमारा फर्ज बनता है उनकी चिंता करना। जब अपने ही अपने नहीं रहेंगे तो पराए क्या कद्र करेंगे। भाई को लिखाने-पढ़ाने की बात भी तो जायज है और फिर माँ का हमारे सिवाय है भी कौन?'[12]

इस कहानी में बनते सास-बहू के संबंधों का चित्रण भी हुआ है। राधा अपनी सास को अपने पास रखना चाहती है। वह अपने आपको बदलती है। इस लिए वह शहर से गाँव आती है और अपनी सास से कहती है कि- 'वे बाहर अपने आफिस के किसी काम से गए हैं। उन्हें अचानक एक मीटिंग में जाना पड़ा। जाने से पहले मुझे कह गए

थे कि- तुम माँ और भाई को गाँव से शहर ले आना, सो मैं आप लोगों को लेने चली आई।'[13] जब उसकी माँ शहर आने से मना करती है, तो राधा अपनी सास से कहती है कि - 'नहीं माँ! मैं तो हर हालत में भी यहीं गाँव में आप के पास रहूँगी।'[14]

इस कहानी में राघव की माँ का वात्सल्य का चित्रण हुआ है। राघव की पत्नी राधा उसकी सास को अपने साथ शहर लेकर जाना चाहती है, तो वह मना करती है और उसकी बहू राधा से कहती है कि - 'हमेशा से अकेला रहा वो, कोई सुख नहीं देखा उसने, बड़ी मुश्किल से उसने शादी की, कहाँ करना चाहता था शादी ...। नहीं-नहीं बहू उसका तो तुमको ही ध्यान रखना है।'[15] इस प्रकार राघव के प्रति उसकी माँ वात्सल्य की भावना व्यक्त करती है।

इस कहानी में पूरी कहानी राधा के इर्द-गिर्द ही धूमती है। वह पूरे परिवार को टूटने से बचाती है। राधा पहले तो अपने पति राघव की माँ और भाई को अपने पास नहीं रखना चाहती है लेकिन अंततः वह आत्मविश्लेषण कर अपनी सास और देवर को अपने घर ले आती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से राघव खुश होता है - 'और जब माँ ने पूरी बात बतलाई तो राघव गद्गद हो गया। उसके दिल में राधा के प्रति पहले से भी कई गुना अधिक स्नेह उमड़ पड़ा। वह इतना भावुक हो उठा कि -अपनी आँखों में आती आँसुओं की धारा को प्रयास करने पर भी रोक नहीं सका। उसे लगा जैसे उसे कोई नई जिंदगी मिल गई है, जिसे पाने के लिए वह एक अरसे से तड़प रहा था।'[16] वर्तमान समय में जब एक स्त्री को समझने का मौका नहीं दिया जाता, उसकी गलतियाँ सुधारने की कोशिश नहीं की जाती तो परिवार टूटते हैं। कहानीकार ने राघव के माध्यम से यही दिखाया है कि- वह अपनी पत्नी को समझाता है। उसकी कमियों को दूर करता है और दोनों की आपसी समझ से रिश्ते भी अच्छे होने लगते हैं।

आज भी हमारे समाज में अंधविश्वास जैसी कुप्रथा सदियों से चली आ रही है। इस अन्धविश्वास के कारण कई लोगों की जान भी चली जाती है। जब घर में बेटे की मृत्यु हो जाती है तो सारा दोष बहू को ही दिया जाता है। उसे यातनाएँ दी जाती हैं, ताने दिए जाते हैं। आज भी ऐसे अन्धविश्वासों पर लोग भरोसा कर रहे हैं। डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' की 'अपना-पराया' कहानी में बहू और सास-ननद के बिगड़ते संबंधों का चित्रण हुआ है। इस कहानी की मृदुला का पति के मर जाने के बाद घर में जीना दूभर हो जाता है। वह जानती है कि उसका मायके जाना भी बंद हो गया है। वह आगे और भी सतायी जाती है -'शायद यही कारण था कि- घुट-घुटकर पिसते जीवन में भी वह एक शब्द तक मुँह से न निकाल पाई थी। परिवार में सब ठीक थे, किन्तु सास उग्र थी। एक ननद भी थी, जो रात-दिन हाथ धोकर उसके पीछे पड़ी रहती थी। बात-बात में टोका करती थी। कई बार तो कमरा बंद कर जी भर कर मारा था, माँ-बेटी ने उसे।'[17]

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' के 'अपना पराया' कहानी में भाभी-देवर के वात्सल्य पूर्ण व्यवहार का चित्रण भी हुआ है। पति की मृत्यु के बाद मृदुला को घर में अनेक

कष्ट दिये जाते हैं। इन सब को देखता हुआ उसका देवर राहुल तरस खाता है -राहुल को अब अच्छा नहीं लगता था। ऐसा न करने के विरोध में वह न जाने कितनी बार माँ से पिट चुका था। परिवार में ही एक विरोधी की भाँति वह जीवन जीने लगा। छोटा न होता, तो न जाने क्या-क्या कर देता। भाभी पर हो रहे तरह-तरह के अत्याचारों ने उसकी मानसिकता को ही बदल दिया था। भाभी के मायके की दशा सुनकर वह और भी काँप उठता, लेकिन कर भी क्या सकता था।'[18]

परिवार हो या समाज हो, हमेशा एक स्त्री को ही सब कुछ सहन करना पड़ता है। इनकी 'अपना पराया' कहानी में विवाहित स्त्री की विवशता एवं उसकी मजबूरी का चित्रण हुआ है। जब मृदुला का विवाह होता है तो उसकी माँ मृदुला को हिदायत देती है कि - 'चाहे कुछ भी हो जाए मुँह न खोलना मारने व धक्का दे-देकर निकालने पर भी कदम घर से बाहर न रखना ... अब किसी प्रकार वहीं पर दिन काटने हैं। तेरी इज्जत और हमारा मान उसी में है। मृदु एक बात याद रखना जिस दिन भी मैं तुम्हारे बारे में किसी प्रकार की भी बुरी बात सुनूंगी। वह दिन मेरा अंतिम दिन समझना, और हाँ, यहाँ आने की कोई आवश्यकता नहीं, बिलकुल न देखना इस रास्ते को ...।'[19] इस प्रकार इस कहानी में कहानीकार ऐसी मानसिकता को दूर करने का प्रयास करते हैं, जिसमें एक नारी पिसती रहती है। उसका हक उससे छीन लिया जाता है। वह चाह कर भी कुछ कर नहीं सकती, क्योंकि शादी के बाद मायके के रास्ते भी उसके लिए बंद हो जाते हैं।

जब मनुष्य के जीवन में अकेलापन एवं तनाव आ जाता है, तब वह उल्टा-सीधा सोचने के लिए मजबूर हो जाता है। वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है और आत्महत्या का सहारा ले लेता है। 'निशंक' जी की 'नई जिंदगी' कहानी में इसका सही चित्रण किया गया है। इस कहानी में टूटते पारिवारिक संबंध और दुष्यंत की पत्नी का आत्महत्या करने का चित्रण हुआ है। दुष्यंत अपने अंतर्मन में दुखी होता है। जैसे कि - 'इसी लालचीपन और दुगुर्णों के कारण पत्नी से उसकी एक न बनती थी। जब तक दुष्यंत नौकरी पर रहा। पत्नी को कुछ राहत थी किन्तु पेंशन आ जाने के बाद चौबीस घंटे शराब में धुत व अनाप-शनाप बकता रहता था। पत्नी को एक क्षण गुजरना दूभर हो गया था। संतान के अभाव से दुखीः व दुष्यंत के चिड़चिड़े स्वभाव से परेशान होकर आखिर एक दिन उसने आत्महत्या कर ली।'[20] इस प्रकार व्यक्ति दुखः और आवेश में संयम खो बैठता है।

विभिन्न विद्वानों का कहना है कि- जब स्त्री शिक्षित होती है, तो पूरा समाज शिक्षित होता है। 'निशंक' ने अपनी कहानियों में स्त्री शिक्षा पर अधिक जोर दिया है तथा वे उसके स्वावलंबी होने के पक्षधर रहे हैं। इनकी कहानी 'अपना पराया' में स्त्री की विवशता को दिखाया गया है कि कैसे एक स्त्री ससुराल में प्रताड़ित होने के बाबजूद मायके नहीं जाती क्योंकि मायके से तो उसे यही सीख मिलती है कि- 'बहू की डोली मायके से उठती है और अर्थी ससुराल से'। इस दकियानूसी सोच से कितनी स्त्रियाँ चाह कर भी आवाज नहीं उठा पाती है। लेखक ने घरेलू स्त्री की वेदनाओं को बखूबी चित्रण किया है।

संदर्भ :-

1. मैं और तुम-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 27 (बस एक ही इच्छा)
2. कितना संघर्ष और-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 29 (बस एक ही इच्छा)
3. कितना संघर्ष और-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 30 (बस एक ही इच्छा)
4. याद रखूँगा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 35 (बस एक ही इच्छा)
5. याद रखूँगा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 36 (बस एक ही इच्छा)
6. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 54 (बस एक ही इच्छा)
7. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 55 (बस एक ही इच्छा)
8. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 56 (बस एक ही इच्छा)
9. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 57 (बस एक ही इच्छा)
10. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 57 (बस एक ही इच्छा)
11. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 57 (बस एक ही इच्छा)
12. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 59 (बस एक ही इच्छा)
13. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 59 (बस एक ही इच्छा)
14. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 60 (बस एक ही इच्छा)
15. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 60 (बस एक ही इच्छा)
16. राधा-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 61 (बस एक ही इच्छा)
17. अपना पराया-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 72 (बस एक ही इच्छा)
18. अपना-पराया-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 72 (बस एक ही इच्छा)
19. अपना पराया-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 72 (बस एक ही इच्छा)
20. नई जिंदगी-डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक, पृ.सं. 50-51 (बस एक ही इच्छा)

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी,
गच्चीबौली, हैदराबाद-500032

'नत्थी टूट गयी थी' कहानी में चित्रित वेश्या जीवन

डॉ. जाकिर हुसैन गुलगुंदी

दुनिया भर में देह व्यापार करने वाले वे लोग हैं, जो जीवन के निकृष्टतम रूपों को झेलते हुए जटिल बहुआयामी समाज व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर हैं। ये स्त्रियाँ गरीब समुदाय के गरीब परिवारों की सदस्य हैं, निकृष्ट मानी गई नस्लों और जातीय अल्पसंख्यकों की सदस्य हैं। उन्हें अपमान एवं शोषण से रोज गुजरना पड़ता है। उनमें से कुछ जबरन यौन-कर्म के क्षेत्र में धकेली गई हैं तो कुछ अपनी गलती से इस दलदल में फँसी हैं। अधिकांश वेश्याएँ ऐसी होती हैं, जो किसी मजबूरी के कारण या धोखे से इस बाजार में आती हैं। वैश्वीकरण के चलते आज वेश्या-व्यवसाय का स्वरूप भी बदल गया है। गणिका, देवदासी एवं कोठेवाली से होते हुए आज कॉल-गर्ल के रूप में स्त्रियाँ अपनी देह बेच रही हैं। आजकल पुरुष भी इस व्यसाय में अपनी देह बेच रहे हैं। दिल्ली जैसे बड़े-बड़े शहरों में जिगोलो (पुरुष वेश्या) की मंडी लगती है। युवा लेखक राकेश शंकर भारती का कहानी संग्रह 'कोठा नंबर 64' दिल्ली के जे.बी. रोड पर वेश्या व्यवसाय करने वाली वेश्याओं के जीवन को चित्रित करने वाला एक अनोखा कहानी संग्रह है।

21वीं सदी में वेश्याओं की स्थिति बद से बदतर बनती जा रही है। यूरोप में जो लड़की जिस्मफरोशी के धंधे में आती है, वह खुद अपनी इच्छा से आती है परंतु भारत में वे माता-पिता या रिश्तेदार से धोखा खाकर इस व्यसाय में आती हैं। अक्सर यह देखा गया है कि लड़कियाँ प्रेम जाल में फँस कर वेश्या बनने पर मजबूर हो जाती हैं। 'नत्थी टूट गई थी' एक ऐसी ही वेश्या की कहानी है जो गर्भधारण करने के बाद अपने प्रेमी से तिरस्कृत होकर कोठे पर पहुँचती है। अंत में उसी व्यक्ति से उसकी बेटी की नत्थी टूटती है।

भारत के प्रत्येक राज्य में ऐसा एक इलाका अवश्य होता है, जो वेश्यावृत्ति के लिए प्रसिद्ध होता है। देश की राजधानी दिल्ली में भी 'जीबी रोड' ऐसा इलाका है जो वेश्यावृत्ति के लिए बदनाम है। इस इलाके में खुलेआम वेश्या व्यवसाय चलता है। कहानीकार राकेश शंकर भारती ने इसी इलाके को केंद्र में रखकर 'कोठा नंबर 64' कहानी संकलन का सृजन किया है। 'नत्थी टूट गई थी' इस संग्रह की विशिष्ट कहानी है। कहानी की नायिका भँवरी अपने प्रेमी से गर्भ धारण करती है और उससे तिरस्कृत होकर वेश्या बनने पर मजबूर हो जाती है। जब उसकी बेटी जवान होती है तो वह उसे भी अपनी वृत्ति में धकेल देती है। विडंबना यह है कि भँवरी जिस व्यक्ति से प्यार में धोखा खाती है, वही व्यक्ति पाँच लाख रुपये देकर भँवरी की बेटी की नत्थी तोड़ता है।

भँवरी अपनी बाली उम्र में जयवीर सिंह से प्रेम करती है। उससे तिरस्कृत होकर भले ही वह वेश्या-जीवन जी रही हो लेकिन वह अपने पहले प्यार को अपने जेहन के

एल्बम में कैद करके रखती है- 'हर कोई बाली उम्र में हुए इश्क को जीवन भर याद रखता है। बाली उम्र के इश्क में जो मजा है, जो उमंग है, वह कभी भी जिंदगी में लौट कर नहीं आता है। जिंदगी में कितने महबूब आते-जाते रहते हैं और इनकी यादें भी साए की तरह होती हैं।'[1] भँवरी जब भी ग्राहकों के साथ हम बिस्तर होती है तो अपने ग्राहकों में जयवीर सिंह को देखती है - 'जितने भी मर्द उससे बिस्तर साझा करते थे, तमाम मर्दों में अपने प्यारे महबूब जयवीर सिंह की परछाई झलकने लगती थी। चाह कर भी यह परछाई उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हो पाती थी।'[2]

कोई भी स्त्री चाहकर इस व्यवसाय को नहीं अपनाती। गरीबी, तस्करी या अपने महबूब से तिरस्कृत स्त्रियाँ ही इस धंधे में आती हैं। कोई स्त्री इस व्यवसाय में आती है तो उसके पीछे समाज का पूरा-पूरा हाथ होता है। समाज में जयवीर जैसे पुरुषों की संख्या कम नहीं है जो मोहब्बत के नाम पर अपनी काम तृष्णा को मिटाते हैं और अपनी प्रेमिका को वेश्या बनने पर मजबूर कर देते हैं।

वैसे तो वेश्याओं के बच्चे नहीं होते हैं, होते भी हैं तो असुरक्षित यौन संबंध के कारण या अपने प्रेमी से उपहार के रूप में मिले होते हैं। 'नत्थी टूट गई थी' कहानी की नायिका भंवरी को भी अपने प्रेमी से मिले उपहार के रूप में एक बेटी है। वेश्याओं के जीवन की एक विडंबना यह भी है कि उनकी कोख से जन्म लेनेवाले बच्चें को पता नहीं रहता कि उनके पिता कौन हैं। वेश्याओं को भी इसका अंदाजा नहीं होता कि उनकी कोख में किसका बच्चा पल रहा है। मधु काँकरिया कृत 'सलाम आखिरी' उपन्यास के एक दृष्टांत में गायत्री अपने बच्चे को लेकर कहती है-'यह बच्चा किसी ग्राहक का ही है, किंतु बोल नहीं सकती है वह यह बच्चा किसका है। आमी बुझते पहला ना पाए (मैं समझ नहीं पाई)'[3] और एक संदर्भ में पिंकी सुकीर्ति से कहती है-'मेरा पता नहीं किसकी औलाद हूँ। औलाद का पता नहीं किस बाप से है, साला बाप नहीं कोई खुदा हुआ, बस सुना ही सुना, देखा तो आज तक नहीं।'[4] भँवरी की बेटी शीला की भी यही स्थिति है।

दुनिया में सभी धंधों या नौकरी में उम्र के साथ-साथ लोगों की पदोन्नति होती है और तनख्वाह में भी इजाफा होता है लेकिन वेश्या व्यवसाय के अलावा शायद ही कोई ऐसा व्यवसाय हो जिसमें बढ़ती उम्र के कारण तनख्वाह में गिरावट आए। राकेश शंकर भारती की कहानी 'कोठा नंबर 64' में पार्वती अपने जेहन में विचार करती है 'दुनिया के हर किसी धंधे में उम्र के साथ-साथ लोगों को पदोन्नति मिलती है, तनख्वाह में भी इजाफा होता है। कारोबार में भी समय के साथ-साथ आमदनी में भी बढ़ोतरी होती है। लेकिन दुनिया में वेश्यावृत्ति ही एक ऐसा पेशा है, ऐसा धंधा है, जहाँ अनुभव और समय बढ़ने के साथ-साथ आमदनी में और जिस्मफरोशी की शुल्क में गिरावट होती जाती है। पदोन्नति भी नहीं मिल पाती है।'[5]

भँवरी की उम्र बढ़ने के साथ उसके पास आने वाले ग्राहकों की संख्या भी धीरे-धीरे कम होने लगती है। वह ग्राहकों को पटाने के लिए एड़ी चोटी का पसीना बहाया करती

परंतु उसके पास एक भी ग्राहक नहीं आते। वह अपनी जवानी के दिनों को याद करती है - 'उस जमाने में जिस तरह से मेरे हुस्न के दरवाजे पर भीड़ रहती थी और कितने निराश हो जाते थे तो मेरे दिल में दर्द होने लगता था। काश आज वह ग्राहक फिर से मेरे पास आ जाएँ तो मैं किसी को भी लौटकर यहाँ से जाने नहीं दूँ। सभी ग्राहकों को बड़े प्यार से सवारी करा सबको जी भर कर संतुष्टि दूँ।'[6]

जब एक बार कोई स्त्री इस दलदल में फँस जाती है तो लाख कोशिश करने पर भी इस दलदल से बाहर नहीं निकल पाती और समाज में अपने साथ होने वाले व्यवहार के कारण इस दलदल से बाहर नहीं निकलना चाहती। वेश्याओं की विडंबना यह है कि जिस दलदल में फँस कर अपमानित जीवन व्यतीत करती रहती है। उसी व्यवसाय में अपनी बेटियों को भी लगा देती हैं - 'बेटी, जिंदगी की सच्चाई कबूल करना सीखो। यही जिंदगी है, यही तो हम जैसे रंडियों और औरतों की सच्चाई है।'[7]

वेश्याओं के पास आने वाले ग्राहकों में कम उम्र की लड़कियों की अधिक माँग होती है। ग्राहकों की धारणा रहती है कि कम उम्र की लड़कियों के साथ हमबिस्तर होने से अधिक सुख प्राप्त होता है। यही कारण है कि आज कोठे पर 15-16 साल की लड़कियाँ अधिक दिख पड़ती हैं। अजय कुमार शर्मा की कहानी 'वेश्या एक प्रेरणा' में वेश्या राकेश से कहती है-'होती होंगी माँ ममता की मूरत, होते होंगे पापा अपनी बेटियों के हीरो'..मगर मेरे माँ-बाप ने मुझे बुरे ख्याल के अलावा और कुछ नहीं दिया। 13 साल की उम्र में मेरे माँ-बाप ने मुझे अधेड़ उम्र के मर्दों के आगे डाल दिया। मेरा बचपन मेरे बाप के उम्र वाले मर्दों के साथ गुजारने को मजबूर कर दिया। जो उम्र बच्चों के साथ छुआ...खेलने की थी, उस उम्र में मैं कुछ और ही खेल खेल रही थी।'[8]

भारत के कोठों पर कुँवारी लड़कियों को वेश्या व्यवसाय में उतारने से पहले नत्थी तोड़ने की रस्म से गुजरना पड़ता है। इसका आयोजन उसी लड़की के लिए किया जाता है, जो पहली बार इस व्यवसाय में उतरती है। कुँवारी लड़कियों की नत्थी तोड़ने के लिए बड़े-बड़े सेठ-साहुकार लाखों रुपए खर्च करने के लिए राजी हो जाते हैं। कई जगहों पर तो लड़कियों की बोली भी लगाई जाती है। नत्थी तोड़ने में और कुँवारी लड़कियों के साथ रात गुजारने के दौरान मिलने वाले पैसों को देखकर एक ही लड़की को कुँवारी बता कर एक से अधिक बार ग्राहकों के पास भेजा जाता है। भँवरी इस संदर्भ में कहती है-'बेटी, यह तो मर्दों का भ्रम है कि नत्थी तोड़ने में सबसे ज्यादा आनंद मिलता है। नथी टूट भी जाए तो क्या फर्क पड़ता है। एक ना एक दिन कोई न कोई मर्द नत्थी तोड़ ही देगा।'[9]

बढ़ती उम्र में जब वेश्याओं के पास आने वाले ग्राहकों की संख्या कम हो जाती है तो वो आर्थिक रूप से टूट जाती हैं। उनके पास आने वाले ग्राहक भी ऐसे होते हैं, जो कम पैसों में काम चलाने की कोशिश करते हैं। ऐसे संदर्भ में मजबूर वेश्या ऐसे ग्राहकों के साथ हो लेती है लेकिन इस प्रकार के ग्राहकों से मिलने वाले पैसों से गुजारा मुश्किल होता है। किसी वेश्या की बेटी हो तो उसी को अपना उत्तरदायी मानने लगती है, उसे इस

बाजार में लाने का प्रयत्न करती है। उनकी यही इच्छा रहती है कि नत्थी उतराई के दौरान एक अच्छा सेठ मिल जाए और अधिक से अधिक पैसे लुटाए जिससे उसकी आर्थिक स्थिति सुधर जाए-'खैर, कोई बात नहीं, शीला की नत्थी तोड़ने के एवज में सेठ जी से जो पैसे मिलेंगे, उनसे हम दोनों को काफी राहत मिलेगी। हम दोनों की गरीबी हमेशा के लिए दूर हो जाएगी। फिर शीला भी धंधे में कूद जाएगी। मुझसे भी ज्यादा कमाएगी।'[10]

प्रत्येक माँ अपनी बेटी के प्रति यही इच्छा रखती है कि वह अच्छी नौकरी करे और एक अच्छे वर के साथ उसकी शादी हो जाए। वह सुख से रहे, कोई कष्ट न आए परंतु एक वेश्या अपनी बेटी के प्रति कुछ और ही सोचती है। वह अपनी बेटी को भी उसी व्यवसाय में लाने के सपने देखती है जिस व्यवसाय में वह खुद संलग्न है। विशेषकर एक वेश्या की दृष्टि अपनी बेटी की 'नथ उतराई' पर होती है। यह वह अवसर होता है जब एक वेश्या लाखों रुपए कमाती है। भँवरी वीर बहादुर नामक दलाल से अपनी बेटी शीला की नथ उतराई का सौदा पटाने के लिए कहती है तो दलाल वीर बहादुर कहता है - 'हाँ एक सेठ जी से बात हुई है। दिल्ली का ही कोई बड़ा बिजनेसमैन है। उसे अपने मोबाइल से शीला का फोटो दिखाया। उसे माल पसंद है। मैंने उसे बताया कि लड़की बिल्कुल वर्जिन(कुँवारी) है। काफी टंच माल है। किसी ने अभी तक उसे स्पर्श तक नहीं किया है। 4 लाख देने को तैयार है।'[11]

शीला अपनी माँ के व्यवसाय में रुचि नहीं रखती परंतु अपनी माँ के लिए वेश्या व्यवसाय अपनाने के लिए तैयार हो जाती है। भँवरी कहती है-'तो बेटी सुन मेरी बात, सेठ जी के साथ 2 हफ्ते किसी तरह से गुजार ले। इसी बहाने हम दोनों की गरीबी भी दूर हो जाएगी। उसके बाद मन करें तो धंधा करना।'[12]

कोठे पर ग्राहकों की माँग को देखते हुए कम उम्र की लड़कियों को अधिक रखा जाता है। सेठ शीला के लिए चार लाख देने के लिए राजी हो जाता है। जब वह शीला को देखता है तो उसे ऐसा एहसास होता है कि पैसे बर्बाद नहीं हुए हैं- 'बिल्कुल टंच माल मिला ठीक वैसा ही जैसा मोबाइल में देखा था। वसंत ऋतु में खिलने वाली कोई कली मेरे हाथ लग गई है।'[13]

इस धंधे में आने वाली अधिकतर स्त्रियाँ या तो धोखे से इस बाजार में लाई जाती हैं या फिर नाजायज संबंध या बाली उम्र में प्यार में मिले धोखे के कारण इस व्यवसाय को अपनाती हैं। भारतीय समाज में नाजायज संबंधों से जन्मे बच्चों या कुँवारी लड़की के कोख से जन्मे बच्चों को अपमान की दृष्टि से देखा जाता है। इसी अपमान से बचने के लिए वे वेश्यालयों का दरवाजा खटखटाती हैं। उनकी कोख से जन्म लेने वाले बच्चों को यह तक पता नहीं रहता कि उनके पिता कौन हैं। अपनी कोख से जन्मी बच्ची के लिए वह कोठा नंबर 64 पहुँचती है। शीला बड़ी होने के बाद अपनी माँ से अपने पिता के बारे में पूछते हुए कहती है-'माँ मेरे बाप देखने में कैसे थे? वह अब कहाँ रहते हैं? मेरी हार्दिक इच्छा है कि एक बार अपने बाप का मुँह देखूँ। बस एक बार। मैं उससे कुछ

भी नहीं बोलूँगी मेरा एक ही सपना है। वह देखने में कैसा है? वह कैसे बातें करता है? उसकी आवाज कैसी है? वह कैसे हँसता है? वह कैसे चलता है?'[14]

वेश्याओं के बच्चों को अपने पिता कौन है इसके बारे में कुछ जानकारी नहीं होती। यहाँ तक कि कभी-कभी यह भी देखने को मिलता है कि स्वयं वेश्या को भी पता नहीं रहता है कि उनकी कोख से जन्म लेने वाले बच्चे का पिता कौन है। भँवरी ने अपनी बाली उम्र में जिस व्यक्ति से प्रेम किया था, जिससे उपहार के रूप में शीला का जन्म हुआ था,16-17 साल बाद वही जयवीर सिंह सेठ बनकर शीला की नथ उतराई के लिए चार लाख रुपये देने के लिए तैयार होता है। जब भँवरी जयवीर को देखती है तो वह कहती है-'जयवीर सिंह तू यहाँ। कैसे और कहाँ से? निकल जा यहाँ से दोबारा हमें मुँह मत दिलाना। मर जा चुल्लू भर पानी में डूब कर। सूअर का औलाद। भाग यहाँ। से चुल्लू भर पानी में मुँह रगड़।'[15]

भारत में जहाँ एक ओर मानवीय मूल्यों और पारिवारिक संबंधों को अधिक महत्व दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर पारिवारिक संबंधों के पतन की पराकाष्ठा की घटनाएँ सामने आती रहती हैं। इस कहानी में जयवीर सिंह अपनी जवानी में भँवरी से संबंध बनाता है और अपने बुढ़ापे में भँवरी की बेटी शीला की नत्थी तोड़ता है। यह प्रश्न उठता है कि असल में गलती किसकी थी। भँवरी की या जयवीर सिंह की, जिसका परिणाम शीला को भुगतना पड़ा। आज समाज में इस प्रकार की घटना घटती है, जिससे मानवीय संबंध और पारिवारिक संबंधों का पतन हो रहा है।

संदर्भ :

१. कोठा नं ६४, राकेशशंकर भारती, पृ. ९७, अमन प्रकाशन
२. वही पृ. ९७,
३. सलाम आखिरी, मधु काँकरिया, पृ. ७, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
४. वही पृ १०३
५. कोठा नं ६४, राकेश शंकर भारती, पृ. १६४ अमन प्रकाशन
६. वही पृ. १०२
७. वही पृ. १००
८. 'वाङमय' त्रैमासिक, सं. डॉक्टर फिरोज अहमद, १२०
९. वही, पृ. १००
१०. वही, पृ. १०३
११. वही, पृ. ९९
१२. वही, पृ. ९९
१३. वही, पृ. १०७
१४. वही, पृ. १०५
१५. वही, पृ. १०८

सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग, कर्नाटक कला महाविद्यालय,
धारवाड. कर्नाटक

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में ग्लोबल संस्कृति

डॉ. ललित श्रीमाली

इक्कीसवीं सदी में भूमंडलीकरण के कारण एक नई किस्म का अजीबोगरीब यथार्थ हमारे सामने आ रहा है, जिसमें अपसंस्कृति का प्लावन, परिवार का विखण्डन, मध्यवर्ग का बढ़ता वर्चस्व, राज्य का जन से विलगन, सामाजिक-सांप्रदायिक सौहार्द का बिखराव जैसी परिघटनाओं को गिनाया जा सकता है। इक्कीसवीं सदी में तकनीक का प्रयोग बढ़ जाने से साहित्य का स्वरूप ही बदल गया है। इस सदी के मुद्दों को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने का हिंदी उपन्यासों ने भी प्रयास किया है। उपन्यास को आधुनिक जीवन का महाकाव्य कहा जाता है। हिंदी में प्रेमचंद जैसे महान उपन्यासकार हुए हैं, जिन्होंने उपन्यास की विश्वस्तरीय ऊँचाई दी है। उपन्यास ऐसी विधा है, जिसमें यथार्थ हर हाल में रहता ही है। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण के कारण दुनिया गोल से चपटी हो गई है। आज दुनिया के एक कोने में खड़ा व्यक्ति दूसरे कोने में खड़े व्यक्ति को देख सकता है। उससे बात कर सकता है। संस्कृति का रूप स्थानीय न रहकर वैश्विक हो गया है। पूर्व व पश्चिम की संस्कृति का मिलन होने से एक नई किस्म की संस्कृति पैदा हुई है, जिसे कुछ लोग अपसंस्कृति, तो कुछ लोग सांस्कृतिक संक्रमण कह रहे हैं। भूमंडलीकरण से भारतीय संस्कृति को खतरा उत्पन्न हो गया है। सूचना तकनीक के विकास के कारण आज हम राज्य व देश की सीमा को लाँघ कर विश्व-ग्राम की तरफ बढ़ रहे हैं। आज हमारे सामने अपार संभावनाओं के द्वार खुल गए हैं। हमारा व्यवहार, सोचने, समझने और देखने के तरीके बदल गए हैं।

भूमंडलीकरण के कारण आज हम पश्चिम की संस्कृति के ज्यादा निकट पहुँच गए हैं। एक समय था जब मध्यवर्ग आर्थिक समूह से ज्यादा सांस्कृतिक समूह था और अपनी ऐतिहासिकता के साथ जीता था। क्षेत्र विशेष के लोगों की एक अलग पहचान होती थी। मुनष्य जहाँ पर जन्म लेता था, उसी स्थान पर अपना पूरा जीवन व्यतीत कर देता था। आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। रोजगार के नए-नए अवसर पैदा हो गए हैं। युवा पीढ़ी में आजीविकावाद ने जन्म ले लिया है। वर्तमान पीढ़ी बहुत जल्दी-जल्दी शहर बदल लेती है। शहर बदलते ही उनकी संस्कृति बदल जाती है। सोच बदल जाती है। पहनावा बदल जाता है। खान-पान बदल जाता है।

ममता कालिया के उपन्यास 'दौड़' के नायक पवन की तरह कितने ही पवन अपनी स्टैला के साथ माता-पिता की मयार्दाओं और परम्परागत संस्कृति की धज्जियाँ उड़ाते हुए न जाने कौन-सी मृगतृष्णा में भागे जा रहे हैं। पवन एम.बी.ए. करने के बाद अहमदाबाद में था तब उसने वहाँ कम्प्यूटर इंजिनीयर स्टैला से अपनी सगाई करके इलाहाबाद में रहने वाले अपने माता-पिता को सूचित किया कि उसने लड़की पसंद कर ली है और अगले महीने यानी जुलाई में शादी कर लेंगे। पांडे परिवार पवन की खबर पर हतबुद्धि रह गया।

आज की समस्या यह है कि नई और पुरानी पीढ़ियों के बीच मुख्यतः मध्यवर्गीय परिवारों में संघर्ष मचा हुआ है। दुनिया में चारों तरफ आज एक ही तरह की संस्कृति है जिसे हम भूमंडलीय संस्कृति कह सकते हैं। यह खुदगर्जी, मुनाफे व निर्ममता की संस्कृति है। आज की संस्कृति ऐसी संस्कृति हो गई है जिसमें नई पीढ़ी ने संबंधों के मूल्य और अर्थ को बदला ही नहीं बल्कि नष्ट कर दिया है।

वरिष्ठ कथाकार रवीन्द्र कालिया का उपन्यास 'ए.बी.सी.डी.' पूर्व व पश्चिम की संस्कृतियों के बीच हो रहे संक्रमण और द्वंद्व को पूरी शिद्दत के साथ उभार कर हमारे सामने रखता है इसमें पश्चिम में रह रहे प्रवासी भारतीयों के सांस्कृतिक संकट को बताया गया है। भारत से जाने वाले लोग अपने साथ भारतीय संस्कार और संस्कृति लेकर जाते हैं, जबकि पश्चिम में उन्हें एक अलग ही संस्कृति व परिवेश मिलता है। पश्चिम में जाने वाला प्रत्येक भारतीय अपने अंदर अपनी रूढ़ियाँ, संस्कार और अपनी धार्मिक चेतना बचाकर रखना चाहता है लेकिन इनके सामने संकट तब पैदा होता है जब इनके बच्चे बड़े होते हैं जो कि वहाँ की संस्कृति में पले-बढ़े हैं। उनके खून में भारत किन्तु परिवेश में पश्चिम है। इस तरह के प्रत्येक परिवार में सांस्कृतिक द्वंद्व का जन्म होता है। जिसे हम पीढ़ियों के बीच का द्वंद्व न कहकर भिन्न संस्कृतियों या जीवन मूल्यों का द्वंद्व कह सकते हैं। उपन्यास में पंजाब का रहने वाला हरदयाल और उसकी पत्नी शील कनाडा में रहते हुए भी भारत से जुड़े हुए हैं तो दूसरी ओर अमेरिकी संस्कृति में पली-बढ़ी उनकी बेटियाँ, शीनी और नेहा हैं। ये भारतीय संस्कृति के बारे में संशयग्रस्त हैं और इसके साथ तालमेल नहीं बिठा पाते हैं। हरदयाल व शील का हमेशा शीनी और नेहा से झगड़ा होता था क्योंकि शील डेट पर जाने का मतलब निकालती थी कि गोरे के साथ मुँह काला करने जाना है। नेहा के लिए यह बात कुछ भी मतलब नहीं रखती क्योंकि उसके स्कूल की सहेलियाँ आये दिन किसी-न-किसी के साथ डेट पर जाती रहती थीं। नेहा सोचती है कि औसत हिन्दुस्तानी अभिभावक का मानना है कि लड़का व लड़की एकान्त पाते ही सेक्स करने लगेंगे। नेहा व शीनी उनके माता-पिता के बारे में यह मानने को तैयार नहीं होती हैं कि शादी से पहले मम्मी (शील) और डैडी (हरदयाल) ने एक दूसरे से विधिवत बातचीत तक न की थी। हरदयाल की बड़ी बेटी शीनी जब तलाक लेने पर उतारू हो जाती है तो हरदयाल भारत में अपने रिश्तेदारों के माध्यम से ज्योतिष की शरण लेता है व शीनी का दाम्पत्य जीवन व्यवस्थित रहे इसके उपाय पूछता है। ज्योतिष उसे काले कौवे और काली गाय को गुड की रोटी खिलाने की सलाह देता है। हरदयाल काली गाय व काले कौवे की तलाश में मौत के मुँह में चला जाता है। वहाँ से किसी तरह बच निकलने के बाद सोचता है कि कनाडा में रहना है तो अपना रवैया बदलना होगा। आस्था व विश्वास बदलने होंगे। वरना बेमौत मारे जाएँगे।

रवीन्द्र कालिया ने इस उपन्यास में दोनों संस्कृतियों और जीवन मूल्य के द्वंद्व को पूरी शिद्दत के साथ उभारा है। पंकज बिष्ट का तीसरा उपन्यास 'पंखवाली नाव' भूमंडलीकरण

के इस दौर में पश्चिमी जगत् के समाज के सोचने व जीवन जीने के पैटर्न को भारतीय समाज की देहरी तक खींच लाया है। उपन्यास का कथानक कदम-कदम पर हमारी नैतिक मान्यताओं और मूल्य- बोध पर चोट करता है। उपन्यास का नायक एक कमर्शियल आर्टिस्ट है और सम्पूर्ण उपन्यास नायक की समलैंगिक प्रवृति के इर्द-गिर्द ही घटनाओं का ताना-बाना बुनता है। लेखक ने नायक को आत्मविश्वासी, बुद्धिमान, स्वाभिमानी दिखाया किन्तु समलैंगिक प्रवृत्ति के कारण उसका व्यवहार असहज हो जाता है कि उसके आस-पास उपस्थित लोग सहज महसूस नहीं करते। इससे नायक की सामाजिक रूप से अस्वीकृति रेखांकित होती है लेकिन नायक इन स्थितियों से घबराता नहीं है। ये नायक का साहस है। इन स्थितियों को वह अपना व्यक्तिगत मामला मानता है। यह उपन्यास उत्तर आधुनिक तेवर वाले समाज का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। विवाह जैसी सामाजिक संस्था, प्रजनन और शिशु पालन, नैतिकता तथा भारतीय संस्कृति के मूल्यों के विरोध में खड़ा नजर आता है। यह हमारी सभ्यता व संस्कृति के अनुकूल नहीं है क्योंकि भारतीय समाज इस तरह के मूल्यों व संस्कृति को स्वीकृति नहीं देता है।

उपन्यास ने समलैंगिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-पुरुष संबंधों की भूमिका के सामाजिक पक्ष को भी व्याख्यायित किया है। स्त्री-पुरुष संबंध प्राकृतिक यौनेच्छा से भी बढ़कर है। वैवाहिक परिणति के माध्यम से यह संबंध मानवीय सभ्यता एवम् संस्कृति के विकास में सहायक है। यौनिकता एक व्यक्तिगत चुनाव तथा प्राकृतिक जरूरत होते हुए भी समाज सापेक्ष है, क्योंकि यह मानवीय संबंधों व नैतिक अवधारणाओं को प्रभावित करती है और नैतिकता-अनैतिकता के मानदण्ड मनुष्य का व्यक्तिगत चुनाव नहीं होते अपितु मान्यताओं का विषय होते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से समाज द्वारा नियत मानदंडों का पालन करके ही मनुष्य स्वस्थ मानवीय संबंधों का निर्वाह तथा नैतिकता का पालन कर सकता है। अनुपम यौनिकता से जुड़े सामाजिक पक्ष को अनदेखा करता है।

काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' हमें यह बताता है कि परिवार और समाज आपसी संबंधों और मूल्यों के संदर्भ में कितने दरक चुके हैं। उत्तर आधुनिक जीवन शैली आज तेजाबीय अम्ल साबित हो रही है। दादा-दादी, ताऊ-ताई, काका-काकी और अब बच्चे भी परिवार की सीमा से बाहर हो चुके हैं। यहाँ ऐसा नहीं है कि रघुनाथ की उम्र के साथ सिर्फ संबंधों अथवा लोकलाज में फर्क आया है, जीने के रोजगार और मूल्यों में बदलाव आया है। सोच और व्यवहार में परिवर्तन हुआ है। नई जीवन शैली की चुनौतियों के कारण फर्क आया है। पारंपरिक व्यवसायों के संदर्भ में नई पीढ़ी के नजरिये में फर्क आया है। रघुनाथ की सफल व शान्त जिन्दगी चल रही थी। उसमें एकाएक परिवर्तन तब आता है जब उनके बड़े बेटे संजय की शादी रघुनाथ कालेज मैनेजर की बेटी से करवाना चाहते हैं। संजय के सपने दूसरे ही थे। वह अपने पिताजी को दूर रिश्ते के लिए मना कर देता है। वह प्रोफेसर सक्सेना की इकलौती लड़की सोनल से शादी के लिए प्रोफेसर सक्सेना से हामी भर देता है। उधर सक्सेना को ऐसे जहीन

साफ्टवेयर इंजीनियर युवक की ही जरूरत है जो एक अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी के तीन साल के कंट्रैक्ट पर कैलिफोर्निया जा सके और यह अर्हता संजय पूरी करता था। जब गाँव जाने से पहले सक्सेना सर से विदा लेने संजय उनके घर जाता है तो सक्सेना सर सोनल से शादी का प्रस्ताव रखते हैं। अतः संजय चिंतित होता है। उसकी आँखों में पापा मम्मी के चेहरे घूम जाते हैं।

आखिरकार संजय व सोनल की कोर्ट मेरिज हो जाती है। प्रीतिभोज में रघुनाथ को भी बुलाया लेकिन गए नहीं। उनकी स्थिति ऐसी हो गई कि वह न किसी से बता सकते थे न बिना बताए रह सकते थे। इनका छोटा बेटा शादी में गया और लौटा तब एक ब्रीफकेस लिए था जिसे सक्सेना ने रघुनाथ के लिए भिजवाया था। रघुनाथ जब ब्रीफकेश खोलते हैं तो भाव विभोर हो जाते हैं। संजय के प्रति सारी नाराजगी दूर हो जाती है। रुपयों की इतनी गड्डियाँ एक साथ पहली बार देखीं। रघुनाथ संजय के विवाह के मुखर विरोध के बावजूद, संजय के ससुर द्वारा भेजे गए पाँच लाख रुपये क्यों कबूल कर लेते हैं? यहाँ हमें यह लगता है कि संजय की महत्त्वाकांक्षाएँ और उनकी दमित आकांक्षाएँ क्या दोनों एक दूसरे के अंतर्लीन होती क्षुद्रताएँ नहीं? फिर क्यों रघुनाथ अपने को नई पीढ़ी से श्रेष्ठ होने का दावा करते हैं। यहाँ संजय-धनंजय के नैतिक-भावात्मक विघटन के लिए वे भी कहीं न कहीं जिम्मेदार जरूर हैं। यहाँ आकर लगता है कि नैतिक पतन के मामले में पुरानी पीढ़ी भी नई पीढ़ी से पीछे नहीं है। यह हमारे सांस्कृतिक मूल्यों की गिरावट का ही परिणाम है कि आज संबंधों का उतना महत्त्व नहीं रह गया है जितना कैरियर का है। अपने मंसूबों का है। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का है।

भूमंडलीकरण के कारण आज पारिवारिक जीवन में शर्म व लज्जा समाप्त हो गई है। यही संजय जब सोनल से शादी करके अमरीका चला जाता है तो वहाँ पर अपने लैण्डलार्ड की बेटी आरती से सम्पर्क में आता है जो उसी काल सेन्टर में काम करती थी जिसमें वह काम करता था। बहुराष्ट्रीय कंपनियों में काम करते और डालर के पीछे भागते युवाओं के नैतिक पतन की पराकाष्ठा है। सोनल देखती है कि संजय कहीं उससे मुक्ति तो नहीं चाह रहा है। अमेरिका आने के बाद उसमें तेजी से बदलाव आया है। एक दो सालों के अन्दर ही वह तीसरी नौकरी कर रहा है। एक शुरू करते ही दूसरी की खोज में लग जाता है। पहले से उम्दा पैसों के मामले में। उसमें सब्र बिल्कुल नहीं है। यह उसका लालच है या महत्वाकांक्षा वह समझ नहीं पाती है। सोनल यह समझ नहीं पाती है कि आरती गुर्जर के साथ संजय की दोस्ती के पीछे सिर्फ आरती गुर्जर है या उसके एन.आर.आई. माँ बाप जिनका गुजराती हस्तशिल्प का चमकदार व्यवसाय है? और दूसरी बात यह है कि जब भी संजय ने सोचा खुद के बारे में सोचा, सोनल के बारे में सोचने की फुर्सत ही नहीं थी उसे। इससे यह लगता है कि आज नई पीढ़ी कितनी निर्मम, आत्मकेन्द्रित और संवेदनहीन हो गई है जो खुद के अलावा किसी के बारे में सोचती ही नहीं है। यहाँ तक कि अपने परिवार व पत्नी के बारे में भी नहीं। ये संस्कार बहुराष्ट्रीय

कंपनियों के द्वारा पैदा किए गए संस्कार हैं। रघुनाथ की बेटी सरला जब उन्हें कहकर जाती है कि वह शादी करेगी तो सुदेश भारती से अन्यथा नहीं करेगी और रघुनाथ संस्कार वश यह स्वीकार नहीं कर पाते हैं कि उनकी लड़की चमार से शादी करे। रघुनाथ की रातों की नींद गायब हो जाती है। सरला, सुदेश भारती से शादी नहीं करती लेकिन शहर में अकेले रहते हुए लगभग सहजीवन स्वीकार कर लेती है। गाँव में रघुनाथ अपमानित होते हैं। रघुनाथ के बेटे-बेटी को न तो अपने माता-पिता से कोई लगाव है न ही वे किसी भी इंसानी रिश्ते से गहराई से जुड़े हुए हैं। उनका रिश्तों के प्रति कोई ममत्व या दायित्व बोध नहीं है। धनंजय नोएडा में एक कारपोरेट हाउस में काम करने वाली एक बच्चे की माँ के साथ 'लिविंग टुगेदर' का जीवन जीने लगता है। आज हमारे जीवन और पारिवारिक संबंधों में अनेक तरह के बदलाव आए हैं। ये सारे बदलाव हमारी सांस्कृतिक विरासत को छिन्न-भिन्न करके एक नई संस्कृति को जन्म दे रहे हैं।

नई आर्थिक नीति अर्थात् 1991 के पश्चात् बदलाव की जो हवा चली है, हवा न होकर आँधी है और इस तेज आँधी में हमारे घर की सभी चीजें उड़ने लगी हैं। गलोबलाइजेशन के कारण वैश्विक संस्कृति, स्थानीय संस्कृति को भेदने का जो कार्य कर रही है, उससे हम जड़ों से उखड़े तो नहीं किन्तु हमारी जकड़ जरूर ढीली पड़ गई है। उभरती हुई ग्लोबल-संस्कृति, परम्परागत संस्कृति से भिन्न है।

संदर्भः

1. कालिया, ममताः दौड़, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
2. कालिया, रवींद्रः ए.बी.सी.डी., वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली2004
3. काशीनाथसिंहः रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
4. पंकज बिष्ट : पंख वाली नाव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

38-अ, लेन-1, विनायक नगर,
रामगिरि, बडगाँव, उदयपुर,
राजस्थान- 313011

बद्री सिंह भाटिया के कहानी संग्रह 'कवच' में राजनीतिक सन्दर्भ

डॉ. अंजू बाला

जीवन का साहित्य और राजनीति से गहरा सम्बन्ध होता है। राजनीति आज के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी है। अतः साहित्य उससे कैसे अछूता रह सकता है। नए लेखन में तो राजनीति अधिक चित्रित हुई है। साहित्य अगर जीवन के यथार्थ को व्यक्त करना चाहता है तो जीवन के राजनीतिक यथार्थ से बचकर निकलना उसके लिए सम्भव नहीं।

बद्री सिंह भाटिया की कहानियों में भी राजनीति के स्वर की अभिव्यक्ति मिलती है। समकालीन परिवेश की विद्रूपताओं और विसंगतियों को लेखक ने बड़ी ईमानदारी से उद्घाटित किया है। 'कवच' कहानी-संग्रह की अनेक कहानियों में आर्थिक ढाँचे पर कानून और राजनीति का महल खड़ा किया गया है। इस कहानी-संग्रह में लेखक ने न्याय व्यवस्था पर करारा व्यंग्य किया है। न्याय व्यवस्था में प्रतिदिन धोखाधड़ी और अनैतिकता अपना स्थान बना रही है। अफसरशाही, रिश्वतखोरी, घूसखोरी, भ्रष्ट राजनीतिज्ञ, पुलिस प्रशासन से भारतीय राजनीति और आम व्यक्ति का जीवन प्रभावित हुआ है। हमारी न्याय व्यवस्था चरमरा गई है, उसके अपने सिद्धान्त नहीं हैं। इस संग्रह की 'कवच', 'मिठाई', 'प्रेत संवाद', 'पीतल का फुट्टा' और 'शिलालेख' जैसी कहानियों के माध्यम से राजनीतिज्ञों, प्रशासनिक कर्मचारियों एवं अधिकारियों का जीवन्त चित्र इस तरह प्रस्तुत किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि आज की राजनीति राज्य संचालन की नीति न रहकर विशुद्ध व्यवसाय बन गई है, जिसका प्रयोग राजनेता अपने स्वार्थ के लिए कर रहे हैं। सत्ता और पद का दुरूपयोग हो रहा है। आज के नेता चुनाव जीतने के लिए पैसा, बल, शक्ति का दुरूपयोग करते हैं। 'कवच' कहानी में दर्शाया गया है कि मंत्रियों का आचरण भ्रष्ट हो चुका वह अपनी इच्छापूर्ति और काम वासना की तृप्ति के लिए स्त्रियों के साथ यौन शोषण करते हैं। 'आज सुबह शहर के एक रैस्ट हाऊस में वी. आई. पी. कमरे में एक पागल जिसका नाम रामदेई बताया गया है, पाई गई। कहते हैं कि गत रात्रि वहाँ पर राज्य सरकार के वरिष्ठ मन्त्री ठहरे हुए। ये मन्त्री अपनी रसिक तबीयत के लिए विख्यात हैं। चौकीदार का कहना है कि रात को दो व्यक्तियों ने मन्त्री के नाम से वी. आई. पी. सैट खुलवाया। उन्हें मालूम नहीं कि मन्त्री कब आये, पर उनकी कार उसने रात गेट बन्द करते देखी थी। सुबह जब वह सफाई करने कमरे में गया तो वहाँ एक स्त्री बिस्तर पर बेसुध सोई पड़ी थी। उसने शराब पी रखी थी।'[1] अतः आज वरिष्ठ राजनीतिज्ञों का आचरण भ्रष्ट हो चुका है। अपनी रसिक इच्छापूर्ति के लिए पागल औरत को भी हवस का शिकार बना लेते हैं।

'शिलालेख' कहानी के माध्यम से पता चलता है कि मंत्री लोगों के साथ हमदर्दी

जताते हैं और कई प्रकार के आश्वासन देकर झूठे वायदे कर के भूल जाते हैं। 'मंत्री जी ने उद्घाटन पट्टिका की डोर स्वयं खींचने से पहले संती को भी बुलाया। उसका हाथ भी साथ लगाया और उद्घाटन कैमरे की फ्लैश लाइट बता रही थी कि अनेक फोटो लिये गये हैं। पट्टिका पढ़ मंत्री जी ने कहा, 'भाई यहाँ इन दोनों भूमिदाताओं की फोटो भी लगनी चाहिए और फ्लैट में एक जगह भूमिदाता का नाम उकेरा जाये।'[2] लेखक ने कहानी में यह प्रस्तुत किया है कि मंत्री लोग लोगों के भोलेपन का फायदा उठाकर उनको झूठे आश्वासन देते हैं। 'चल साला! क्या नहीं किया मैंने बोलने वाला। साले तू कैता थिया जे प्लेट में नाम खुदेगा, मंत्री ने बोल दिया है। फोटो हिंया लगेगा, क्या लगा? कितने साल हो गये। हर बार गच्चा। तेरा भाई तो फोटो देखणे के चाव में ही मर गया। मैं वी तो कैंसर की मरीज हूँ।'[3] लेखक ने कहानी में यह प्रस्तुत किया है कि नेता लोग चुनावों के दौरान घर-घर जाकर जनता से हमदर्दी जताते हैं और कई प्रकार के आश्वासन देकर झूठे वायदे कर जनता को पहचानने से भी इन्कार कर देते हैं। राजनीतिज्ञों के भ्रष्टाचार की यथार्थ नीतियों और आम आदमी के प्रति कारुणिक अभिव्यक्ति हुई है। अतः आजादी का मतलब आम आदमी के लिए बेईमानी हो गया है। आम आदमी का शोषण आजादी से पहले भी होता था और बाद में भी हो रहा है।

राजनेता लोग विविध प्रकार की राजनीतिक चाल चलते हैं। वोट प्राप्ति के लिए तरह-तरह के हथकंडों को अपनाने से नहीं हिचकिचाते। चुनावों के समय लोगों को पैसे तक बांटे जाते हैं लोगों को शराब पिलाकर वोटों को खरीदते हैं। इसके साथ-साथ विभिन्न प्रकार की कस्में दिलाई जाती हैं- 'सभी देवते का लूण-पाणी पीयेंगे। दो जणे देवता के पास जायेंगे। होर सब तब तक हियाँ से कोई नहीं हिलेगा। मायादत्त चालू है किसी को भी खरीद सकता है... ये मैं था जो वहाँ टिक गया, वरना उसने तेज मंत्र चलाया था। सो लूण लोटा... होना ही चाहिए। थोड़ी देर बाद सभी बैठक से निकले और अपने-अपने घरों को चल दिए। एक घूँट देवता के नमकीन पानी का पी कर सभी एक सूत्र में बँध गये थे।'[4] अतः चुनावों के समय लोगों को देवता का नमकीन पानी इत्यादि तरह-तरह की कस्में दिलाई जाती हैं। ताकि देवता का नमकीन पानी पीने से सभी एक सूत्र में बँधे रहें। राजनेताओं का आचरण भ्रष्ट हो चुका है। नेता बनने की इच्छा देश सेवा या जनसेवा के लिए नहीं की जाती है। वह तो चुनावों के समय लोगों को पैसा तक बाँटते हैं- 'बच्चा, ये शहर की नहीं गाँव की राजनीति है, पहले हमारे शागिर्द बनो। तब एक आवाज उठी थी। इसे तो आहूजा सीमेंट फैक्टरी ने जिताया, वर्ना यह तो हारा हुआ था। देखा नहीं कितने दिन दारू चलती रही-चुनाव की पहली रात को सारे इलाके में नोट बंटे-नोट। भाई नोटों के आगे कौन टिक सका है।'[5] राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए जाति-पाति को भी बढ़ावा दे रहे हैं। बद्री सिंह भाटिया ने 'कवच' कहानी-संग्रह में 'लूण लोटा' कहानी के माध्यम से जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है 'चमारों के झोले में और बेच आया हमें, हमारी जाति को। चालीस वोट जो पार गये हैं न, इसके परिवार के हैं। कितने

घर हैं भला इनके। छः न। कितने बने? माना अलग-अलग परिवार हैं, विचार भी नहीं मिलते, पर ऐसे में तो। साला वो राजीव क्या कर गया। खुद मर गया पर हमारे लिए पंगा कर गया। हम भुगतें। भाई साहब, अगर ये सीट रिजर्व नी होती न तो देखते आप। और देख, साली रिजर्व भी की तो महिला को और उस पर देख महिला भी हरिजन शड्यूल।'[6] इससे पता चलता है कि राजनेता अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए भारतीय समाज में भेदभाव पूर्ण जाति-पाँति की समस्या को प्रोत्साहन दे रहे हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कहानीकार बद्री सिंह भाटिया ने अपने कथा साहित्य में आधुनिक भारतीय राजनीति में फैली बुराइयों को चित्रित किया है। राजनीतिज्ञ चुनावों में वोट प्राप्त करने तथा सत्ता की प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के हथकण्डों को अपनाते हैं। अतः भारतीय राजनीति भ्रष्टाचार से संचालित है। 'कवच' कहानी संग्रह में लेखक ने प्रशासन में बैठे अफसरों का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। किसी भी देश का प्रशासनिक कार्य अफसरशाही के द्वारा ही चलाया जाता है। अफसरशाही प्रशासन के काम-काज में महत्त्वपूर्ण भूमिका करती है। आज बदलते परिवेश के कारण अफसरशाही भी दोषपूर्ण हो गयी है। एक बार पद प्राप्त हो जाने के उपरान्त ये लोग अपने दायित्वों को भूलकर भ्रष्ट आचरण करने से भी हिचकिचाते नहीं हैं। आज समस्त विश्व में भ्रष्टाचार की चिंगारियाँ सुलगती हुई दिखाई दे रही हैं। भारत में भी भ्रष्टाचार कई रूपों में हमारे सामने आता रहा है। जिसमें रिश्वतखोरी भी प्रमुख है। आज किसी व्यक्ति को सही न्याय नहीं मिल रहा है। छोटे से छोटा कार्य हो या बड़ा कोई भी रिश्वत के बिना पूरा नहीं होता है। एक चपरासी से लेकर बड़े नेता तक सभी इसकी लपेट में आये हुए हैं। आवश्यकता से अधिक देरी लगाकर तथा लम्बी औपचारिकता के द्वारा अधिकारी वर्ग ईमानदार व्यक्तियों को परेशान करता है। यदि कर्मचारियों को रिश्वत के रूप में कोई धनराशि मिल जाती है तो इस प्रक्रिया को सरल बना देता है।

'पीतल का फुट्टा' कहानी में बद्री सिंह भाटिया ने प्रशासन में फैले भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी का जीवन्त चित्र प्रस्तुत करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि समसामयिक जीवन में व्यक्ति अपनी किसी छोटी से छोटी इच्छा की भी पूर्ति नहीं कर सकता क्योंकि सरकारी तन्त्र इतना लालची और घूसखोर हो गया है कि बिना रिश्वत से काम नहीं करते हैं। 'पटवारी ने एक कागज लिया और मेरे बारे में लिख दिया कि कृषक परिवार से है और इसका पिता यहाँ का निवासी है उसके नाम इतने बीधे जमीन कागजात के मुताबिक है। फिर दस्तखत कर प्रमाण-पत्र अपने हाथ में पकड़े रखा, काफी देर तक। फिर एक व्यक्ति ने हमें जरा सी कोहनी मारी। हम चौंके जेब से पचास का पत्ता निकाला और बत्ती सी बनाकर उसकी जेकेट के ऊपरी पॉकेट में इस तरह डाला मानो बीड़ी हो। तत्क्षण प्रमाण पत्र हाथ में आ गया।'[7] आज हमारे प्रशासनिक अधिकारी इतने भ्रष्ट हो गये हैं कि उनको अपनी इच्छापूर्ति के अतिरिक्त कुछ और दिखाई नहीं देता है। प्रशासनिक अधिकारी अपने से छोटे वर्ग के लोगों तथा आम जानता को मनमाने ढंग

से प्रताड़ित करते हैं। आवश्यकता से अधिक देरी लगाकर तथा लम्बी औपचारिकता बताकर आम व्यक्ति को परेशान करते हैं। 'प्लाट लेने के चक्कर में काफी टूट चुके थे। यह सुन एक प्रश्न उठा, अब क्या होगा? कैसे होगा? मगर अब क्या किया जा सकता है प्लाट लिया है तो सब कुछ करना पड़ेगा। अगले अध्याय को बाँचने हम पटवारी के पास गये, राजिस्ट्री दिखाई। प्रसन्न होकर उसने बधाई दी और मिठाई की बात की। मिठाई का मतलब अब खूब समझ आ गया था। सो मौका देख एक पचास का पत्ता निकाला और चुपके से उसकी पॉकेट के हवाले कर दिया। उसने मुस्कराते उसे महसूस किया मगर कहा कुछ नहीं। हमने रजिस्ट्री दर्ज करने के बारे में कहा तो बोला, यह तो तुम्हारी कापी है। इसकी एक प्रति कचहरी से आयेगी, तो करेंगे। या आप इसकी फोटोस्टेट दे जाओ। दर्ज कर रखूँगा। जब तहसीलदार आयेंगे, हस्ताक्षर हो जायेंगे। हाँ इंतकाल भी होना है सो उस जमीन विक्रेता को भी हाजिर होना है या उसका शपथपत्र आ जाना चाहिए ताकि उसकी गैर हाजरी में रजिस्ट्री दर्ज हो सके।'[8] इस तथ्य से पता चलता है कि आवश्यकता से ज्यादा तथा लम्बी औपचारिकता के द्वारा अधिकारी वर्ग आम व्यक्ति को परेशान करता है। यदि कर्मचारियों को रिश्वत के रूप में कोई धनराशि मिल जाती है तो वे इस प्रक्रिया को सरल बना देते हैं।

आज उच्चाधिकारी हो या छोटा अधिकारी बड़े पैमाने पर रिश्वत लेते हैं। इसके साथ कुछ हिस्सा निम्न कर्मचारियों में भी बाँट देते हैं ताकि वे भी मुँह बन्द रखें। इसकी अभिव्यक्ति 'मिठाई' कहानी में मिलती है 'हमें असमंजस में देखकर एक मूछों वाला चपरासी आया। प्यार से पकड़ कर बाहर ले गया। उसने समझाया, कचहरी के चक्करों से बचने के लिए पचास-सौ ज्यादा नहीं। लाओ दाम कम दे दो। मैं करा देता हूँ। यह अब तीन सौ से कम में मानने वाली नहीं। पत्नी ने भी हमारी बात सुन ली और त्योरियाँ चढ़ा कर पैसे देने को कहा। चपरासी पैसे लेकर भीतर चला गया। पत्नी ने गुस्से में कहा क्या करते हो, जितना माँगती थी, दे देने थे। यूँ अपना जुलूस निकलवाने में क्या फायदा। चपरासी मैडम के पास गया। उसके कानों में फुसफुसाया। हम बाहर दरवाजे पर से देखते रहे। चपरासी बाहर आया और बोला, मान नहीं रही थी। अढ़ाई सौ में ही मना दिया। साहब साढ़े चार बजे ये काम हुआ समझो, मेरा जिम्मा। उसने पचास का नोट हमें थमाया। इतने में भीतर से घंटी बजी, वह भीतर जाने लगा। पत्नी के संकेत पर, उसके जाते मैंने उसकी जेब में वह नोट फंसा दिया।'[9] यदि आज किसी को अपना काम करवाना हो तो उसकी एवज में कुछ अतिरिक्त देना पड़ता है। आज अधिकारी किसी कार्य के लिए रिश्वत लेते हैं। अपने निजी स्वार्थों की आड़ में ये लोग रिश्वत जैसे कुकृत्यों को करने से भी नहीं हिचकिचाते हैं 'उसने समझा कर कहा, मेरी सीट जानते हैं न आप पब्लिक डीलिंग। जस्ट्री क्लर्क हूँ मैं। यहाँ धन फीस के रूप में आता है। फिर यह कचहरी है। मेरा पति रोज मेरे पर्स से सारे पैसे निकाल लेता है। मात्र दो रुपये रखता है। वह शाम को पूछता है, आज कितने हुए... हमने भी बच्चे पालने हैं, अच्छी शिक्षा देनी है... घर हमने भी

बनाना है।'[10] अतः कहा जा सकता है कि आज चाहे क्लर्क हो या अन्य अधिकारी वर्ग हो वे अपने निजी स्वार्थ की आड़ में लोगों से रिश्वत लेते हैं ।

आज हमारा प्रशासन भ्रष्टाचार की सीमाओं को लाँघ चुका है। इस पर सर्वाधिक प्रभाव राजनीतिज्ञों के भ्रष्ट आचरण का पड़ा है। राजनेता, प्रशासनिक अधिकारियों को भ्रष्ट आचरण करने हेतु इस्तेमाल करते हैं। प्रशासनिक अधिकारी अपने से निचले स्तर के कर्मचारियों को दबाकर रखते हैं जिसके कारण इन लोगों को मुश्किलों एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आज अधिकारी लोग किसी भी कार्य के रिश्वत लेते हैं तो अपनी निजी स्वार्थों की आड़ में ये लोग रिश्वत जैसे कुकृत्यों को करने से भी नहीं हिचकिचाते हैं। आज हमारी पुलिस व्यवस्था भी दिन-प्रतिदिन अपने कर्त्तव्यों तथा दायित्वों को भूल रही है। यह जनसेवी सरकारी संस्था होने के बावजूद स्वयं जनभक्षी संस्था बन गयी है।

अतः स्पष्ट है कि बद्री सिंह भाटिया ने कथा साहित्य में जहाँ शासक वर्ग के भ्रष्टाचार व शोषण के वर्णन मिलते हैं वहीं बदलते परिवेश में राजा-राजवाड़ों के स्थान पर नेता लोग शासन का संचालन कर रहे हैं, जिसमें भ्रष्टाचार मानों कूट-कूट कर भरा हो। आज शासन के हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, घूसखोरी और न्याय व्यवस्था का नंगा नाच हो रहा है। छोटे से छोटे कर्मचारी से लेकर अधिकारी वर्ग तक सभी कहीं न कहीं, किसी न किसी अनैतिक कार्य में संलिप्त हैं और भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहे हैं।

सन्दर्भ :

1. बद्री सिंह भाटिया, कवच (दिल्ली, पंकज प्रकाशन, 2003) पृ. 23
2. बद्री सिंह भाटिया, कवच (दिल्ली, पंकज प्रकाशन, 2003) पृ. 118
3. वही, पृ. 122
4. वही, पृ. 91
5. वही, पृ. 90
6. बद्री सिंह भाटिया, कवच (दिल्ली, पंकज प्रकाशन, 2003) पृ. 89
7. बद्री सिंह भाटिया, कवच (दिल्ली, पंकज प्रकाशन, 2003) पृ. 81
8. बद्री सिंह भाटिया, कवच (दिल्ली, पंकज प्रकाशन, 2003) पृ. 781
9. वही, पृ. 48
10. बद्री सिंह भाटिया, कवच (दिल्ली, पंकज प्रकाशन, 2003) पृ. 47

गांव व डाकघरः तरक्वाड़ी,
तहसीलः भोरंज, जिलाः हमीरपुर (हि.प्र.)
पिन-176045

'झुमुर' गीतों में प्रेम
(असम की चाय जनगोष्ठी के विशेष संदर्भ में)

सुश्री प्रियंका दास

दुनिया में जहाँ एक ओर प्रेम, संवेदना, आत्मीयता, एकता आदि की बात की जाती है, वहीं दूसरी ओर आपसी कलह और रंजिशों के कारण मानवता शर्मशार हो रही है। इससे मानवीय मूल्यों का ही हनन होता है। ऐसे में हिंदी के प्रख्यात रचनाकार बद्री नारायण जी की असमंजस भरी पंक्तियाँ हमारी अंतश्चेतना में सैकड़ों प्रश्नों को उकेरती हैं, 'कोई रोम बचाएगा/ कोई मदीना/ कोई चाँदी बचाएगा, कोई सोना/ मैं निपट अकेला/ कैसे बचाऊँगा तुम्हारा प्रेमपत्र'।[1] अति प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति का लोक पक्ष इस बात को बखूबी पुष्ट करता है कि मानव जीवन का मूल्य प्रेम पर आधारित है। यह प्रेम मनुष्य का केवल मनुष्य के प्रति सीमित न रहकर प्रकृति, जीव, ईश्वर तक व्याप्त होता है। इस तरह से सांसारिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रेम का सामंजस्य प्रेम के उदात्त होने की स्थिति है। प्रेम की पराकाष्ठा की इस छवि की अनुभूति आम जनमानस को साहित्य, कला तथा संस्कृति के माध्यम से होती है। यही कारण है कि लोक का साहित्य और संस्कृति जातीय-जनजातीय, भाषायी, क्षेत्रीय आदि सभी भिन्नताओं के बरक्स अपने आप में पूर्ण और विशिष्ट होता है। यहाँ जब अलग-अलग जाति के परस्पर सांस्कृतिक, भाषायी, क्षेत्रीय भिन्नता की बात कही जा रही है तो इस संदर्भ में पूर्वोत्तर स्थित असम राज्य की चाय जनगोष्ठी से बेहतर कोई उपमान नहीं हो सकता। कारण कि चाय जनगोष्ठी, जो वस्तुतः असम के चाय बागानों में काम करने वाले श्रमिकों का समाज है; इसमें एकाधिक जातीय संस्कृति से संबद्ध लोग एक नवीन समाज का गठन कर अपनी विशिष्ट पहचान तथा संस्कृति कायम किये हुए हैं।

यह सन् 1823 ई. की बात है जब असम में चाय के आविष्कार का श्रेय अंग्रेज अधिकारी सी. ए. ब्रूस को प्राप्त हुआ। उसके बाद चाय की खेती के अनुकूल परिवेश को ध्यान में रखकर ब्रिटिश अधिकारियों ने चाय के उत्पादन पर पुरजोर बल दिया। जिसके फलस्वरूप असम में वृहत् पैमाने पर चाय उद्योगों की स्थापना हुई और काम करने हेतु भारत के विभिन्न राज्यों के लोग असम की भूमि को अपनी कर्मभूमि मानकर दिन-रात मजदूरी करने लगे। आज की चाय जनगोष्ठी आपसी सभी भिन्नताओं से इतर एक ऐसा समाज है जहाँ की संस्कृति का परस्पर विलयन होकर एक नयी संस्कृति और भाषा का जन्म होता है। इनमें संप्रेषण हेतु असमिया भाषा के शब्दों से युक्त 'सादरी भाषा' का बहुताधिक प्रयोग देखा जाता है तथा पारंपरिक जातीय संस्कृति के रूप में 'करम पूजा' और 'झुमुर/ झुमइर' सर्वोपरि है।

प्रकृति के सान्निध्य में अपना अधिकतर समय निर्वाह करने वाले चाय श्रमिक कर्म को ही धर्म मानते हैं। विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों में 'झुमुर/ झुमइर' गीत गाने और

नृत्य करने की पुरानी परंपरा है। दरअसल, 'झुमुर/ झुमइर' चाय जनगोष्ठी में प्रचलित नृत्य-गीत शैली है। कुछ लोग 'झुमुर' शब्द का अर्थ झूमने के संदर्भ में ग्रहण करते हैं। जैसे कि आनंदित होकर खुशी में झूमना। परंतु चाय जनगोष्ठी के कुछ लोगों का यह भी मानना है कि 'झूम' शब्द एकजुट होकर सामूहिक रूप से रहने को दर्शाता है तथा 'मइर' से तात्पर्य एक-दूसरे का हाथ पकड़कर आनंद में नृत्य करना है। इस दृष्टि से झुमइर अथवा झुमुर नृत्य को देखने पर यह सहज बोध होता है कि चाय जनगोष्ठी के आम जनमानस में किसी भी शुभ अवसर पर अपनी सभी पीड़ा, कष्ट, विसंगतियों को भूलकर ये श्रमिकजन सामूहिक रूप से आनंद में नृत्य करते हैं। 'झुमइर क आखड़ा में' अर्थात् इस नृत्य के दौरान विभिन्न भावों, अनुभूतियों, विचारों से संपृक्त लोक गीत गाये जाते हैं; जिसे झुमुर/ झुमइर गीत की संज्ञा प्राप्त है। लोक वाद्यों की ताल पर चाय जनगोष्ठी के युवक-युवती समेत बच्चे-बूढ़े सभी का आनंद में झूम उठना इस झुमुर लोक नृत्य-गीत को और आकर्षक तथा मनोरंजक बनाता है। यह तो हुई झुमुर नृत्य की बात परंतु इस नृत्य के दौरान अलग-अलग अवसरों के अनुरूप चाय जनगोष्ठी में अलग-अलग गीत गाये जाते हैं। इसीलिए इन झुमुर गीतों को कई भागों में विभाजित किया गया है, यथा- लौकिक झुमुर, आनुष्ठानिक झुमुर, ऋतुओं पर आधारित बारहमासा झुमुर, स्थान और काल पर आधारित झुमुर आदि। इन विभिन्न झुमुर गीतों की विषयवस्तु मूल रूप से मानवीय मूल्यों से संसक्त है। इन गीतों में मानव प्रेम, ईश्वरीय प्रेम, स्वदेश प्रेम, प्रकृति के विभिन्न तत्वों जैसे पेड़-पौधे, नदी-पर्वत, जीव-जंतु आदि के अलावा प्रकृति के समयानुकूल परिवर्तित अत्यंत मनमोहक छवि के प्रति मानव मन में उत्पन्न अनुराग को सजह अभिव्यक्ति मिली है।

असम की चाय जनगोष्ठी के झुमुर गीतों की विषयवस्तु का विश्लेषण करने पर इन गीतों में वैष्णव धर्म के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। जिस प्रकार गीत की भाषा में असमिया शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है वैसे ही इन गीतों के कथ्य में भी असमिया संस्कृति से संश्लिष्ट भावों की पुष्टि होती है। झुमुर गीतों में ईश्वरीय प्रेम को वरीयता प्राप्त है। इन गीतों के प्रारंभ में ईश्वर की वंदना करना अनिवार्य है। इसके अलावा अधिकांश झुमुर गीतों में लौकिक जगत के नायक के रूप में विशेषकर राम और कृष्ण को तथा नायिका के रूप में सीता और राधा को दर्शाया जाता है। राधा-कृष्ण की प्रेमलीला के साथ ही राम-सीता के आदर्श प्रेममय दाम्पत्य जीवन को इस समाज में जीवन आदर्श के रूप में ग्रहण किया जाता है। रामायण, महाभारत, भगवतगीता के बहुताधिक प्रसंगों को आधार बनाकर सुख-शांति की कामना की जाती है। उदहारण के लिए चाय जनगोष्ठी में प्रचलित धार्मिक झुमुर की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं:

'जलधि धारे जमुनारि किनारेरे / राधा राधा कृष्ण बाजाय बाँशी
केमने भरिबरे गागरि / हे श्याम लाजे मरि'[2]

इन पंक्तियों का आशय कृष्णलीला से है, जब श्रीकृष्ण जमुना के तट पर अपनी बाँसुरी

की मधुर ध्वनि से राधा समेत सभी गोपियों का मन मोह लेते थे। गीत की पंक्तियों में यह भी संकेत किया गया है कि यद्यपि कृष्ण की बाँसुरी केवल राधा का नाम पुकारती थी किन्तु राधा तथा अन्य सभी गोपियाँ पनघट पर जाकर कृष्ण के प्रेम में अपना सुध-बुध खो बैठती थीं।

चाय जनगोष्ठी के झुमुर गीतों में यथास्थान प्रेम की अलग-अलग अवस्थाओं जैसे- पूर्वराग, मिलन, विरह, मिलन भंग होने की आशंका, पुनर्मिलन आदि को विभिन्न उपमानों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। ऐसे भावों का बोध कराती झुमुर गीत की पंक्तियाँ चाय जनगोष्ठी के सामान्य जनजीवन में प्रेमानुराग को जीवंत करती हैं। चाय जनगोष्ठी समाज में अत्यंत प्रसिद्ध आषाढ़िया झुमुर गीत की पंक्तियों में प्रेम की तीव्र उत्कंठा के वर्णन को देखा जा सकता हैः

'तुमि तरु आमि लता / बाँधिये राखिब एथा /
जाउ देखि कोथा जाबे / आमाक छाड़ियेहे'[3]

बारहमासा झुमुर गीतों में आषाढ़ के महीने में गाये जाने वाले उक्त गीत की पंक्तियों में वर्षा काल का वर्णन तथा बादल, बिजली, वृक्षों के कोमल कचनार तने, वर्षा के जल से परिपूर्ण नदी-तालाब आदि को देखकर मानव मन में उमड़ने वाले प्रेम के उद्गार को दर्शाया गया है। प्रेमिका कहती है कि प्रियतम तुम एक विशाल वृक्ष की भाँति हो और मैं तुम्हारे चारों ओर लिपटी हुई कोमल लता हूँ जिसने अपने प्रेम पाश में तुम्हें इस तरह बाँध लिया है कि तुम मुझसे दूर अन्यत्र कहीं नहीं जा सकते। ठीक इसी प्रकार प्रेम के संयोग पक्ष से संबंधित निम्नलिखित पंक्तियों को देखा जा सकता है जिसमें आकाश और धरती के माध्यम से प्रेम के विराट स्वरूप की ओर संकेत किया गया है। जैसे आकाश अपने विराट हृदय का समस्त प्रेम वर्षा के जल के रूप में धरती पर उड़ेल देता है और धरती भी उस जल में सराबोर होकर समस्त प्रेम रूपी जल को अपने अंदर समाहित कर लेती है। वैसे ही धरती और आकाश के सघन प्रेम की भाँति स्त्री-पुरुष के प्रेम का स्वरूप अत्यंत उदार, सब कुछ अपने में समाहित कर सकने वाला होना चाहिए। पंक्तियाँ दृष्टव्य हैंः

'आकाशे बरषे पानी / धरती लेंलई झकि, /
नारी पुरुषके देखु..../ देखु कैसन पीरिति'[4]

झुमुर गीतों में संयोग की भाँति प्रेम के वियोग पक्ष को भी समान अभिव्यक्ति मिली है। इसके लिए पौराणिक आख्यानों के अलग-अलग चरित्रों के साथ ही प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं तथा नाना उपादानों को माध्यम बनाया गया है। सर्वविदित है कि चाय जनगोष्ठी के लगभग सभी श्रमिक परिवारों में आर्थिक तंगी एक आम बात है। अत्यंत संघर्ष करने के बावजूद भी इन्हें न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सोचना पड़ता है। ऐसे में रोजगार की तलाश के लिए नवयुवक अपनी सहचरी को अकेला छोड़ चला जाता है। अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में विरह-वेदना झेल रही उस प्रेयसी का हृदय तब और अधिक व्यथित होता है जब तीज-त्योहारों अथवा अन्य मांगलिक अवसरों पर भी उसका प्रेमी

लौट कर नहीं आता। झुमुर गीतों में ऐसी परिस्थितियों को तरह-तरह के बिंबों द्वारा व्यक्त किया जाता है। यथा- मधुमास में आम, जामुन, पलाश के फले-फूले पेड़ों को देखकर दूर-दराज गये अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में विरहिणी का हृदय अत्यंत व्याकुल हो उठता है। इस संदर्भ में पंक्तियाँ देख सकते हैं:

'आसिल मधुमास बिनंद उदास / बिबित बिश कसेग' मधुमासे /
आम जाम मंजुराई धधकी पलाश / नाचे धराधरिग' साँवरे श्याम /
बिबित बिश कसेग' मधुमास'[5]

इस तरह चाय जनगोष्ठी में प्रचलित झुमुर गीतों के अधिकतर प्रसंगों में प्रेम का स्पर्श प्रकृति के माध्यम से रेखांकित किया जाता है जिससे अत्यंत सहज रूप में हमें उनके सामान्य जीवन शैली का भी बोध हो जाता है। झुमुर गीतों की अन्य शैलियों जैसे झिंगाफुलिया झुमुर में जिस प्रकार 'झिंगा' (एक विशेष पुष्प) फूल से संध्या बेला पर खिलकर रात्रि के प्रहर में मुरझा जाने का चित्रण मिलता है। झिंगाफुलिया झुमुर गीतों में झिंगा पुष्प के माध्यम से क्षणभंगुर मानव जीवन में प्रेम के महत्व को रेखांकित किया जाता है। इसके अलावा भिनसार अर्थात् भोर के समय में जब सूर्य की किरणें समस्त अंधियारे को चीर कर आशा रूपी लालिमा और सकारात्मकता का संचार करती हैं उस समय सभी पशु-पक्षी नयी ऊर्जा के साथ एक नयी दिनचर्या का आह्वान करते हैं। असंख्य कोमल कलियाँ खिलकर पृथ्वी को रंगीन और मनमोहक बनाती हैं। जहाँ एक ओर संध्या बेला पर झिंगा फूल खिलकर भोर के समय नष्ट हो जाती हैं वहीं दूसरी ओर भोर के समय लाल कमल पुष्प का खिलना जीवन की तमाम विद्रूपताओं के बीच जीवन के प्रति हमें पुनः आशावादी बनाता है। भिनसरिया झुमुर गीतों की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं:

'कतिक्षणे फुटेय हरदिरे झिंगाफूलरे / कतिक्षणे फुटे लाल कमल फूल धीरे गमके /
आधा राति फुटेय हरदिरे झिंगाफूलरे / भिनसारे फुले लाल शालुक फूल धीरे महके'[6]

चाय जनगोष्ठी में प्रचलित झुमुर गीतों में मानवीय संवेदनाओं के उदात्त स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है। प्रकृति प्रेम, पशु-पक्षियों से प्रेम तथा मानव प्रेम की इतनी सहज और स्पष्ट अभिव्यक्ति इनके कोमल, उदार और संवेदनशील हृदय का प्रमाण है। कई बार संवेदनाएँ मानव सुलभ दुर्बलताओं को भी दशार्ती हैं जो कदाचित अस्वाभाविक नहीं होती। विशेषकर करम पूजा के जागरण गीतों में अथवा अन्य गतिविधियों के दौरान गाये जाने वाले झुमुर गीतों में चाय श्रमिकों की ऐसी संवेदनाओं का तीव्र अनुभव होता है जिसमें मानवीय प्रेम केवल स्त्री-पुरुष तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि पारिवारिक प्रेम को भी स्थान मिलता है। चाय जनगोष्ठी के झुमुर गीतों में यह पारिवारिक प्रेम के उद्गार का ही उदाहरण है कि अन्य समाज की भाँति इस समाज में भी बेटी ब्याही जाने के बाद कई बार अपने मायके का घर-आँगन, प्यार-दुलार, माँ के आँचल की छाँव को तरसती है। ऐसे में भादों के महीने में करम पूजा के समय खिलने वाले 'काशी फूल' को देखकर उस नवविवाहिता के मन में अपने परिजनों से मिलने की उत्कंठा और बढ़ जाती है।

झुमुर गीत की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैंः

'बैशाखे फूले भेबेली लता / भाई भेबेली लता /
भादरे काशी फूले झपा-झपा / कपौ फूले शोभे नाचनीर खोपा /
भाई नाचनीर खोपा /काशी फूले जागाल नैहरेर आशा'[7]

कुलमिलाकर, झुमुर गीतों को मानवीय मूल्यों, प्रेम-संवेदना, आस्था, एकता आदि का गीत कहना गलत न होगा। अशिक्षा, आर्थिक पिछड़ेपन के बावजूद इनके समाज में प्रचलित झुमुर गीतों में प्रेम तथा मानवीय मूल्यों का इतना प्रखर रूप में उभर कर आना ही चाय जनगोष्ठी को सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट बनाता है। अलग-अलग जनजातियों का एकता और समानता से संगठित होकर रहने का भाव झुमुर गीतों के एकाधिक प्रसंगों में उद्धृत हुआ है। जैसेः

'माटिर अढ़न माटिर गढ़न, / हाय हाय मन पवनेर कायाहे /
उड़े जाबे पंखी राजा, /परे रइबे काया हे'[8]

झुमुर गीत की उपर्युक्त पंक्तियाँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि यद्यपि जीवन क्षणभंगुर है किन्तु इस जीवन में प्रेम और अच्छे कर्म ही किसी मनुष्य को मृत्यु के बाद भी अमर किये रहते हैं। इसीलिए जाति, धर्म, वर्ण आदि के विभेद से ऊपर उठकर आपसी प्रेम और सौहार्द ही मानव जीवन का मूल ध्येय होना चाहिए। इसीलिए चाय श्रमिक लयबद्ध रूप में कहते हैं कि 'किबा हाड़ि किबा डम/ पिरिते मजिल मन' ।[9]

झुमुर गीतों में स्वदेश प्रेम भी भावना भी स्पष्टतः मुखरित हुई है। चाय श्रमिक समाज के लोकमानस में प्रचलित कुछ झुमुर गीतों में उनके असम आगमन के पूर्व की स्थिति का उल्लेख मिलता है जिसमें उनकी मूल जन्मभूमि की मिट्टी की सौंधी खुशबू मौजूद है। तो दूसरी ओर असम लाये जाने के बाद भी कुछ ऐसे झुमुर गीतों की रचना हुई जो मूलतः असम की पृष्ठभूमि को लेकर रचे गये। इन गीतों के माध्यम से असम लाये जाने के बाद इनके साथ हुए शोषण, अत्याचार का स्पष्ट बोध होता है। दिन-रात की कड़ी मेहनत के बाद असम में चाय उद्योग की नींव को सुदृढ़ करने वाले चाय श्रमिक अपनी समस्त पीड़ा को एक तरफ रखकर असम भूमि को ही अपनी जन्मभूमि मानते हैं। असम भूमि के प्रति प्रेम और समर्पण के भाव से संबद्ध आंचलिक झुमुर की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैंः

'हामरा लागि आसाम बासी / नाना जाति उपजाति रे /
सबाइ मिले गढ़िब स'नार आसाम / आसाम हामदेर प्राणेर प्राण /
आसाम देशेर हावा पानी /चाईर' दिगे बिनंदिनी रे /
एइ देश हामार जीवन मरण / आसाम हामदेर प्राणेर प्राण /
आसाम हामदेर प्राणेर गाँथा /चिरदिन रहिब एथारे /
एइ देश हामार जीवन मरण'/[10]

चाय जनगोष्ठी में प्रचलित उनका जातीय नृत्य-गीत झुमुर अत्यंत रोचक तथा अर्थव्यंजक है। झुमुर गीत से संबंधित उपर्युक्त सभी विवेचनों के आधार सारांशतः यह

कहा जा सकता है कि झुमुर गीतों में विविध प्रसंगों के माध्यम से जीवन में प्रेम के महत्व को सहज और स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति मिली है। इन झुमुर गीतों के माध्यम से चाय जनगोष्ठी के श्रमिकों के प्रेमी तथा संवेदनशील हृदय का प्रमाण मिलता है। ईश्वरीय प्रेम और आस्था, प्रकृति के बीच जीवन जीते हुए उसके प्रति अगाध प्रेम, असम को जन्मभूमि स्वीकार कर उसके प्रति प्रेम और समर्पण, मानव प्रेम आदि झुमुर गीतों की मूल विषयवस्तु हैं। ध्यातव्य है कि इन गीतों में जहाँ कहीं भी स्त्री-पुरुष के संयोग व वियोग का उल्लेख मिलता है वह निःसंदेह रूप से मर्यादित है और श्लील है। इसके अतिरिक्त झुमुर गीतों में प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं को मिथकीय चरित्रों, प्रकृति के नाना तत्वों के माध्यम से मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया गया है। झुमुर गीतों में प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से व्यक्त प्रेम चाय जनगोष्ठी का प्रकृति के साथ उनके निकट साहचर्य की पुष्टि करता है। चाय जनगोष्ठी में प्रेम तथा मानवीय मूल्यों की प्रासंगिकता को जीवंत रखने वाले चिर प्रचलित झुमुर गीत वास्तव में परवर्ती पीढ़ियों की थाती हैं जिनका संरक्षण और संवर्द्धन आवश्यक है।

संदर्भ :

1. अब्बी, अन्विता, उर्वर प्रदेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 128
2. अधिकारी, शुकदेव, चाह जनगोष्ठीर लोकगीत लोक परंपरा आरू उत्सवर रूपरेखा, सरस्वती डी. एन. प्रकाशन, गुवाहाटी, असम, 2015, पृष्ठ- 84
3. वही, पृष्ठ. 93
4. कुर्मी, सुशील, मेघराज कर्मकार रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, असम, 2018, पृष्ठ. 196
5. कुर्मी, सुशील, नारायण घटवार रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, असम, 2020, पृष्ठ.116-117
6. अधिकारी, शुकदेव, चाह जनगोष्ठीर लोकगीत लोक परंपरा आरू उत्सवर रूपरेखा, सरस्वती डी. एन. प्रकाशन, गुवाहाटी, असम, 2015, पृष्ठ. 107
7. कुर्मी, सुशील, मेघराज कर्मकार रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, असम, 2018, पृष्ठ. 201
8. तासा, डिम्बेश्वर, चाह जनगोष्ठीर समाज-संस्कृति, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, असम, 2012, पृष्ठ. 43
9. वही, पृष्ठ - 42
10. अधिकारी, शुकदेव, चाह जनगोष्ठीर लोकगीत लोक परंपरा आरू उत्सवर रूपरेखा, सरस्वती डी. एन. प्रकाशन, गुवाहाटी, असम, 2015, पृष्ठ.102

शोधार्थी,
हिंदी विभाग
तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, असम

आजादी के बाद मानवीय संवेदना का बिखरता मूल्य एवं स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास

रविकान्त राय

आजादी के बाद भारतीय जनमानस में व्यक्ति और समाज दोनों ही संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। प्रो. दीपक त्यागी का यह कथन द्दष्टव्य है 'यह वह काल है जो देश के आर्थिक नव-निर्माण के समान ही नए जीवन के निर्माण का समय बनकर हमारे सामने आया है। भारतीय समाज के संचालन के लिए नया संविधान बना, पंचवार्षिक योजना बनी, लोकतान्त्रिक व्यवस्था के नारे भी गूँजे परन्तु इन सबके बीच समाज में व्यक्ति वाद, वर्गवाद, भ्रष्टाचार तथा विघटन के अनेक तत्व समाज में तेजी के साथ पनपने लगो।'[1]

भारतीय जनमानस ने देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना सबकुछ बलिदान कर दिया। उसे इस देश की आजादी से अनेक आशाएँ थीं। परन्तु उनकी ये आशाएँ समय के साथ धूल-धूसरित होने लगी थीं। आजादी के समय पं. नेहरु ने भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के विरुद्ध लम्बी-चौंड़ी घोषणाएँ की थीं। वह सब आशाएँ शिथिल होने लगी थीं। भ्रष्टाचार ने चारों तरफ पैर पसारना आरम्भ कर दिया था। वह आगे चलकर पूरे भारतीय समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति बन गयी।

आजादी के बाद के लेखकों ने जनता की बिखरती इन आशाओं को अपनी नजरों से देखा था। आजादी के बाद का हिन्दी उपन्यास अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है। भारतीय समाज को राजनीतिक आजादी प्राप्त होने के कारण रचनाकारों ने जिस मुक्ति का अनुभव किया था, उस मुक्ति के लिए वे नए-नए विचार तथा कल्पनाओं को अपने में समेटे हुए थे, पर दूसरी ओर धीरे-धीरे आजादी का मूल स्वरूप जब उनके सामने आया तो पता चला कि यह केवल सत्ता का हस्तान्तरण सिद्ध हआ है। इस आजादी के बारे में उन्हें सोचने को विवश होना पड़ा। अधूरे साक्षात्कार में नेमिचन्द्र जैन इसी विखराव का उल्लेख करते हैं, 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकार समसामयिक जीवन के विविध पक्षों को विस्तार से एक स्तर पर जहाँ समग्रता से समेटने के लिए कृत संकल्पित दिखाई पड़ता है तो दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम में कुंठित एवं खण्डित व्यक्तित्व की करुणा को अभिव्यक्ति करता है।'[2]

आजादी प्राप्ति के कुछ समय प्रश्चात ही भारतीय प्रशासनिक ढांचे के स्वरूप का बिखराव प्रारम्भ हो गया। आजादी के प्राप्त हुए अभी कुछ ही समय व्यतीत हुए थे कि प्रशासन से जुड़े राजनेता अपने स्वार्थ में अन्धा होने लगे। आम जनता बेहद तंगी, गरीबी और बेरोजगारी में जीवन बिता रही थी। इन सबसे हमारी सत्ता के संचालकों को कोई सरोकार नहीं था। अभी आम जनता ने गुलामी से मुक्ति तथा आजादी का प्रथम सबेरा भी नहीं देखा था कि उसके सामने भ्रष्टाचार, घूस और अफसर परस्ती का अंधेरा मड़राने लगा। हमारे जनप्रतिनिधि चुनाव में करोड़ो रुपए व्यर्थ ही व्यय करते हैं और फिर उसकी

पूर्ति के लिए गलत नीतियों का अनुसरण करना प्रारम्भ कर देते हैं। आजादी के बाद आर्थिक दृष्टि से भारत का मानचित्र ही बदल गया। इसी सम्बन्ध में डॉ. ओमप्रकाश अवस्थी का यह कथन द्रष्टव्य है- 'गोदान के होरी का यहाँ झूठा सच हो गया। गाँधी जी की हत्या ने व्यक्ति के बर्बर मानस को प्रकट कर दिया। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ। टूटे जमींदार का स्थान विधायक ने ले लिया। स्कूल कॉलेज के प्रबन्धक बना। वेश्यावृत्ति का उन्मूलन हुआ तो समाज में नए प्रकार का विकार गढ़ गया।'[3] पंचशील में चीनी-हिन्दी, भाई-भाई बने तो सन् 1962-63 में वहीं एक दूसरे के शत्रु भी हो गए। योजनाओं को लेकर हिन्दुस्तान भी रूस, अमेरिका तो न बन सका, परन्तु हिन्दुस्तान भी न रह गया। जनता आश्वासन भोगी बनी, परिणामतः भारत का मैला आँचल शहरों में कौड़ियों के मोल में खरीदा जाने लगा। भारत की स्वतंत्रता के बाद जितना धन भारतीय प्रगति के लिए व्यर्थ किया गया उसमें यदि व्यक्तिगत हिस्सा न निकाला गया होता, तो निःसन्देह एक दूसरा भारत बनकर खड़ा किया जा सकता था और न इतनी कर वृद्धि करनी पड़ती हैं।

आजादी के पहले के हिन्दी उपन्यासों में प्रतिरोध के जो स्वर ब्रिटिश शासन एवं साम्राज्यवाद और पूँजीवादी शोषण के खिलाफ प्रतिवाद का रहा है, जिसमें किसान, मजदूर, सामन्ती सत्ता के खिलाफ गांधीवादी, साम्यवाद का प्रभाव था तो दूसरी ओर आजादी के बाद उपन्यास वर्तमान शोषणवादी व्यवस्था, भ्रष्टाचार, युगीन संघर्ष एवं अन्तविरोधों से ग्रस्त मध्यवर्ग की वास्तविक जमीनी सच्चाई उकेरते हैं। ऐसे उपन्यासों का मूल उद्देश्य भारतीय समाज में नवीन व्यवस्था का निर्माण करना है, जिसकी उत्पत्ति सत्ता एवं व्यवस्था के प्रतिरोध-भाव से होती है जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी और पिछड़े हुए लोगों के जीवन का निर्माण करना है। हिन्दी उपन्यासों में सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने नारी वर्ग के अधिकारों की रक्षा की रचना की थी। उसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए यशपाल (झूठा सच), भीष्म साहनी (तमस), राही मासूम रजा (आधा गांव), जगदंबा प्रसाद दीक्षित (मुर्दाघर), जगदीश चन्द्र (धरती धन, अपना-अपना), मैत्रेयी पुष्पा (चाक), मदुला गर्ग (कढगुलाब), प्रभा खेतान (अपने-अपने चेहरे), नागार्जुन (बलचनमा), कमलाकान्त त्रिपाठी (पाही धर), शिवमूर्ति (तर्पण), बीरेन्द्र जैन (डूब) आदि उपन्यासों का मुख्य विषय समाज के आभिजात्य वर्ग से बहिष्कृत बेजुबान और उपेक्षित किसानों, मजदूरों, स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों की शोषण एवं उपेक्षा की ट्रेजडी का आख्यान है। इनके पात्र अपने अधिकारों के रक्षा के लिए समाज के सामने विरोध के स्वर रेखांकित करते हैं और चेतना के द्वार पर दस्तक देते हैं।

आजादी के पश्चात मानव जीवन का मूल सरोकार बदलने लगा। सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ परिवर्तित हुईं एवं समाज में आर्थिक विषमताएँ बढ़ गईं। इन सब बातों का पता उपन्यास के सहज विषयवस्तु से चलता है। स्वतंत्रता के बाद देश की राजनीति उपन्यास के विषयवस्तु की केन्द्रीय धुरी बनी है। वर्तमान समाज की अर्थव्यवस्था

में उच्च, मध्यम, निम्न वर्ग का अस्तित्व समाज में साथ-साथ है। उच्च वर्ग में नए सामन्त वर्ग, अधिकारी, पूँजीपति एवं महाजन हैं। स्वतंत्रता के पश्चात जमींदारी प्रथा का वैधानिक अन्त हो गया एवं समाज में एक नए सामन्ती वर्ग का उदय हुआ। ये कहने को तो हमारें हितों के रक्षक व सेवक हैं, पर वास्तव में ये जनता का शोषण करने में सबसे आगे होते हैं। 'सती मैया का चौरा' में भैरव प्रसाद गुप्त इसी बात का उल्लेख करते हैं- 'अब तक जमींदार न रहा तो स्थानीय कांग्रेसी नेताओं ने इसकी जगह ले ली है। और किसानों पर वे उन्हीं की तरह हुकूमत करते हैं। इसका इलाज केवल एक है और वह है जनता में वर्ग चेतना पैदा करना। जनता के मुक्ति की लड़ाई को वर्ग संघर्ष पर ले आना।'[4]

वर्तमान समय में विषमता का ऐसा जाल फैल गया है कि धनी व्यक्ति और अधिक अमीर हो रहा है और निर्धन श्रमिक अपना श्रम बेचने के पश्चात भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पा रहा है। परिणामस्वरूप धनी और अमीर हो रहा है तथा निर्धन निरंतर अर्थाभाव का शिकार हो रहा है। श्री लाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' में समाज में इसी प्रकार के भ्रष्टाचार की समस्याओं का उल्लेख किया है। इसके अलावा ग्रामीण जीवन में भूस्वामी और खेतिहर मजदूरों का आपस में सामाजिक व राजनीतिक स्तर पर वर्ग संघर्ष का व्यापक चित्रण सर्वप्रथम नागार्जुन ने अपने 'बलचनवा' उपन्यास में किया है। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात नए संविधान का निर्माण हुआ। देश के अनेक लोगों द्वारा समाज सुधार के प्रयास किये गये, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय विकास अर्थचेतना, स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्ध, संयुक्त परिवार का विघटन, शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य चिंतकों का प्रभाव बढ़ने लगा। इन सभी नवीन मूल्यों का स्वतंत्रता के बाद के उपन्यासकारों ने सजीव रूप से अंकन किया है। डॉ. रघुवर वार्ष्णेय के शब्दों में 'बदलते हुए परिवेश में आज का साहित्यकार अनेक कुण्ठाओं, संत्रासों, टूटन, घुटन, पीड़ा, निराशा और संघर्ष का पूंजीभूत संग्रहालय बन गया।'[5]

वर्तमान समय में मानव का जीवन संघर्ष परआधारित हो गया है। जीवन के हर क्षेत्र में राजनीति का दबदबा बना हुआ है। चाहे वह सरकारी कार्यालय हो, शिक्षा संस्थाएँ हों, न्याय व्यवस्था हो या अन्य कोई क्षेत्र हो, यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि जहाँ भी आज की राजनीति आ जाती है। वहाँ भ्रष्टाचार, सत्तालोलुपता और अनैतिकता का साम्राज्य चारों ओर फैल जाता है, तथा उस क्षेत्र में अराजकता, अव्यस्था तथा निरकुंशता का वातावरण बना रहता है। आज की राजनीति पीढ़ी दर पीढ़ी एक दो खानदानों की खानदानी जायदाद बन गयी है। गाँधी जी को आजादी से पहले स्वराज्य के बारे में ऐसा भय था। वे इस बात को 'यंग इण्डिया' में 26 मार्च 1931 में सहज ढंग से अभिव्यक्त किया है-'मेरे सपनो के स्वराज्य में जाति या धर्म के भेदों का कोई स्थान नहीं हो सकता। उस पर शिक्षितों या धनवानों का एकाधिपत्य नहीं होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं किन्तु लूले, लंगड़े, अन्धे और भूख से मरने वाले लाखों करोड़ों, मेहनतकश मजदूर भी अवश्य आते हैं।'[6]

आज वर्तमान सत्ता से लोग दुःखी हैं। गांधी ने जिस रामराज्य की कल्पना की, वह दूर होती जा रही है, और लोग अपनी सत्ता का संचालन जाति, धर्म के आधार पर कर रहे हैं। पूँजीपति तथा शोषक वर्ग की भागीदारी बढ़ती जा रही है।

अन्याय तथा शोषण की इन व्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर फणीश्वरनाथ रेणु ने आजादी प्राप्ति के दूसरे दशक में ग्रामीण शोषण तथा अन्याय को केंद्रित कर मैला आँचल उपन्यास की रचना की है। इसके माध्यम से समाज के तत्कालीन शोषण तथा अन्याय को उजागर करने का प्रयास किया है। मैला आँचल का कालीचरन शोषण तथा अन्याय का खिलाफत करते हुए कहता है- 'यह जो लाल झंडा है, आपका झंडा है, आवाम का झंडा है, इंकबाल का झंडा है। इसकी लाली उगते हुए आफताब की लाली है। यह खुद आफताब है। इसकी लाली, इसका लाल रंग क्या है, वे गरीबों, महरूमों, मजलूमों, मजदूरों, मजबूरों के खूनों से रंगा हुआ झंडा है।'[7] कालीचरन मैला आँचल में हर पीड़ित व्यक्ति को अपने हक में लड़ने को चेताते हैं।

आदिवासी-दलित समाज के लोगों के प्राकृतिक संसाधनों तथा खेतों का दोहन कर पूँजीपति लाभ कमाने में लगे हैं। इस समाज के लोग अपने घरों तथा आवासों से बेदखल हो रहे हैं। इससे समाज के प्रति प्रतिरोध की भावना बढ़ती है। हिन्दी उपन्यासकार संजीव ने अपने उपन्यासों के माध्यम से इसी समाज के शोषण तथा अन्याय को उजागर किया है। रामचन्द्र तिवारी के मतानुसार - 'संजीव ने 'धार' में क्रमशः बिहार और बंगाल के कोयला खानों में फैले भ्रष्टाचार और कोयला मजदूरों के नारकीय जीवन तथा उन क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों के शोषण का यथार्थ चित्र अंकित किया है। 'धार' में उन्होंने मजदूरों की अपनी सहकारी 'जनखदान' का विकल्प पेश किया है।'[8]

वर्तमान इक्कीसवीं सदी के साहित्यिक परिदृश्य में स्त्री रचनाकारों की भी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। सदियों से हाशिए पर खड़ा यह वर्ग अब समाज में अपना स्थान स्थापित करने के लिए जागरूक हो रहा है। आज की लेखिका परंपरा और रूढ़ि के विरूद्ध सतर्क होकर संघर्ष और प्रतिरोध कर रही है।

निष्कर्षतः भारत के लोगों ने अपने संघर्षो द्वारा देश को आजादी दिलाई थी। इस आजादी में उनकी अपने सुखद भविष्य की अनेक कल्पनाएँ थीं। इस आजादी के द्वारा सभी लोगों को रोजगार का अवसर मिलेगा, समाज के सभी वर्गों को उचित शिक्षा का अवसर मिलेगा, देश के संसाधनों पर समान अधिकार होगा, ऐसा विश्वास लोगों में था। वह आशा और विश्वास आजादी प्राप्ति के कुछ वर्षो में धूमिल होकर बिखर गया। देश में बेरोजगारी तथा भ्रष्टाचार समय के साथ-साथ नित नवीन रूप लेता गया। एक तरफ देश के राजनेता तथा प्रशासक वर्ग के गठजोड़ द्वारा देश में लूट, भ्रष्टाचार अपराधीकरण का बोलबाला समाज में हुआ तो दूसरी तरफ हमारे राजनेता समय के साथ देश की सम्पत्तियों का एकाधिकार प्राप्त कर लेते हैं, देश में आम आदमी के पास रोटी, कपड़ा मकान जैसी मूल आवश्यकताओं का अभाव हैं। उन्हें अपने इस हक के लिए अनेक संघर्ष करना

पड़ता है। इसी के कारण ऐसी व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध की भावना उभरती है और आम आदमी इस व्यवस्था को बदलने का प्रयास करता है। समकालीन उपन्यासकारों के उपन्यासों में व्यवथा की इसी विद्रूपता को चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ :

1. स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि का विकास : दीपक त्यागी, पृ. 110-111
2. अधूरे साक्षात्कार : नेमिचन्द्र जैन पृ. 2- अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली प्र. सं. - 1954
3. नई कविता के बाद : डॉ. ओम प्रकाश अवस्थी, पृ. 10
4. सत्ती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त, पृ. 594, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्र. सं.
5. हिन्दी उपन्यास का समाजशास्त्रीय विवेचन, चण्डी प्रसाद जोशी, पृ. 32 अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर प्रथम संस्करण 1980
6. भारतीय समाज में प्रतिरोध : मैनेजर पाण्डेय पृ. 166 : वाणी प्रकाशन प्रथम संस्करण : 2020
7. मैला आँचल : फणीश्वरनाथ रेणु, पृ. 101, राजकमल प्रकाशन, 2017
8. हिन्दी गद्य साहित्य : रामचंद तिवारी पृ. 199 : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2004

स्वातंत्र्योत्तर समीक्षा के नवीन प्रतिमान

लवली रानी

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना का आलोचना साहित्य में अपना विशेष स्थान है। इस समय समीक्षा में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों ने हिंदी समीक्षा को प्राचीन रूढि-बंधनों से मुक्त कर एक नवीन मार्ग पर अग्रसर करने का सफल प्रयास किया। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य समीक्षा में भारतीय गौरव परंपरा के साथ-साथ पश्चिमीकरण को भी आत्मसात् करने का प्रयास किया है। उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा को आत्मसात् करने पर भी भारतीय आदर्शों की प्रमुखता बनाए रखी थी। स्वातंत्र्योत्तर काल में आलोचकों द्वारा आचार्य शुक्ल के दिखाए मार्ग का अनुसरण करने के साथ-साथ उनकी कमियों को ध्यान में रखकर एक स्वतंत्र दृष्टिकोण भी स्थापित किया गया।

हिंदी साहित्य में नवीन प्रतिमानों का आगमन छायावाद से ही प्रारंभ हो चुका था। कल्पना, आत्माभिव्यक्ति, हृदय अनुभूति, प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग, प्रकृति-प्रेम आदि प्रवृत्तियाँ इसी काल में उभरकर सामने आई थीं। इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल के 'इंदौर साहित्य सम्मेलन' (1934) के भाषण का अंश उल्लेखनीय हैः 'आजकल इस प्रकार के लटके कि 'रस-अलंकार तो पुरानी चीजें हैं, उनका जमाना तो गया' इधर-उधर से नोचकर ही दोहराये जाते हैं। वे कहाँ से आए हैं, उनका पूरा मतलब क्या है। यह सब जानने या समझने की कोई जरूरत नहीं समझी जाती। इन वाक्यों को बात-बात में दोहराने वालो में से अधिकांश तो इतना ही जानते हैं कि रस-अलंकार आदि हमारे साहित्य के बहुत काल से व्यवहृत शब्द हैं, अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद नहीं। इससे इनका नाम फैशन के खिलाफ है। दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति', 'हृदय की अनुभूति' चिल्लाएँगे, पर रस का नाम सुनकर ऐसा मुँह बनाएँगे मानो उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आए हैं। भले मानुष इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है।'[1] स्वछंदतावाद, प्रतीकवाद, नवरहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद आदि का प्रभाव साहित्य समीक्षा पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा। यहीं से हिंदी समीक्षा ने संस्कृत काव्यशास्त्र तथा रीतिवादी मानदंडों को पीछे छोड़ एक नवीन पथ का अनुसरण किया। तत्कालीन समीक्षकों द्वारा स्वछंदतावाद की सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमिका का उद्घाटन किया गया तथा उन्होंने आधुनिक काव्य को राष्ट्रीय चिंतन की धारा मानकर स्वीकार किया। गुण, अनुभूति, प्रभावोत्पादकता एवं अभिव्यक्ति समन्वित कलाकृति को कविता स्वीकार कर उन्होंने इसे ही समीक्षा का प्रतिमान बनाया।

हिंदी साहित्य समीक्षा में स्वातंत्र्योत्तर समीक्षा का युग एक ऐसा समय है जिसमें स्वछंदतावादी प्रतिमानों के निर्धारण के साथ-साथ 'रस सिद्धांत', 'नया साहित्य नए प्रश्न', 'रस सिद्धांतः नए संदर्भ', 'आधुनिक हिंदी कविता की प्रवृत्तियाँ' आदि के अनुशीलन तथा पुनर्मूल्यांकन की परंपरा प्रारंभ हुई। इस नवीन समीक्षा के सैद्धांतिक रूप पर पाश्चात्य

चिंतनधारा एवं पाश्चात्य समीक्षा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, परंतु ग्रहण, मूल्यांकन एवं स्वीकृति द्वारा छायावादोत्तर समीक्षा ने एक व्यापक रूप धारण किया। 'कला जीवन के लिए', 'कला-कला के लिए', 'रसानुभूति', 'कल्पना', 'सौंदर्यबोध', 'अनुभूति', 'काव्यानुभूति', 'अलंकृति', 'मनोविकार', 'सत्यम्-शिवम्-सुंदरम्', 'समरसता', आदि की नवीन परिकल्पना आदि समीक्षा के प्रमुख अंग बनकर सामने आए। अनेक विद्वानों ने रस को व्यवहारिक रूप प्रदान किया तथा उसकी नई व्याख्या भी प्रस्तुत की। इसमें डॉ. नगेंद्र का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने रस को मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक रूप में प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया।'[2] डॉ. नगेंद्र रस को मानव संवेदना पर आधारित स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, 'साहित्य की भूमिका में जब तक मानव संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस सिद्धांत से अधिक प्रमाणिक सिद्धांत की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती।'[3]

इस आलोचना में सर्वाधिक आघात 'रस' को ही पहुँचा। प्राचीन काल से जिस अनुभूति का मानदंड रस हुआ करता था, वह अब अप्रासंगिक प्रतीत होने लगा। इस काल में मार्क्स तथा फ्रायड के विचारों के प्रभाव में समीक्षा के जो नए क्षितिज उभरकर सामने आए, उसमें भी रसवादी आलोचना ने एक नवीन स्वरूप प्राप्त किया। यहाँ रस को प्रतिष्ठित करने में लगे एकमात्र आचार्य डॉ. नगेंद्र अन्य सभी आलोचकों के लिए अग्राह्य हो गए। इसी संदर्भ में नामवर सिंह डॉ. नगेंद्र को लक्ष्य करते हुए लिखते हैं- 'छायावाद के आत्मपरक रोमानी संस्कारों से ग्रस्त आलोचकों ने रस सिद्धांत को आधुनिकता का जामा पहनाने के उत्साह में प्रायः उस सिद्धांत को एक आत्मपरक रोमांटिक सिद्धांत का रूप दे डाला है।'[4]

इस युग में लेखक अनेक भौतिक एवं बौद्धिक प्रभावों के परिणामस्वरूप अपने प्रति अधिक जागरूक हुआ, उसमें आत्मविश्वास तथा आत्मचेतना की भावना बढ़ने लगी। उसने प्राकृतिक एवं दार्शनिक आवरण को त्यागकर साहस पूर्वक अपने हर्ष एवं विषाद को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त किया। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष संबंध जिन जीवन मूल्यों अथवा प्रतिमानों से है, उनमें नैतिकता, व्यक्तिगत आचरण, प्रलय, सैक्स, आधुनिकता, कविता की मूल प्रेरणा, वैज्ञानिकता, व्यवस्था विरोध, राजनैतिक समस्या, प्रतिबद्धता का प्रश्न आदि प्रमुख रहे हैं। नामकरण, प्रतिमानीकरण, मूल्यांकन एवं समीक्षण की दृष्टि से समीक्षा का स्वातंत्र्योत्तर समय वाद, विवाद, प्रतिवाद, समस्याएँ एवं टकराव का काल है। बदलते मानव मूल्य, टूटते परिवेश, नवीन बिंब एवं प्रतीकों के कारण यह युग समीक्षकों के लिए समस्याओं का युग है। इसके साथ ही आज साहित्य की व्याख्या इतिहास, अर्थव्यवस्था एवं शासन-व्यवस्था को केंद्र में रखकर की जाने लगी है। इस समय भारत ही नहीं, विश्व के रंगमंच पर ऐसी स्थापनाओं एवं मान्यताओं का अवतरण हुआ, जिससे साहित्यशास्त्र एवं साहित्य में व्यक्ति स्वातंत्र्य, अपराध बोध, सहअस्तित्व, अति यथार्थबोध, मनोविश्लेषण, यौन कुंठा, मनोरोग, समाजशास्त्र, व्यक्तित्व

का विगलन, आदि बीज शब्द खोजे तथा अपनाए गए हैं। केवल काव्य ही नहीं, अपितु हिंदी साहित्य की प्रत्येक विधा में इतना परिवर्तन हुआ कि नाटक से 'एब्सर्ड नाटक', कविता से 'अकविता' एवं कहानी से 'नई कहानी' का उद्भव नए युग की नवता का प्रतीक बन गया।

इसी अवधि में लक्ष्मीकांत वर्मा कृत 'नई कविता के प्रतिमान (1957) प्रकाशित हुई, जिसने कविता के नए प्रतिमान विषय पर खुली बहस प्रारंभ कर दी।'[5] इसके उपरांत विजयदेव नारायण साही कृत 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' (1966) एवं 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' नामक निबंध के प्रकाशन के साथ ही नई कविता का स्वर संवादी से विसंवादी हो गया।[6] 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' नामक निबंध में उन्होंने नई सर्जना के बदलाव को स्पष्ट करते हुए कहा हैः 'नई कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भूत रही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नए बिंबों या प्रतीकों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। चेतना के जो तत्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केंद्र में आ गए और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया।'[7]

नामवर सिंह कृत 'कविता के नए प्रतिमान' ने इस दिशा में बहस को उग्र रूप प्रदान किया। वाद एवं आधुनिकता के अन्योन्याश्रित संबंध के परिणाम स्वरूप जो नई कविता, नई समीक्षा आदि साहित्य में प्रविष्ट हुए, उनमें परिस्थितियों का दबाव, नए मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं पक्षधरता की आड़ में 'कविता के नए प्रतिमान' अथवा 'नई कविता के प्रतिमान' की अनिवार्यता पर अधिक बल दिया। नवीनता की आपाधापी में छायावादी प्रवृत्ति से सीधा टकराव एवं रस, छंद, अलंकार, अप्रस्तुत विधान ही नहीं, अपितु संपूर्ण काव्यशास्त्र की मान्यताओं को अस्वीकार करना एक गम्भीर परिस्थिति बन गई थी। परिणामस्वरूप 'नया सौंदर्यशास्त्र'; या 'नई समीक्षा' के प्रतिमान स्थापित होने लगे थे। 'साहित्य शरीर की इस अभिवृद्धि से लेखक का मानसिक आकाश और खुला और उससे क्षितिज दूर-दूर तक फैले; साहित्य के आस्वादन, परीक्षण और मूल्यांकन के लिए उसे नए साधन और प्रतिमान मिले और उनका शरीर रचना पर गहरा प्रभाव पड़ा।'[8]

विगत दशकों में हमारे सामाजिक जीवन में व्यापक बदलाव हुए हैं। सूचना क्रांति ने वैश्विक समाज को अत्यंत सीमित कर दिया है। परंपरागत विचार एवं मूल्य अप्रासंगिक से प्रतीत होने लगे एवं विश्व ने एक उन्मुक्त सोच धारण कर ली है। साहित्य भी इससे अलग नहीं है। अब तत्कालिक संदर्भों में आलोचना होने लगी है। आज सोशल मीडिया पर प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त कर सकता है। अतः साहित्यिक प्रतिमानों का यहाँ स्थिर रहना सम्भव भी नहीं है। देश-विदेश में घटित होने वाली घटनाओं

पर आधारित रचना और उस पर त्वरित आलोचनाओं से आलोचना के संदर्भ भी बदलने लगे हैं। इसी कारण अब आलोचना अपने परंपरागत रूप में नहीं दिखाई देती। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कोई सार्वभौम, सार्वकालिक प्रतिमान है या हो सकता है जिसके द्वारा हम प्राचीन एवं नवीन दोनों ही साहित्यों की सार्थक एवं प्रासंगिक समीक्षा कर सकते हैं? अर्थात् आलोचना के किसी एक प्रतिमान को सार्वभौम कहना एक मिथक की सृष्टि करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिस प्रकार नवीन काव्य प्रतिमानों को आधार मानकर प्राचीन अथवा पिछले युग के साहित्य का मूल्यांकन एवं विवेचन नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार पुराने प्रतिमानों को आधार मानकर नए साहित्य की मूल्यवत्ता का आकलन भी असंगत है। इस कारण पुरानी आलोचना पद्धतियाँ जहाँ तक हमारी सहायता करने में समर्थ हैं, उस सीमा तक कुछ युगानुरूप परिवर्तनों के साथ वे ग्राह्य हैं। जब-जब कविता बदलती है, उसके प्रतिमान भी बदलते हैं, परंतु नए प्रतिमान अभी-अभी बनी हुई कविता के लिए ही नहीं होते हैं। वस्तुतः वे कविता के समग्र रिव्यू के लिए होते हैं। उनके आधार पर नया युग अपनी कविता का तो मूल्यांकन करता ही है, साथ ही साथ पूर्वजों की कविता का भी फिर से मूल्यांकन करता है। एक आलोचक ही अपनी दृष्टि से प्रतिमानों को नया रूप देकर उन्हें समयानुकूल निर्मित कर सकता है। हिंदी आलोचना साहित्य में आज सर्वाधिक आवश्यकता रचनाशीलता की प्रवृत्तियों को पहचानकर आलोचना के नवीन प्रतिमान निर्मित किए जाने की है, जिससे समीक्षा अथवा आलोचना अपने सही गंतव्य की ओर बढ़ सके।

संदर्भ :

1. सिंह, नामवर कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, पृ. 43
2. मिश्र, भगवत्स्वरूप, हिंदी आलोचनाः उद्भव और विकास, साहित्य सदन देहरादून, 1954, पृ. 478
3. नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1964, पृ. 363
4. सिंह, नामवर, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, पृ. 53
5. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, पृ. 785
6. वही, पृ. 790
7. वही,
8. अज्ञेय, कवि दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1983, पृ. 29

शोधार्थी (हिंदी विभाग)
एस. एस. जे. परिसर अल्मोड़ा,
उत्तराखंड 263601

गाँव- शेखपुरा पित्था
पो.ओ.- मोजमपुर सूरज
तहसील- धामपुर
जिला- बिजनौर-246761

हिंदी ग़ज़ल में युगीन यथार्थ

प्रो. सुधाकर शेंडगे

ग़ज़ल मूलतः हिंदी का छन्द नहीं है। ग़ज़ल उर्दू के प्रभाव से हिंदी में लिखी जाने लगी किंतु ग़ज़ल उर्दू में भी फारसी के प्रभाव से आयी है। 'ग़ज़ल शब्द अरबी भाषा का है, जिसका अर्थ है प्रेमिका से वार्तालाप किंतु ग़ज़ल विधा का विकास अरबी में न होकर फारसी में हुआ है।'[1]

स्पष्ट है, ग़ज़ल पहले सुरा और सुंदरी तक ही सीमित थी लेकिन हिंदी के मूर्धन्य गजलकार दुष्यंतकुमार और मराठी के सुरेश भट ने इस मान्यता को खारिज करते हुए यह अपनी कलम की ताकत से सिद्ध किया कि गंभीरतम विषयों पर सुंदर ग़ज़लें निर्माण की जा सकती हैं। सन साठ के पहले भी गजलें लिखी गयी हैं किंतु ग़ज़ल को धारदार बनाने का काम सन साठ के बाद ही हुआ है। शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, चंद्रसेन 'विराट', गोपादास सक्सेना 'नीरज', कुंअर बेचैन, रामावतार त्यागी, जहीर कुरैशी, पुरुषोत्तम प्रतीक, बेकल उत्साही, गिरिराजशरण अग्रवाल, रोहिताश्व अस्थाना आदि तमाम ग़ज़लकारों ने ग़ज़ल का रास्ता प्रशस्त करने का काम किया। दुष्यंतकुमार ने अत्यंत सार्थक पहल करते हुए हिंदी ग़ज़ल में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक युगबोध का अत्यंत यथार्थ चित्रण किया है।

सामाजिक यथार्थ :

साहित्य समाज के हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, आशा-निराशा का ही स्वर रेखांकित करता है। साहित्य और समाज का अटूट संबंध होता है। साहित्य ही हाथ में मशाल लेकर समाज को रास्ता दिखाने का काम करता है। हिंदी ग़ज़लकार भी इसी धर्म का निर्वाह करते आया है। हिंदी ग़ज़ल में सामाजिक बोध की अभिव्यक्ति अत्यंत प्रखरता के साथ हुयी है। आधुनिक युग में समाज पूरी तरह से बदल गया है। ध्वस्त मानवीय मूल्यों का यह यथार्थ चित्रण देखिए-

हर इक सड़क पे हो रहा, इंसानियत का कत्ल,
पूरे शहर में फिर भी कोई सनसनी नहीं।'[2]

प्रेम, सामाजिक सौहार्द, सामाजिक सभ्यता और संस्कृति पता नहीं कहाँ खो गये हैं। आपसी सद्भाव भूलकर लोग पता नहीं क्यों एक दूसरे के खून के प्यासे बन गये हैं। हमारा भाईचारा पता नहीं कहां गुम हो गया है। हम दिन-ब-दिन संवेदनहीन बनते जा रहे हैं। हर तरफ जैसे हैवानों का काफिला नजर आता है। इन्सान और इन्सानियत कहीं भी नजर नहीं आते। कोरोना काल ने तो हैवानियत के कई रूप हमें दिखाये हैं। परिवारजनों ने ही अपने आप्तजनों को पहचानने से इन्कार कर दिया। जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर लोगों को आपस में लड़वाया जाता है। जैसे समाज दंगों का और देश कत्ल का मैदान बन गया हो-

'आज दुनिया बन गयी, इन्सानियत की कत्लगाह,
शैतानियत का नाच होता, आज के दौर में।
आदमी इन्सां नहीं है, अब दरिन्दा बन गया,
नोचता आपस में बोटी आज के इस दौर में।'[3]

गाँव भी अब शहराती सभ्यता के प्रभाव में आकर से बदलते नजर आ रहे हैं लेकिन शहर तो पूरी तरह से बदल गये हैं। महानगरीय चकाचौंध ने इन्सानियत का दामन छोड़कर हैवानियत का चोगा पहन लिया है। बहुमंजिली मकानों ने बंद दरवाजों की नई सभ्यता को जन्म दिया है। यहाँ पड़ोसी तक की खबर नहीं है। अपनापन, भाईचारा, प्यार पूरी तरह से नदारद है। लोग इतने स्वार्थी और आत्मकेंद्रित हो गये हैं कि, दूसरों के सुख-दुःख से वे पूरी तरह से उदासीन है। इस संवेदनहीन जीवन को ग़ज़लकार इन शब्दों में अभिव्यक्ति देता है-

'इस शहर में वो कोई बारात हो या वारदात,
अब किसी भी बात पर खुलती नहीं है खिड़कियाँ।'[4]

सामाजिक सौहार्द पूरी तरह से खत्म हो गया है। समाज विखंडित हो रहा है और सामाजिक मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं। आदमी हर पल अपने-आप को असुरक्षित महसूस कर रहा है। गंगा-जमुनी तहजीब गायब हो गयी है। पहले लोग अपने हक और अधिकारों के लिए सड़कों पर आते थे, अब लोग जाति, धर्म के नाम पर एकत्र आते हैं। इकबाल के 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' से हम बहुत आगे निकल चुके हैं। हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे की ओर शक की नजरों से देखने लगे हैं। न केवल मुसलमान बल्कि हर अल्पसंख्य समाज अपने आप को असुरक्षित महसूस कर रहा है। जुलूस, पथराव, आगजनी, लूटमार, छीनाझपटी, कर्फ्यू आम बात हो गयी है। लोग डरे हुए हैं, भयभीत हैं-

'सैर के वास्ते सड़को पे निकल आते थे,
अब तो आकाश से पथराव का डर होता है।'[5]

इस बात से लोगों के मन में कितना खौफ है, इस बात का अंदाजा आ जाता है। हर समय आतंक का साया मंडराता रहता है। निरपराध लोगों पर खुले आम अन्याय-अत्याचार हो रहे हैं। दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक तो इसका शिकार हो ही रहे हैं परंतु नारी की पूजा करने वाले इस देश में खुलेआम उसकी इज्जत लूटी जाती है। नारी की इज्जत का कोई मूल्य नहीं रह गया है। छेड़खानी, बलात्कार और हत्या आम बात हो गयी है। पढ़-लिखकर वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाना चाहती है लेकिन चौखट लाँघते ही उसका हैवानी नजरों से बचना मुश्किल है। अकेली औरत को देखकर लोग जानवर बन जाते हैं। कई बार वह अपने ही परिवारजनों का शिकार होती आयी है। मनुष्य की इस पाशविक प्रवृत्ति का चित्रण अत्यंत मार्मिक शब्दों में किया गया है-

'एक औरत अकेली मिली जिस जगह

मर्द होने लगे जंगली जानवर।'[6]

समाज के सुरक्षा की जिम्मेदारी जिनके कंधों पे है, वे ही अत्याचार करते नजर आ रहे हैं। रक्षक ही यदि भक्षक बन जाएँगे तो क्या होगा हमारा भविष्य? प्रताड़ित नारी जब न्याय माँगने के लिए थाने जाती है तो वहाँ थानेदार ही उस पर अत्याचार करता है। आये दिन ऐसी घटनाएँ देखने-सुनने को मिलती है। रक्षक की इस भक्षक प्रवृत्ति पर यह यथार्थ वर्णन देखिए-

'भला अब कौन अस्मत को बचायेगा
दरोगा कर रहे हैं 'रेप' थानों में।'[7]

इस तरह चारों तरफ झूठ, बेईमानी और फरेब का ही बोलबाला है। सभी चरित्र नैतिकता की आड़ में अनैतिक नजर आते हैं। सच्चाई और ईमानदारी की कोई कद्र नहीं है। आज-कल तारीख की तरह लोग अपना ईमान बदल लेते हैं। आम आदमी मँहगाई, गरीबी, भूखमरी, बेकारी, भ्रष्टाचार से परेशान है। अभाव उसकी जिंदगी का अभिन्न हिस्सा है। दो जून की रोटी भी उसे नशीब नहीं है। यातनाओं से गुजरनेवाले आम आदमी का दर्द इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है-

'रोज रात को बारह का गजर होता है,
यातनाओं के अंधेरे में सफर होता है।'[8]

स्पष्ट है, सामाजिक विद्रूपताओं, बदलते मूल्य, टूटती मान्यताएँ, नारी शोषण, भय, आम आदमी की पीड़ा आदि बातों का अत्यंत सूक्ष्म चित्रण हिंदी ग़ज़लकारों ने किया है।

राजनीतिक यथार्थ :

यह देश सबसे अधिक झुलस रहा है बदलती राजनीति से। आज कोई भी क्षेत्र राजनीति से अछूता नहीं है। दलगत राजनीति में जो तिकड़मबाजियाँ देखने को मिलती हैं, इससे आम आदमी ऊब चुका है। यह देश लोकतंत्र वाला है लेकिन लोकतंत्र ही यहाँ षडयंत्र बनकर उपस्थित होता है। पहले राजनीति में लोग नीतिमान थे इसलिए वे ईमानदार थे, अपनी पार्टी से एकनिष्ठ थे। अब तो लोग एक पार्टी से चुनकर आते हैं और सत्ता के लिए दूसरी पार्टी में चले जाते हैं। कौन विपक्षी है और कौन सत्ताधारी यह समझना भी मुश्किल हो गया है। हमारे देश की संसद तो अखाड़ा बन गया है-

'वह संसद आज की तहजीब में संसद नहीं जिसमें,
न चप्पल है, न जूता है, न थप्पड़ है, न गाली है।'[9]

इस देश में केवल चुनाव होते रहते हैं। राजनीतिक दल जनसभाओं में वादे तो बहुत करते हैं लेकिन निभाता कोई नहीं है। विकास देश का नहीं होता, लोगों का नहीं होता लेकिन राजनेताओं का अवश्य होता है। राजनेता जैसे ही मंत्री बन जाता है तो रातोरात करोड़पति बन जाता है। आजादी का अमृत महोत्सव मनाया जा रहा है लेकिन इन पचहत्तर सालों में हम 'गरीबी' जैसी एक समस्या का भी हल नहीं ढूँढ़ पाएँ हैं क्योंकि पंचवर्षीय योजनाएँ बनायी तो जाती हैं, पर वह लोगों तक पहुँच ही नहीं पाती। इन खोखली योजनाओं

का यथार्थ चित्रण हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था की पोल खोलती है-

'यहाँ तक आते-आते सूख जाती है कई नदियाँ,
मुझे मालूम है पानी कहाँ ठहरा हुआ होगा।'[10]

आज राजनीति दाँव-पेच का आखाड़ा बन चुकी है। राजनीति में सारे बहुरूपिया बन गये हैं। जो चापलूसी करता है, जी हुजूरी करता है, उसे कुर्सी आसानी से मिलती है। राजनीति में बाजारू प्रवृत्ति आ गयी है। टिकट से लेकर मंत्रीपद पेटियों के बलबूते पर खरीदे जा रहे हैं। 'पैसा लगाओ और पैसा कमाओ' की प्रवृत्ति पनप रही है। राजनीति अब एक बिजनेस बन गया है। भ्रष्टाचार की इस महामारी ने देश को खोखला बना दिया है। अपनी राजनीति के लिए देश को भाषा, जाति, धर्म, प्रांत के आधार पर बाँटकर अस्थिर बना दिया गया है। देश के खोखलेपन का चित्रण महेश अग्रवाल इन शब्दों में करते हैं-

'इस कदर फैली महामारी सियासत की यहाँ,
लग रहा है आज सारा मुल्क ही बीमार है।
फिर कसाई आ रहे हैं हाथ में झंडे लिए
देश बकरे की तरह कटने को फिर तैयार है।'[11]

आज नेतागण अपने स्वार्थ में लिप्त नजर आते हैं। चुनाव सभाओं में बड़े-बड़े भाषण तो देते हैं लेकिन चुनकर आते ही जनता से मुँह मोड़ लेते हैं। राजनीति में अक्सर प्रश्न सुलझाये नहीं उलझाए जाते हैं। गरीबी, बेकारी, महँगाई, भ्रष्टाचार जैसे मूल मुद्दों से जनता का ध्यान हटाकर धर्मांधता, सांप्रदायिकता, प्रांतीयता जैसे प्रश्न जानबूझकर उठाये जाते हैं। जातिगत, धर्मगत मुद्दे उठाकर लोगों को भड़काया जाता है। नेता तिकड़मबाजियों का सहारा लेकर चुनाव जीत जाते हैं, सत्ता के भागीदार होते हैं। परंतु आम आदमी के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता। उसे भूखा रहकर अखबार ओढ़कर सोना पड़ता है-

'भाषण छपा है, देश में खुशियाँ बरस रहीं,
लेटे खाली पेट हम अखबार ओढ़कर।'[12]

नेताओं को देश से ज्यादा कुर्सी की चिंता सताती है। कुर्सी पाना ही उसका एकमात्र ध्येय है। कुर्सी न मिलने पर जैसे जल बिन मछली तड़पती है, नेता भी ऐसे ही तड़पता है। कुर्सी पाने के लिए वह कुछ भी करने के लिए तैयार है। सारे नेतागण गंदी राजनीति की दलदल में फँसे हुए हैं। आज की राजनीति में कोई भी दूध का धुला हुआ नहीं है। हमाम में सब नंगे हैं। हर कोई अपने स्वार्थ में लिप्त नजर आ रहा है-

'कोई है इस सियासत में, दूध का धोया हुआ,
देखता हूँ हर किसी को, स्वार्थ में खोया हुआ।'[13]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वर्तमान स्वार्थी राजनेताओं के चरित्र और स्वार्थनीति, तिकड़मबाजियों पर हिंदी ग़ज़लकार ने खुलकर प्रहार किये हैं। राजनीतिक विसंगति और वर्तमान राजनीति के यथार्थ को बड़े ही बेबाक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

आर्थिक यथार्थ :

कहा जाता है कि अर्थ के सिवाय जीवन को कोई अर्थ नहीं है। हमारे देश में अमीरी और गरीबी की खाई दिन-ब-दिन बढ़ती ही चली जा रही है। एक ओर सामान्य जन भूखे सोते हैं और अमीरों का कुत्ता बिस्कुट खाता है और कार में घूमता है। समाज में व्याप्त गरीबी, बेकारी, भूख, अभाव, शोषण, आर्थिक विषमता आदि का सटीक चित्रण हिंदी ग़ज़लकारों ने किया है। 'गरीबी हटाओ' का नारा पचाहत्तर सालों से राजनीति का मुद्दा बना हुआ है। जहाँ रोटी तो छोडिए ठीक ढंग से पानी भी नसीब न हो ऐसी स्थिति है। थोथी नारेबाजी पर करारा व्यंग्य कसते हुए हनुमंत नायडू लिखते हैं-

'नदियों का जल जब भी मिला हमें,
रोटी की माँग पर सदा नारा मिला हमें।'[14]

कहा जाता है कि भारत एक कृषिप्रधान देश है। परंतु भारतीय किसानों की स्थिति काफी दयनीय बन गयी है। किसानों को उनके माल का मोलभाव नहीं मिलता। उस पर कभी आसमानी तो कभी सुलतानी संकट मँडराते रहते हैं। भारत में खेती घाटे का सौदा बन गयी है। किसान जमीन में जितना लगाता है, उतना ही नहीं कमा पाता। परिणामस्वरूप वह कर्ज के बोझ तले दबकर मर जाता है। किसानों की समस्याओं की ओर आज तक किसी ने ध्यान नहीं दिया। इसीलिए किसान आज भी समस्याओं की दलदल में फँसा हुआ है। वह दिन-रात मेहनत करता है, खून-पसीना बहाकर धान उगाता है पर उसी को रोटी मिलना मुश्किल हो गया है। जीते जी तो वह नरक-यातनाएँ झेलता ही रहता है किंतु मरने के बाद भी उसे कफन नसीब नहीं होता-

'हल चलाते ही मरा, दादा तुम्हारे खेत में,
नंगी सूरत ढाकने को, कफन भी न बन सका।'[15]

समाज में आज इतनी विषमता है कि एक वर्ग के पास सुख-सुविधा के सभी साधन उपलब्ध हैं और दूसरा वर्ग अभाव में जिंदगी जी रहा है। एक के पास बंगला है, गाड़ी है, बैंक बैलेन्स है, नौकर-चाकर है दूसरा या तो फुटपाथ पर सो रहा है या भीक माँगकर अपना पेट पाल रहा है। लोकतंत्र वाले इस देश के संविधान ने सभी को समानता का अवसर दिया तो है परंतु इन किताबी बातों से वास्तविक जीवन कोसों दूर है। दलित, स्त्री, आदिवासियों का आज भी शोषण किया जाता है। आदिवासी आज भी जंगलों में रहकर घास-पत्ती खाकर अपना गुजर-बसर करते हैं। गेंडे की खाल पहनी हुई व्यवस्था इतनी मजबूत है कि उसे कोई फर्क नहीं पड़ता-

'घिसी चप्पल, फटा कुरता, बढ़ी दाढ़ी, चढ़ा चश्मा,
रहे यदि पेट भी खाली, तुम्हें क्या फर्क पड़ता है।
तुम्हें ज्वर हड्डियोंवाला, पोलियोग्रस्त है मुन्ना,
खाँसती क्षय से घरवाली, तुम्हें क्या फर्क पड़ता है।'[16]

इस प्रकार देश में फैली सामाजिक विषमता का सार्थक वर्णन हिंदी ग़ज़लकारों ने

किया है। इंडिया और भारत में विभाजित इस देश में इंडिया का पलडा दिन-ब-दिन भारी होता चला जा रहा है और भारत लाचार और बेबस बना हुआ है।

धार्मिक-सांस्कृतिक यथार्थ :

असल में धर्म भारतीय संस्कृति और जीवन का आधारभूत तत्व है। धर्म मूलतः उदार एवं उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण होता है। डॉ. इकबाल ने अपने एक गीत में धर्म की अत्यंत सार्थक व्याख्या करते हुए लिखा है, 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।' यह सच है कि दुनिया का कोई भी धर्म दूसरे धर्म को छोटा नहीं मानता। भारत भी अपनी गंगा-जमुना तहजीब का परिचय देते आया है। लेकिन धर्म की बागडोर जब से अधर्मियों के हाथों में चली गयी है, तब से धर्म भी गर्व का विषय बन गया है। जब से राजनीति के लिए धर्म का इस्तेमाल किया जाने लगा है तब से धर्म आस्था का नहीं द्वेष का विषय बन गया है। धर्मनिरपेक्ष इस देश में धर्म अब आपसी टकराव, सांप्रदायिक दंगे, बढ़ती धर्मांधता ने भाईचारा ही मिटा दिया है। मंदिर-मस्जिद अब आस्था के नहीं राजनीतिक तिकड़मबाजियों के विषय बन गये हैं। बेकल उत्साही का यह यथार्थ चित्रण देखिए-

'हम कहीं हिंदू कहीं मुस्लिम बने बैठे रहे
धर्म के चौपाल पर सारा वतन जलता रहा।'[17]

प्रश्न यह है कि हम हिंदू बनेंगे, मुसलमान बनेंगे लेकिन कभी इन्सान बनेंगे की नहीं? दोनों समुदायों के बीच बढ़ती खाई कभी कम होगी की नहीं? नफरत की जगह पर प्यार-मोहब्बत पनपेगी की नहीं? हमें सबसे पहले भारतीय होना चाहिए, धर्म का अनुपालन केवल घर में होना चाहिए। एक-दूसरे पर हावी होकर, एक दूसरे को नीचा दिखाकर हम हिंदू-मुसलमान तो बन सकते हैं लेकिन इन्सान नहीं-

'मुझे बाद में बनाना, कोई हिंदू या मुसलमां,
मुझे पहले एक इन्सान बड़े प्यार से बना दो।'[18]

हिंदी गजलकार यह मानता है कि, 'मुझ में रहते हैं करोड़ो लोग, चुप कैसे रहूँ!' अर्थात कवि होने के नाते लोगों के दुख-दर्द को दुनिया के सामने रखना मेरा धर्म-कर्तव्य है। सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक यथार्थ को वह अत्यंत सार्थक शब्दों में हमारे सम्मुख उपस्थित करता है लेकिन भाईचारा, सामाजिक सद्भाव बनाए रखने की दृष्टि से यह बहुमूल्य संदेश भी देता है-

'अब तो इक ऐसा वरक मेरा-तेरा ईमान हो,
इक तरफ गीता हो जिसमें एक तरफ कुरआन हो।
काश ऐसी भी मोहब्बत हो इस देश में कभी
मेरे घर उपवास हो जब तेरे घर रमजान हो।'[19]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि, हिंदी ग़ज़लकारों ने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक उथल-पुथल का अत्यंत यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। संवेदनाहीन समाज, लोगों में बढ़ती पाशविक प्रवृत्ति, बदलते मूल्य, धार्मिक

उन्माद, भ्रष्ट राजनीति, बढ़ती स्वार्थवृत्ति, राजनीतिक विसंगति, धर्म और जातिवाद आदि का अत्यंत सार्थकता से चित्रण किया गया है। इनमें राजनीतिक यथार्थ अत्यंत प्रखरता के साथ मुखर हुआ है। वास्तविक यथार्थ के साथ-साथ कुछ सकारात्मक संदेश भी ये गजलकार देते हैं।

संदर्भ :

1. खराटे मधु, साठोत्तरी हिंदी ग़ज़ल, विद्या प्रकाशन, कानपुर, 2002 पृ. 30
2. कुंवर बेचैन, शामियाने कांच के, प्रगति प्रकाशन, गाजियाबाद, 1983 पृ. 86
3. देवीदास 'बिस्मिल', टुकड़े-टुकड़े जिंदगी, इतिहास शोध संस्थान, दिल्ली, 1987, पृ. 23
4. दुष्यंतकुमार, साये में धूप, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975, पृ. 47
5. वही, पृ. 47
6. जहीर कुरैशी, चांदनी का दुख, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1986, पृ. 73
7. वही, पृ. 63
8. दुष्यंतकुमार, साये में धूप, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975, पृ. 47
9. सं. डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल, हिंदी की सर्वश्रेष्ठ ग़ज़लें, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, 1982, पृ. 42
10. दुष्यंतकुमार, साये में धूप, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975, पृ. 15
11. सं. डॉ. रोहिताश्व अस्थाना, बहुरंगी हिंदी ग़ज़लें, सुनिल साहित्य सदन, पृ. 92
12. हनुमंत नायडू, जलता हुआ सफर, अमन प्रकाशन, कानपुर, 1998, पृ. 35
13. अवधकिशोर सक्सेना, वातावरण खराब हो चला, आराधना ब्रदर्स, कानपुर, 1991, पृ. 79
14. हनुमंत नायडू, जलता हुआ सफर, अमन प्रकाशन, कानपुर, 1998, पृ. 24
15. प्रतिमा सक्सेना, आधुनिक हिंदी ग़ज़ल और आधुनिकता, पृ. 216
16. डॉ. रोहिताश्व अस्थाना, हिंदी ग़ज़ल : उद्‌भव और विकास, सामायिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987, पृ. 227
17. सुरेंद्र चतुर्वेदी, अंदाजे बयां और, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, 1995, पृ. 13
18. सं. डॉ. शेरजंग गर्ग, ग़ज़लें ही ग़ज़लें, सुबोध पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1977, पृ. 173
19. गोपालदास सक्सेना 'नीरज', नीरज की पाती, हिंदी पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1992, पृ. 125

प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
डॉ. बाबासाहब आंबेडकर मराठवाड़ा,
विश्वविद्यालय, औरंगाबाद

'लौटना नहीं है' में स्त्री-जीवन

नैन सिंह (शोध छात्र)

डॉ. अरविंद कुमार यादव, सहायक आचार्य

समसामयिक दौर में हम देख रहे हैं कि स्त्री कई स्थानों पर सशक्त हुई है। अनेक क्षेत्रों में वह पुरुषों से अधिक प्रखर साबित हुई है। वैश्वीकरण के बाद इस सदी में स्त्री की विविध क्षेत्रों में सक्रियता को देखा जा सकता है। आज स्त्री ने सार्वजनिक स्थानों पर कार्य करने, स्वच्छंदता से विचरण व परिवार नियोजन आदि में निर्णयात्मक भूमिका निभा रही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री आज घर की दहलीज से निकल कर परतंत्र से मुक्त स्वतंत्र कहलाती है परंतु भूमंडलीकरण के इस दौर में स्त्री स्वतंत्रता केवल सैद्धांतिक बहसों में मिलती है। व्यवहारिक धरातल पर यदि देखा जाएगा तो हमें पश्चिमीकरण के इस नये दौर में न स्त्री स्वतंत्र मिलेगी न पुरुष की पितृसत्ता वाली मानसिकता खत्म मिलेगी। हाँ वह कुछ विशेष स्थानों पर सशक्त अवश्य हुई है। 'बेहद कठिन होता है लोकापवाद से दो-दो हाथ कर किन्हीं अबूझ तहखानों में बंद सच्चाई को मुक्त कराना। उतना ही कठिन है रूढ़ियों को अपदस्त कर नई संकल्पनाओं को आकार देना या वैचारिक जागृति का एक व्यापक जनान्दोलन चला कर रूढ़ियों को समाप्त किया जाना। लेकिन धीरे-धीरे रूढ़ियाँ मर कर भी अपनी स्मृतियों को ओझल नहीं होने देतीं। वे स्मृतियों को बीज बनाकर अपने को जिलाए रखती हैं और प्रतिगामी ताकतों की जमीन को सींच उन बीजों को वहाँ रोप देती हैं। तो क्या कुछ भी नश्वर नहीं? कुछ भी परिवर्तनीय नहीं?'[1]

इससे सहज रूप में कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रयासों के पश्चात भी समसमायिक दौर में स्त्री अनेक संघर्षों से गुजर रही है। स्त्री सुरक्षा और सशक्तता के लिए हिन्दी साहित्य में जिन लेखकों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया, उनमें समसामयिक दौर के लेखक कैलाश बनवासी का नाम भी आता है। ग्रामीण पृष्ठभूमि से जुड़े कैलाश बनवासी ने अपने कथा साहित्य में स्त्री की विभिन्न जटिलताओं को सामने लाया है। दरअसल समसामयिक दौर तेज बदलाव का दौर है जिसमें पश्चिमीकरण के तौर-तरीकों ने और सोशल मीडिया ने स्त्री के अस्तित्व और उसके लिए साहित्य में चल रहे 'स्त्री विमर्श' की दशा और दिशा को पूरी तरह से बदल कर रख दिया है। लेखक अपने साहित्य में आधुनिक स्त्री की जटिलताओं को सामने लाने में सफल रहे हैं। वे अपने कथा साहित्य में देश, धर्म और समय की सीमाओं को लाँघते हुए स्त्री-हित और सुरक्षा की माँग रखते हैं। लेखक स्त्री जीवन के वैयक्तिक और सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को समसामयिक धरातल पर स्पष्टता से उठा पाने में सफल रहे हैं।

कैलाश बनवासी अपने आत्मकथात्मक उपन्यास में ग्रामीण संस्कृति की उन परम्परागत मान्यताओं-संस्कारों को खुल कर सामने लाते हैं जो ग्रामीण महिलाओं को कैद में जकड़े हुए हैं। उनके दादा खिलावन प्रसाद स्त्री को स्वतंत्र नहीं बल्कि परतंत्र रखने और रहने

में विश्वास रखते हैं- 'मेरे दादा खिलावन प्रसाद ज्यादातर हमारे गांव सगनी में रहते थे, बीच-बीच में आते रहते थे, वो दीदी को साड़ी पहनने के लिए कहते थे। 'जा गाँव में जा के देख तो तेरे से छोटी-छोटी टुरियाँ (लड़कियाँ) बढ़िया सुग्घर साड़ी पहनती हैं और बेटी, साड़ी में ही लड़कियों का रंग-रूप अच्छा फबता है।'[3] दादा पुरानी मानसिकता के हैं जो 21वीं सदी में आधुनिक कहे जाने वाले भारतीय गाँव की बेटी को नसीहत कर रहे हैं कि बेटियाँ साड़ी में ही फबती हैं। साड़ी पहनना भारत की संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। परन्तु दादा जी जैसे पितृसत्तात्मक मानसिकता के लोग गाँव की महिलाओं पर आज भी सदियों से चली आ रही परम्पराओं को बलात थोपते हैं। इसी कारण से उनमें समय के अनुसार मानसिक विकास नहीं हो पाता।

समसामयिक दौर में महिला हर क्षेत्र में हस्तक्षेप कर चुकी है। वह घर, परिवार को संभालते हुए अन्यत्र भी कार्यरत देखी जा सकती है। कामकाजी स्त्री को दो वर्गों में बाँट कर स्पष्टता से समझा जा सकता है। एक वह स्त्री जो अपने परिवार अपने बच्चों के लिए बावजूद विपरीत परिस्थितियों के जी तोड़ मेहनत-मजदूरी करती है। दूसरी वह स्त्री जिसे दो पाटों को सँभालना पड़ रहा है। घर के सारे कामकाज और देख-रेख तथा अपनी नौकरी के सारे काम। घर में कामकाजी स्त्री को दो मुख्य समस्याओं से वर्तमान में संघर्ष करना पड़ रहा है। उसे सामाजिक विसंगतियों के चलते और रूढ़िवादी परम्पराओं के चलते घर परिवार में पितृसत्तात्मक मानसिकता का शिकार होना पड़ रहा है। घर के बाहर जब वो मजदूरी के लिए निकलती है तो बड़े-बड़े सेठ-साहुकारों, मिल मालिकों और ठेकेदारों आदि लोगों की गंदी मानसिकता के खौफ और शोषण को झेलना पड़ रहा है। पढ़-लिखकर नौकरी पेशा स्त्रियाँ जो आर्थिक रूप में स्वयं को मजबूत बनाती हैं, उन्हें भी समसामयिक दौर में शोषण के नए-नए आयामों से होकर जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। कहना होगा कि कामगार स्त्री घर या बाहर अभी शोषण का लगातार शिकार हो रही है। घर में सम्मान पाने, अपने भविष्य के लिए स्वयं को आत्म निर्भर करने, कड़े परिश्रम के पश्चात नौकरी हासिल करने के लिए स्त्री आज जब व्यापक धरातल पर अपने पैर पसार चुकी है। आज भी उसे पुरुषसत्ता वाली मानसिकता का सामना करना पड़ रहा है। आज भी उन्हें स्वयं से ऊँचे ओहदे पर बैठे पुरुष, उनका कामकाजी स्त्री पर मालिकाना हक जताना और उनकी हवसमयी मानसिकता और गंदी तथा बेबुनियाद टीका टिप्पणियों का सामना करना पड़ रहा है।

कैलाश बनवासी का कथा साहित्य कामकाजी स्त्री की इन सभी जटिलताओं के यथार्थ का बोध करवाता है क्योंकि इनका साहित्यिक लेखन आधुनिक समसामयिक बोध करवाता है। इसीलिए इनके साहित्य के कुछ शिक्षित नारी पात्र अपने हक और अस्मिता के लिए आवाज उठाते हैं। अपने घर-परिवार के लिए घर में कार्यरत स्त्री और घर से बाहर घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए मजदूरी करती स्त्री के संघर्ष को लेखक ने बड़ी सजीवता और सजगता से सामने लाया है। उपन्यास 'लौटना नहीं है' में

लेखक पारिवारिक स्थिति का बयान करते हुए अपनी माँ तथा अन्य कामगार स्त्रियों के संघर्ष को सामने लाता है। पिता माँ को बेवजह प्रताड़ित करते रहते हैं। इसके बावजूद भी माँ परिवार का सारा काम-काज नियमानुसार कुशलतापूर्वक करती है। परिवार की गरीबी और बच्चों के भविष्य के लिए घर के सारे काम के बाद माँ कारखाने में भी काम करती है। 'माँ और काकी बीड़ी बनाती थीं। घर इसमें सहयोग करता। काकी फरमाइश 345 छाप कम्पनी की बीड़ी बनाती और माँ गाय छाप बीड़ी कम्पनी के लिए। वे दोनों कम्पनी को बीड़ी कारखाना कहती। सभी बीड़ी कामगार यही कहते।'[4]

भारत में स्वतंत्रता के बाद स्त्री शिक्षा एवं अन्यत्र खेतों में क्रांतिकारी परिवर्तन देखे जा सकते हैं। पिछले कुछ दशकों में महिलाओं की शिक्षा जगत में व्यापक प्रगति हुई है। भारतीय संविधान ने इस दिशा में एक सकारात्मक रुख अपनाया। यहाँ अधिकारों में स्त्री को पुरुष के समकक्ष अधिकार दिये गए हैं। स्त्री शिक्षा, सेवा तथा अन्य क्षेत्रों में संवैधानिक स्तर पर अनेक प्रयास हुए और उनमें समसामयिक दौर में परिवर्तन भी हो रहे हैं। यही कारण है कि आधुनिक स्त्री पढ़-लिखकर घर की दहलीज पार कर अपना भविष्य सुनिश्चित कर पाई। आज के विकसित दौर में सार्वभौमिक रूप से कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता जहाँ स्त्री को शिक्षा से दूर रखने की साजिश हो। अपितु वर्तमान में अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रक्रिया जारी है। गाँवों में बेटियाँ आर्थिक तंगी के चलते शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ हैं। दूसरा पौराणिक पितृसत्ता वाली मानसिकता रखने वाले पुरुष आज भी बेटियों को बोझ मानते हैं। बेटियों की शिक्षा के लिए वो धन व्यर्थ नहीं करना चाहते। उनकी यह मानसिकता रहती है कि बेटी पराया धन है। इस पर पैसा बर्बाद नहीं करेंगे। तीसरा कारण है खौफ। वर्तमान में दिनों दिन बलात्कार जैसी घटनाओं ने माता-पिता के दिलों में दहशत पैदा कर दी है। गाँव की लड़कियों को अधिक पढ़ने नहीं दिया जाता। यह मान कर कि अधिक पढ़-लिखकर लड़की बिगड़ जाती है। कैलाश बनवासी का कथा साहित्य पुरुषवादी मानसिकता, गाँव की पुरानी परम्पराएँ और वर्तमान समय की दहशत आदि तमाम उन कारणों को सामने लाता है जो आधुनिक दौर में भी स्त्री को शिक्षा से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में वंचित रखने के जिम्मेदार हैं।

कैलाश बनवासी का ग्राम जीवन संस्कृति, प्रकृति, स्त्री और पारिवारिक, सामाजिक आदि आयामों पर आधारित आत्मकथात्मक उपन्यास है - 'लौटना नहीं है'। इसमें लेखक ने गौरी के माध्यम से गाँव में स्त्री शिक्षा की दशा के यथार्थ को टटोला है। गौरी होनहार और गरीब परिवार की सामान्य लड़की है। उसे पढ़ने-लिखने में बहुत रुचि है वो पढ़ना चाहती है। परन्तु उसके परम्परागत विचारों वाले दादा का मानना है कि लड़की की जल्द-से-जल्द शादी कर दी जाए और इस बोझ से छुटकारा पाया जाए। बाबा यानी दादा का तो एकदम साफ कहना था, 'और ज्यादा पढ़के क्या करेगी? लड़की जात कितना ही पढ़-लिख ले, उसको चूल्हा ही फूँकना है।'[5] कहना नहीं होगा कि आज भी गाँव के कुछ पुराने विचारों वाले लोग और शहरों में या गाँव में बसे कुछ मध्यवर्गीय लोगों

की मानसिकता अप्रत्यक्ष रूप से यही रहती है कि लड़की उन पर एक बोझ है जिसे उसकी शादी करवा कर उतार देना चाहिए। गौरी की इच्छा थी और अधिक पढ़ने की लेकिन रूढ़ियों ने उसकी इच्छा को तहस-नहस कर डाला - 'मैं तो पढ़ना चाहती थी... वह कहती थी और उस क्षण एक छाया सांझ के गहरे अंधेरे की तरह उसके गोल गेहुएँ चेहरे पर घिर आती थी, भूरी आँखों में एक उदासी अपनेआप आती थी, कुछ मनचाहा छूट जाने की पीड़ा, जिसे तुम अब दोबारा वापस नहीं पा सकते। एक खालीपन फैला देती है भीतर और कुछ नहीं। फिर तत्क्षण इस छाया से बाहर आ जाने का दिखावा भी करती थी, कि एक पल पहले जो थी, वह दूसरी थी और अभी जो सामने है, वह यह विश्वास करने वाली है कि बेकार के अफसोस से क्या फायदा कि दुनिया में बहुत सारे हैं जो पढ़ नहीं सके।'[6]

गौरी की यही मानसिकता बना दी गई है कि उसे केवल घर का काम और सेवा करते रहनी है। गरीबी और परिवार के बड़े सदस्यों के आदेश के अनुसार गौरी पढ़ाई के विचार त्याग कर सिलाई का काम सीखने लगती है। वह शादी के लिए राजी हो जाती है और अपने पढ़ाई के सपने को पौराणिक परम्पराओं के हाथ में सौंप देती है। बलात्कार जैसी रोजमर्रा की वारदातों और स्त्री की आधुनिक सोशल मीडिया द्वारा प्रस्तुत की गई नंगी और वहशी प्रस्तुति ने भी स्त्री शिक्षा को प्रभावित किया है। संकुचित या व्यापक सोच रखने वाले कुछ माता-पिता को स्कूल, कॉलेज या अन्य संस्थानों पर शिक्षा ग्रहण करने जा रही बेटी का डर सदैव रहता है। यही कारण है कि गाँव की कुछ बेटियों की शिक्षा प्रभावित हो रही है। 'गौरी पिछले पांच महीने से सिलाई-क्लास आ रही है। आठवीं कक्षा वह दूसरी बार में पास हुई है। पिछले साल इसके बाद घर ने उसकी पढ़ाई रुकवा दी। घर में लड़की का ज्यादा पढ़ना-लिखना अच्छी बात नहीं मानी जाती। मानते हैं, ज्यादा पढ़-लिख लेने से लड़कियाँ बिगड़ जाती हैं। घर के पास इस मामले में मुहल्ले सहित कई नाते-रिश्तेदारों की लड़कियों के उदाहरण हैं कि वो पढ़ीं और बिगड़ गईं।'[7] साहित्य, शासन, संविधान और अन्यंत्र आज पूरी तरह से इस तथ्य पर यकीन कर लिया गया है कि स्त्री स्वतंत्र और पूर्ण सशक्त हो चुकी है। भारत की अधिकतर जनसंख्या गाँव में निवास करती है। गाँव में अब भी पौराणिक पितृसत्तात्मक व्यवस्था पुरुषों की मानसिकता में जिन्दा है। इसी कारण गौरी जैसी अनेक बेटियाँ शिक्षा ग्रहण नहीं कर पा रही हैं। कैलाश बनवासी का कथा साहित्य पुरुष और ग्राम संस्कृति की उस पौराणिक मानसिकता को सामने लाता है जो आधुनिकता और सभ्य होने का मुखौटा पहनकर अप्रत्यक्ष रूप से स्त्री को शिक्षा से दूर रखने का कारण है।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों और पौराणिक परम्पराओं के आगे 'लौटना नहीं है' उपन्यास में गौरी अपने प्रेम को समर्पित कर देती है। वह कमल से प्रेम करती है और उसी से विवाह करना चाहती है। सब कुछ जानते हुए भी माता-पिता उसे आदेश देते हैं कि रायपुर वाले लड़के से तुम्हारी शादी तय हो चुकी है। यह इसलिए कि रायपुर वाले

लड़के की पक्की नौकरी है। माता-पिता जानते हैं कि लड़का उम्र में बड़ा है फिर भी गौरी को आदेश दे दिया गया है कि वही तुम्हारे जीवन का साथी है। विवश होकर 'गौरी धीरे-धीरे इस रिश्ते से खुद को जोड़ लेती है। वह अब कुछ और नहीं कर सकती थी... उसे अपनी जिन्दगी वैसे ही गुजारनी है जैसे तमाम लोग। उसकी अपनी कोई पहचान तो बन ही नहीं पाती। उन्हें इस भीड़ में ही रहना है उसका अपना कोई चुनाव नहीं होता।'[8] बड़े शहरों और कुछ हद तक गाँवों में भी स्त्री आज स्वयं को सिद्ध कर पाई है। यह समसामयिक यथार्थ है कि आज भी गौरी जैसी लाखों ग्रामीण स्त्रियाँ परतंत्र हैं जिनके प्रेम और भविष्य माता-पिता के आदेशों और पुरानी जर्जर हो चुकी रीतियों और परम्पराओं पर टिके हुए हैं। गौरी जानती है कि उसके प्रेम और भविष्य का गला घोट दिया गया है। अब माता-पिता केवल औपचारिकता मात्र के लिए उसकी राय जानना चाहते हैं। 'बाबा ने गौरी से उस रिश्ते की बाबत पूछा था, 'ठीक तो है न बेटी? तुमको खुशी तो है न? बोले बेटी आखिर ये तेरे जीवन भर का सवाल है 'ठीक है बबा।' अलगनी में टंगे बाबा के मैले कपड़े उतारते हुए उसने कहा। वह क्या ठीक है जो गौरी जैसी लड़कियों से उत्साहहीन 'ठीक है' कहलवा लेता है। उनका लड़की होना? बड़ी होने पर घर के लिए बोझ होना या अंततः एक दिन उस घर से खदेड़ दिए जाने का अहसास बहुत शिद्दत से होना? या इन सबसे मिलकर बने संस्कारों और परम्पराओं का सदियों पुराना बोझ जिन्हें ढोते जाना ही उनकी नियति है? साहसहीनता और यथास्थितिवादिता का उसके खून में मिला हुआ धीमा जहर।'[9]

ग्रामीण भारत की अधिकतर लड़कियाँ आज भी गरीबी या 'बड़ों के आदेश का पालन करने' की पौराणिक भारतीय परम्परा के कारण अपनी यथास्थितिवादिता को सरलता से स्वीकारने के लिए विवश हैं। जहाँ बेटियों के प्रेम और उज्जवल भविष्य से अधिक अपनी खोखली पौराणिक मान-मर्यादाओं को ध्यान में रखा जाता है। पश्चिमीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति के चलते आधुनिक होने की आड़ में भारतीय समाज ने समसामयिक दौर में प्रेम की परिभाषा को पूरी तरह से बदल दिया है। आधुनिक मीडिया के विविध आयामों ने पश्चिम का हाथ थाम कर इस दिशा को और भी मजबूत बना दिया है। आज स्वच्छंद और उदार प्रेम की भावना का स्थान शारीरिक प्यास ने ले लिया है। 'लौटना नहीं है' उपन्यास में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लेखक मानते हैं- 'यहाँ की लड़कियों को पहले-पहल अपना होना महसूस कराया था। घर के बाहर की ऐसी दुनिया जो वे सिर्फ अपने सपनों में देखा करती थीं, सोचा करती थीं। सहसा सिनेमा ने उनकी बेरंग दुनिया को ढेर सारे रंगों से रंग डाला था। इनकी आधुनिकता या बन रही नयी सोच का जरिया भी यही था। सूरज की रोशनी पड़ते तालाब की तरह झिलमिलाता रूपहला सिनेमा।'[10]

इसमें कोई दो राय नहीं कि कैलाश बनवासी समसामयिक यथार्थ के लेखक हैं। यही कारण है कि जिस समय और समाज का यथार्थ वो सामने ला रहे हैं उसमें उन्होंने स्वयं

की भी आहुति दे दी है। 'लौटना नहीं है' उनका आत्मकथात्मक उपन्यास है जिसमें लेखक ने स्वयं के प्रेम में आई पश्चिमी वृति तक को भी सामने लाया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कैलाश बनवासी के उपन्यास में स्त्री जीवन का यथार्थ दिखाई देता है। चूँकि उन्होंने यह शुरुआत अपने घर-परिवार से की है इसलिए उनका यह यथार्थ सार्थक प्रयास कहा जा सकता है। लेखक ने अपनी बहन गौरी और माँ के माध्यम से स्त्री जीवन के यथार्थ, अपने पिता के द्वारा पितृसत्ता के वर्चस्व, स्त्री के प्रति दोयम दर्जे के व्यवहार आदि का चित्रण किया है। एक तरफ उपन्यास में कामकाजी स्त्री के जीवन का सच दिखाया है, वहीं दूसरी तरफ ग्रामीण स्त्री जीवन के विविध सामाजिक पक्षों को भी दर्शाया है। कैलाश बनवासी उन हिंदी कथाकारों में आते जो सच को सीधा सपाट लिखने की हिम्मत रखते है। चाहे वह घर-परिवार का यथार्थ हो या समाज का। उनका लेखन हमें इस बात पर चिन्तन करने को मजबूर करता है कि स्त्री विमर्श की बड़ी बड़ी बातें तो हम करते हैं लेकिन अपने घर में हम स्त्री को सही सम्मान देने से कतराते हैं क्योंकि हम उसे बेड़ियों में बाँध कर रखने के आदी हो चुके हैं। उसकी स्वतंत्रता की बातें हम पुरुष समाज में बेशक करते हैं लेकिन यथार्थ रूप में इसे अमल में हम नहीं लाते हैं। इसी बात पर अमल लेखक ने अपने उपन्यास में किया है।

संदर्भ :

1. डॉ. राकेश कुमार मौर्य (स.), भारतीय समाज में नारी, शोध मीमांसा पत्रिका, 2015, पृ. 41
2. डॉ. विपिन गुप्ता (स.), रोहिणी अग्रवाल (लेख), स्त्री प्रश्न और प्रतिबद्धता का सवाल, सत्ता विमर्श और साहित्य, पृ. 19
3. कैलाश बनवासी, लौटना नहीं है, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 2014, पृ. 22
4. वही, पृ. 65
5. वही, पृ. 17
6. वही, पृ. 44
7. वही, पृ. 17
8. कैलाश बनवासी, लक्ष्य तथ्य अन्य कहानियाँ (पहिये), पृ. 30
9. कैलाश बनवासी, लौटना नहीं है, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 2014, पृ. 94
10. वही, पृ. 38

पीएचडी शोधार्थी,
हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, साम्बा-181143

भक्तिकाल और आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना

सपना तिवारी

भक्ति आंदोलन के साथ भारतीय समाज, संस्कृति और साहित्य के विकास की नई अवस्था का आरंभ होता है। जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म, कला, साहित्य, भाषा और संस्कृति के दूसरे रूपों में दिखाई देती है क्योंकि भक्ति आंदोलन भारतीय संस्कृति के अतीत की स्मृति है। यह केवल सांस्कृतिक आंदोलन नहीं है, बल्कि एक व्यापक सामाजिक आंदोलन भी है क्योंकि उसमें संस्कृति के विभिन्न रूपों में जनता के सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। वास्तव में यह सामंती संस्कृति के विरुद्ध जनसंस्कृति के उत्थान का अखिल भारतीय आंदोलन है।

मैनेजर पांडेय के अनुसार-'भक्ति आंदोलन एक अखिल भारतीय जनसंस्कृति के जागरण का आंदोलन है। जिसका पहले की संस्कृति, परंपरा और कविता से गहरा संबन्ध है, और बाद की संस्कृति, परंपरा और कविता के विकास में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।' जब महाराष्ट्र में दलितों ने वर्ण व्यवस्था और जाति-प्रथा के प्रति विद्रोह किया तब उन्हें मराठी के भक्त कवि नामदेव, तुकाराम और चोखामेला आदि से प्रेरणा मिली और शक्ति भी। हिंदी दलित क्षेत्र का आंदोलन कबीर और रैदास के विचारों से प्रभावित होता रहा है। 'सांप्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में प्रेरणा का अक्षय स्रोत है भक्त कवियों की कविता।'[1]

भक्ति आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह मानी गई है कि वह धर्म को साधना का नहीं, बल्कि भावना का विषय मानता है। इसी संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने भक्ति को धर्म का रसात्मक रूप कहा है। भक्ति लगभग 400 वर्षों तक हिंदी साहित्य की प्रधान प्रवृत्ति बनी रही। इस भक्ति आंदोलन ने हिंदी को कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा जैसे कवि दिए। इन महान भक्तों और कवियों की कालजयी कृतियों के कारण ही विद्वानों ने हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को स्वर्णयुग कहा है।

शुक्ल जी भक्ति आंदोलन को मूलतः धर्म का तीन अंग मानते हैं। धर्म के तीन अंग-कर्म, ज्ञान और भक्ति। 'धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के अभाव से वह विकलांग रहता है, कर्म के बिना वह लूला-लँगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदयहीन क्या निष्प्राण रहता है।'[2]

साहित्य का अस्तित्त्व समाज से अलग नहीं होता इसलिए साहित्य का विकास भी समाज के विकास से कटा हुआ नहीं हो सकता। साहित्य सामाजिक रचना है, साहित्यकार की रचनाशील चेतना उसके सामाजिक अस्तित्त्व से निर्मित होती है- 'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'[3]

शुक्ल जी के इस कथन को भक्तिकालीन साहित्य और पुख्ता करता है। भक्ति आंदोलन भारतीय संस्कृति और साहित्य के इतिहास में जनसंस्कृति के उत्थान और उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का आंदोलन है। यह एक प्रकार से जनसंस्कृति के नवजागरण का आंदोलन है, जिसमें जनभाषा में जनजीवन से जुड़े कवियों द्वारा जनभावना की अभिव्यक्ति हुई है जिसमें जितना फैलाव था उतनी गहराई भी और वह उतना ही जनोन्मुखी भी थी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के महत्वपूर्ण आलोचनात्मक प्रयत्नों के बावजूद भक्तिकाव्य की व्याख्या हिंदी आलोचना के लिए आज भी एक चुनौती है। इसका एक कारण भक्तिकाव्य की अपार सृजनात्मक समृद्धि है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा की कविता एक आंदोलन से जुड़ी हुई है, लेकिन उन सब की कविता एक सी नहीं है, उनमें से हरेक की कविता का अपना विशिष्ट रूप, रंग और स्वर है।

भक्तिकाव्य के किसी भी व्याख्याकार के सामने एक समस्या भक्ति आंदोलन से इस्लाम और उससे जुड़ी हुई सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के संबन्ध की रही है। कुछ लोग भक्ति आंदोलन को इस्लाम और मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया समझते हैं तो कुछ दूसरे उस पर इस्लाम का अत्यंत सीमित प्रभाव मानते हैं।

ग्रियर्सन, रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति के उदय की व्याख्या तीन भिन्न रूपों में करते हैं। ग्रियर्सन के लिए वह बाह्य प्रभाव है, रामचंद्र शुक्ल के लिए वह बाहरी आक्रमण की प्रतिक्रिया है, और हजारी प्रसाद द्विवेदी उसे महज भारतीय परंपरा का अपना स्वतः स्फूर्त विकास मानते हैं।

आचार्य शुक्ल अपने इतिहास में भक्ति के उदय की व्याख्या करते हुए इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि यह धारा एक रूप में दक्षिण से उत्तर की ओर आ रही थी 'भक्ति काव्य का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था, उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली जा रही थी।'[4]

इस भक्ति प्रवाह में स्वामी मध्वाचार्य ने भी योग दिया। उन्होंने द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया। इस संप्रदाय में भी काफी लोग आए रामानुज की शिष्य परंपरा में उत्तर या मध्य भारत में पंद्रहवीं शताब्दी में स्वामी रामानंद हुए, जिन्होंने वैष्णव भक्ति का प्रशस्त मार्ग निकाला और अपने अनुयायियों की एक विशाल वाहिनी खड़ी की। इन तमाम बातों की चर्चा के बाद शुक्लजी पुनः दोहराते हैं-

'भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई,उसी ने उत्तरभारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई।'[5]

वहीं द्विवेदी जी ने हिंदी सहित्यः उद्भव और विकास में लिखा है- 'यह बात अत्यंत

उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण में।'[6]

भक्ति आंदोलन के उदय के कारकों के संबन्ध में सर्वाधिक विवाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं को लेकर है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल मुस्लिम आक्रांताओं से हिंदुओं के पराभव और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को भक्तिकाल के विकास का प्रमुख कारण मानते हैं। उनके अनुसार 'अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को आचार्य शुक्ल की यह मान्यता स्वीकार नहीं थी कि भक्तिकाल बाहरी आक्रमण की प्रतिक्रिया है। उन्होंने इसे भारतीय परंपरा का स्वतःस्फूर्त विकास बताते हुए लिखा है-'लेकिन मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'

इरफान हबीब के अनुसार-'उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन की निर्गुण धारा के उत्थान में शिल्पियों और जाटों, किसानों की प्रमुख भूमिका रही है। वे निर्गुण धारा को 'एकेश्वरवादी धारा' कहते हैं। 13वीं-14वीं शताब्दी में नए शासकों की सत्ता स्थापित होने पर विलास सामग्री और सुविधाओं की माँग बढ़ी। केंद्रीय सत्ता स्थापित होने पर सड़कों, भवनों आदि का निर्माण तेजी से होने लगा। इससे अवर्ण शिल्पियों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। आर्थिक स्थिति बेहतर होने पर उनमें अपनी सामाजिक मर्यादा को ऊपर उठाने की भावना पैदा हुई। निर्गुण-पंथ के अवर्ण संतों की भावना का सामाजिक आधार यही था।'[7]

आचार्य शुक्ल की प्रतिज्ञा में केंद्रीय प्रयोग 'जनता की चित्तवृत्ति' है। तथा आचार्य द्विवेदी की प्रस्तावना में ऐसा प्रयोग 'लोक चिंता' का है। शुक्ल जी 'लोक' शब्द की छायाओं से परिचित नहीं थे। साहित्य के उद्देश्य के संबंध में वे बराबर 'लोकमंगल' की बात करते हैं पर यहाँ उन्होंने 'जनता' शब्द चुना है जो समाज के सभी वर्गों और समूचे जनजीवन को समेटता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द 'लोक' है जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है। यों द्विवेदी की चिंता समाज के पिछड़े वर्ग की ओर अधिक है। तब यह भी स्वाभाविक है कि आचार्य शुक्ल के मानक कवि जनता में प्रिय तुलसी हैं, जबकि द्विवेदी के मानक कवि लोक में प्रिय कवि कबीर हैं।

आचार्य शुक्ल भक्ति काव्य को लोकधर्म की अभिव्यक्ति मानते हैं और रामविलास शर्मा उसे लोकजागरण का काव्य कहते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी लोकधर्म को भक्ति आंदोलन की जन्मभूमि मानते हैं, लेकिन लोकधर्म की उनकी धारणा शुक्ल जी से भिन्न है। वह शास्त्रीय धर्म के विरोध और विकल्प में विकसित लोकधर्म है। नामवर

सिंह लोकधर्म को जनसाधारण के विद्रोह की विचारधारा कहते हैं। वास्तव में आचार्य शुक्ल के लोकधर्म का आधार है, तुलसीदास की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि और आचार्य द्विवेदी के लोकधर्म के मूल में कबीरदास की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि है।

'तुलसीदास संबन्धी आलोचना का बीजशब्द 'लोकधर्म' है। 'लोकमंगल' और 'लोकसंग्रह' भी उसी से संबद्ध हैं। 'लोकधर्म' के दो पक्ष हैं- धन पक्ष और ऋण पक्ष। धन पक्ष में सामाजिकता, सहृदयता आदि का समावेश है, तो ऋण पक्ष में वर्णाश्रम धर्म का। तुलसी में उन्होंने युगबोध, जातीय उत्थान, धर्म समन्वय, मार्मिक जीवन के उद्घाटन की शक्ति आदि को देखा है। 'लोकधर्म' के अंतर्गत सत-असत की पूर्वनिर्धारित कोटियाँ मान ली गई हैं। वर्णाश्रम धर्म का पालन करना सत पक्ष है और न करना असत पक्ष। लोकधर्म के इस ऋण पक्ष के आधार पर उन्होंने तुलसी की प्रशंसा की है और कबीर आदि संत कवियों को लोकविरोधी कहा है।'[8]

भक्ति काव्य में जहाँ वर्णाश्रमवादी समाज-व्यवस्था, उस व्यवस्था के पोषक शास्त्रों और उन शास्त्रों को धारण करने वाले पंडितों का विरोध दिखाई देता है वहाँ शुक्ल की भौहें तन जाती हैं। ऐसा विरोध सबसे अधिक निर्गुण काव्य में है, इसलिए उसके सामने आते ही शुक्ल जी कटु हो जाते हैं। वह कटुता कहीं सीधे प्रकट होती है और कहीं व्यंग्य बनकर। इसका सबसे दिलचस्प उदाहरण नामदेव के प्रसंग में दिखाई देता है।

शुक्ल जी का संकेत स्पष्ट है-'नामदेव सगुण भक्त हुए थे अपने ही हृदय की प्रेरणा से लेकिन निर्गुण बने दूसरों के कहने पर। सगुण होना स्वाभाविक प्रक्रिया है, लेकिन निर्गुण होना पतन है, इसलिए निर्गुण की ओर झुकने वाले नामदेव 'बेचारे' हो गए।'[9]

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में नामदेव की सगुण और निर्गुण दोनों तरह की कविताओं को उद्धत किया है, पहले सगुण के पद, बाद में निर्गुण के। सगुण लीला के पदों को उद्धत करने के बाद उन्होंने लिखा है-'यह तो हुई नामदेव की व्यक्तोपासना संबन्धी हृदयप्रेरित रचना।' फिर बाद के निर्गुण पदों को लक्ष्य करके लिखा है-'आगे गुरु से सीखे हुए ज्ञान की उद्धरिणी अर्थात 'निर्गुन बानी' भी देखिए।' इस व्यंग्य-बाण का लक्ष्य केवल नामदेव की निर्गुण कविता ही नहीं है, कबीर की कविता भी है, बल्कि पूरे निर्गुण की कविता है।

ऐसा नहीं है कि शुक्ल जी कबीर और अन्य निर्गुण-पंथी भक्तों की क्रांतिकारी भूमिका को पहचानते नहीं थे, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझते न थे खूब समझते थे कि कबीर ने समाज की नीची समझी जाने वाली जातियों में आत्मगौरव का बोध पैदा किया। जायसी ने राम-रहीम की एकता पैदा करने की कोशिश की, यह सब उन्होंने अपने सहित्योतिहास में लिखा है।

भक्तिकालीन साहित्य ने सामान्य जन में आत्मविश्वास भर, सम्मानपूर्ण जिंदगी जीने के लिए स्वाभिमान का संचार किया, दुनिया को वाह्याचारों से मुक्त कर प्रेम के महत्व को स्थापित करने की पुरजोर कोशिश की, चाहे पौराणिक अवतारवादी सगुण मार्ग हो या निर्गुण साधना का मार्ग-'सगुणमार्गी साधना ने हिंदू जाति की वाह्याचार की शुष्कता

को आंतरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने वाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने शास्त्र का सहारा लिया दूसरे (निर्गुणमार्गी) ने विद्रोह का।'[10]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के भक्ति आंदोलन संबन्धी विचारों की व्याख्या करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि-'मध्यकाल में मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच द्वंद का है।'[11]

भक्ति आंदोलन शास्त्रीय धर्म का विरोध करने वाले लोकधर्म के उत्थान का आंदोलन है। उस लोकधर्म में उस युग के किसानों और दस्तकारों के विविध वर्गों-उपवर्गों की मिली-जुली भावनाओं की अभिव्यक्ति है और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह की चेतना है।

कबीर जिन मानवीय भावों को लोकधर्म का आधार बनाकर समाज में मनुष्यत्व की भावना का विकास करना चाहते थे, उनमें सबसे अधिक व्यापक और गंभीर भाव है प्रेम। वही भक्ति का मूलभाव है और संपूर्ण भक्तिकाव्य का केंद्रीय भाव भी। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि-'भक्तिमार्ग शुद्ध भावमार्ग या प्रेममार्ग है। उसका आधार मनुष्य की सहज रागात्मिका-वृत्ति है। उसकी पद्धति वह प्रेम-पद्धति है जिसे सब लोग स्वभावतः जानते हैं।'[12]

जायसी, सूर और मीरा की प्रेमानुभूति विधि-निषेध से स्वतंत्र है। वह शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से मुक्त मानवीयता के विकास में सहायक है। भारतीय समाज में इस प्रेम का विशेष महत्व यह है कि वह कर्मवाद की मान्यताओं का निषेध करता है।

जायसी तथा सूफी कवियों ने 'सांस्कृतिक एकता' स्थापित करने का प्रयास किया, सामाजिक सांप्रदायिक वैमनस्य की जगह उन्होंने प्रेम के उदार धरातल पर अपनी कविता को उतारा-'सूफियों ने भारत में भावात्मक एकता के साथ-साथ मिश्रित सांस्कृतिक परंपराओं का भी सूत्रपात किया।'[13]

सूफी कवियों ने समाज को बहुत करीब से देखा था इसलिए उनकी कविता में लोक है, समाज है, संस्कृति है, उनकी धरती है, पेड़-पौधे, जीव-जंतु, ऋतुएँ सब कुछ है बस किसी प्रकार की संकीर्णता, कृत्रिमता आदि उनकी रचनाओं में देखने को नहीं मिलती।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने' का श्रेय देते हैं वहीं रामविलास शर्मा उन्हें 'अवध की धरती', वहाँ की जनसंस्कृति, वहाँ की बोली बानी के सबसे निकट' पाते हैं।

'सूरदास के काव्य में यत्र-तत्र उस युग की रहन-सहन पहनावा, बोलचाल, धर्म आदि पर प्रकाश पड़ता है।'[14] वे जनता की इच्छा की राजनीति और जनाकांक्षित राजनीति की स्थापना चाहते थे। 'राजधर्म तब भए सूर जँह प्रजा न जाय सताए।'

भक्तिकालीन साहित्य का पूरा चरित्र सत्तावाद, सामंतवाद का विरोधी रहा है। कृष्ण भक्तिधारा के कवि 'कुंभनदास' का वह पद 'संतन को कहा सीकरी सो काम' इस पूरी

विचार परंपरा का प्रतीक है। तुलसीदास ने 'प्राकृत जन कीन्हें गुन गाना।' की प्रशस्ति परंपरा का विरोध किया। उनका यह स्वर न केवल विद्रोही स्वर है बल्कि दूसरे अर्थों में चारण-भाट-सामंत पूजा का तिरस्कार करता है। शुक्ल जी के अनुसार-'भ्रमरगीतसार की भूमिका का बीज शब्द है-'जीवनोत्सव'। यह प्रेम का जीवनोत्सव है। सूर को वे भावाधिपति कहते हैं। सूर की गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। उनका प्रेम कृष्ण के साहचर्य में विकसित हुआ है। उसमें रूप का आकर्षण, जीवन की उमंग है, उल्लास है। सूर, तुलसी का अंतर बताते हुए उन्होंने कहा है कि पहले की दृष्टि श्रृंगार तक सीमित है जबकि दूसरा लोकसंग्रह का बराबर ध्यान रखता है, पहले में नूतन प्रसंगोद्भावनाएँ मिलेंगी तो दूसरे में उनका अभाव है।'[15]

आचार्य शुक्ल के अनुसार भक्ति काव्य में जहाँ माधुर्य भाव है, वहाँ प्रेम प्रायः एकांतिक है। वह पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है, इसलिए लोकबाह्य हैं। इस दृष्टि से केवल तुलसीदास का प्रेम लोकबद्ध है, बाकी जायसी तथा सूरदास का प्रेम अंशतः एकांतिक है और मीरा का पूर्णतः। 'भक्ति आंदोलन देश और काल में दीर्घकाल तक व्याप्त आंदोलन था। अभी भी भारतीय मानस पर इसका बहुत गहरा प्रभाव है। यह आंदोलन देश काल की सीमाओं में यानी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत उदार एवं मानवीय था।' भारत में पहला धार्मिक आंदोलन था जिसमें गृहस्थ नारियों ने इतना बड़ा हिस्सा लिया। इसलिए भक्ति आंदोलन नारी को घर छोड़कर बाहर आने की प्रेरणा देता था। घर, जो नारी-पराधीनता का मध्यकाल में प्रतीक बन गया था और आज भी बहुत दूर तक बना हुआ है। जिस युग में सूरदास ने अपनी रचना की उसमें पराधीनता थी। लीला वर्णन के माध्यम से सूर ने उन स्थितियों का स्वप्न देखा जिसमें नारी बंधनों को तोड़कर कुंठा रहित तौर पर अपने प्रिय के साथ विचर सकती है। रास, महारास का केवल धार्मिक आध्यात्मिक महत्व ही नहीं, उसका सामाजिक महत्व भी है।'[16]

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में वैसा ही क्रांतिकारी परिवर्तन किया जैसा प्रेमचंद ने उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में किया था। उन्होंने साहित्य को रीतिवादी मानसिकता से पूर्णतः मुक्त किया तथा पहली बार सैद्धांतिक और व्यवहारिक समीक्षा का समन्वय किया। रस जैसे वैयक्तिक तत्व को लोकमंगल से जोड़कर उसके भीतर निहित सामाजिक पक्ष को उभारा। उन्होंने हिंदी समीक्षा को न केवल संस्कृत काव्यशास्त्र के मनादण्डों से संबद्ध किया बल्कि अंग्रेजी समीक्षा के प्रतिमानों का भी पर्याप्त समन्वय किया। यही कारण है कि इतना समय बीत जाने के बाद भी समीक्षा के इतिहास में उनका महत्व अक्षुण्ण है।

संदर्भ :

1. हिंदी कविता का अतीत और वर्तमानःमैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-38
2. हिंदी साहित्य का इतिहासः आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली,

पृष्ठ-39
3. हिंदी साहित्य का इतिहासःआचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-40
4. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकासः रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-30
5. भक्ति आंदोलन के सामाजिक सुधारः गोपेश्वर सिंह, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ-17
6. हिंदी साहित्यःउसका उद्भव और विकासः हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-55
7. हिंदी साहित्य का सरल इतिहासः विश्वनाथ त्रिपाठी, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ-11-12
8. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहासः बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-392
9. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्यः मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-28-29
10. कबीरः हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-183
11. भक्तिआंदोलन और सूरदास का काव्यः मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-29
12. वही, पृष्ठ-36
13. हिंदी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य एवं अवधारणाएँ- सावित्री चंद्र,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-84
14. सूर साहित्यः हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-108
15. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहासः बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-393
16. मीरा का काव्यः विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-33,40,49

शोधार्थी
पी.एच. डी, दिल्ली विश्वविद्यालय

नरेंद्र मोहन के नाटकों में राजनीतिक व्यवस्था

सरिता यादव

पिछले दो दशकों में ऐसे बहुत से नाटक लिखे गए, जिनमें नगरीय-महानगरीय जीवन में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संबंधों में पारिवारिक तनाव और अर्थहीनता को मुख्य बिंदु बनाया गया है, किंतु उन नाटकों में वे नाटक अधिक विश्वसनीय हैं, जो सत्ता की विषमता, घूसखोरी और नृशंसता को उभार सके हैं। इस प्रकार की रचनाओं में शुतुरमुर्ग, एक और द्रोणाचार्य, दरिंदे, सिंहासन खाली है, बकरी, लड़ाई आदि नाटक चर्चित हैं। 'कबीर' को केंद्र में रखकर कई नाट्य कृतियाँ रची गई हैं। जिनमें 'काशी का जुलाहा' (गोविंद वल्लभपंत, महावीर अग्रवाल), 'कबिरा खड़ा बाजार में' (भीष्म साहनी), 'इकतारे की आँख' (मणि मधुकर), 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' (नरेंद्र मोहन) आदि नाटक लिखे गए हैं। इन सभी नाटकों में कबीर के विरोधी स्वभाव को दर्शाया गया है। कबीर व्यवस्था-विरोधी के प्रतीक के रूप में हमारे सामने आते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि आज के अधिकांशतः नाटक 'व्यवस्था विरोध' को ही केंद्र में रखकर लिखे जा रहे हैं।

व्यवस्था को केवल राजनीतिक व्यवस्था से ही जोड़ा नहीं जा सकता है। व्यवस्था अर्थात जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संरचना, राजनीतिक सोच और अर्थतंत्र को अपने में समाहित किया हुआ है। आजादी के बाद भारत जिस सपने के बारे में सोच रहा था, परिणाम ठीक उसके विपरीत ही रहे। राजनीतिक सत्ता ने चारों ओर अपनी-अपनी धाक जमा ली। गरीब लोग गरीब होते चले गए, अमीर और अमीर होते गए। अमीर लोग शासक बन गए और गरीब जनता का शोषण करने लगे। 'भारतीय राजनीति सत्ता का पर्याय बन गई। देश की साठ करोड़ आबादी में से कुछ लोग शासक वर्ग में हैं...यह पिछले डेढ़ हजार वर्षों की बीमारी, जिसके चलते सारी आर्थिक शक्ति, राजनीतिक सत्ता और बौद्धिक समझ मुट्ठीभर शासक-वर्ग में केंद्रित हो गई है। गाँव और शहर के बीच आर्थिक विषमता का जो अनुपात आजादी के समय एक और दो का था वह बढ़कर एक और चार हो गया है।'[1]

नरेंद्र मोहन के सभी नाटकों में जन-साधारण की स्थितियाँ, सत्ता का चरित्र, जनता का विरोध, अभाव, उत्पीड़न और यातना का अंधेरा चारों ओर फैला हुआ है। 'सींगधारी' नाटक को छोड़कर अन्य सभी नाटक 'अतीत और इतिहास' से जुड़े हुए हैं। इन नाटकों में समकालीन समय के भ्रष्टाचार, शोषण, राजनीतिक, अवसरवादी, आतंकवाद आदि विसंगतियाँ दिखाई देती हैं। 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' में अपृश्यता के कारण हो रहे अत्याचार, उत्पीड़न को नाटककार ने आक्रोशपूर्ण ढंग से समझाया है। 'हमें तो तकलीफ दिन-रात कचोटती रहती है। जानते हो हम सैकड़ों वर्षों से इसी तरह पिटते चले आ रहे हैं। क्या कसूर है हमारा? यही न कि हम नीच जाति के हैं, चमार हैं।'[2] इन उदाहरणों से

स्पष्ट होता है कि व्यवस्था चाहे सामंतवादी हो या पूँजीवादी हो या जनतांत्रिक आदि सभी के आधार पर जनता के साथ अमानवीय अत्याचार बराबर हो रहा है।

नाटककार ने कबीर के माध्यम से आम जनता की पीड़ा को व्यक्त किया है। ऐतिहासिक नाटक के माध्यम से आज के यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार इस नाटक में सिंकदर लोदी, अपने आदमी कोतवाल, दीवान आदि के माध्यम से आम जनता का शोषण करता है, वैसे ही वर्तमान युग के नेता भी अपने खास आदमियों के द्वारा अपना काम निकलवाते हैं। नाटक में किसान की दयनीयता को भी प्रस्तुत किया गया है। किसान आम आदमी का प्रतीक है। एक किसान समाज में हो रहे अन्याय और अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाता है। जब वह अपनी समस्या को लेकर दीवान के पास जाता है तो दीवान अपने आदमियों द्वारा उसे बुरी तरह पिटवाते हैं- 'कबीर - यह तो सरासर अन्याय है। क्या सुल्तान को खबर है कि उसके राज में इतना जुल्म हो रहा है।

बिजलीखाँ - उसे खबर क्यों न होगी। उसके जासूस हर सरदार, अमीर, वजीर और दीवान के गिर्द छाया की तरह मँडराते हैं। उसके इशारे से ही सब होता है।'[3]

इस संवाद से स्पष्ट होता है कि जैसे पहले के समय में राजा के चापलूस भोली जनता पर अत्याचार करते थे। आज भी नेता के इशारे पर चलने वाले मासूम जनता पर जुल्म कर रहे हैं। स्वतंत्रता के बावजूद भी आम जनता से उनका अधिकार छीनकर, उन पर शोषण हो रहा है। जब कोई आम आदमी शोषण का विरोध करता है तो सत्तावर्ग या प्रशासन उसे धमका, डरा के रोक देता है। हमारे देश की विवशता ही यही है, जब नेता सत्ता पर आसीन हो जाता है तो वह अपने सभी वायदे भूल जाता है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि नेताधारी सत्ता मिल जाने पर जनता से विमुख हो जाते हैं।

'सींगधारी' नाटक में नाटककार ने 'गुंडों के राज' को चित्रित किया है। नेता के दलालों से आम आदमी इतना पीड़ित है कि उनका कहना मानने के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं बचता है। शिव एक पत्रकार है। वह सच को सामने लाना चाहता है किंतु वह वक्त के टुकड़ों को जबड़ों में दबोचे बदहवास जीने के लिए बाध्य हो गया है। नाटक में आतंकवाद को बढ़ावा देने वाले नेता को चित्रित किया गया है। नाटक के तीसरे दृश्य में एक बच्चे की मौत हो जाती है, लेकिन व्यवस्था यह मानने को तैयार ही नहीं है कि वह बच्चा है। नेता इस बात को नकारते हुए कहता है 'तुम फिजूल की बहस कर रहे हो, बरखुदार! पहले यह तय करो, यह बच्चा है भी या नहीं।'[4] इस प्रकार कहा जा सकता है कि नेतावर्ग सत्ता को बचाये रखने के लिए देश में आतंकवादियों की भी मदद करते हैं। नेता सब कुछ जानते हुए भी अनजान बना रहता है। शिव जैसे पत्रकार लोग नेता की सच्चाई जनता के सामने लाने का प्रयास करते हैं-

'नेता - तुम्हारे जैसे पत्रकार से मुझे यह उम्मीद नहीं थी।...याद रखो शीशे टूटने के पीछे कोई विदेशी हाथ है।.....

शिव - हालात का फायदा विदेशी ताकतें क्यों न उठाएँगी, पर जहाँ तक हाथ की

बात है, यह नेता का ही है। इस हाथ को मैंने भिवंडी में देखा था, असम में देखा था और अब पंजाब में।'[5]

महाराष्ट्र के भिवंडी, असम या पंजाब जैसे शहरों में हुए दंगों में नेताओं का हाथ था। प्राचीन समय हो या वर्तमान युग, हमारे नेता अपनी कुर्सियाँ बचाने के लिए गुंडों तथा पूँजीपति वर्ग से मिलकर समाज में दंगे-फसाद करवाते हैं। हमारे देश में भ्रष्टाचार, दंगे-फसाद, घूसखोरी आदि का बोलबाला है, जिसका कारण हमारे देश की व्यवस्था है। नाटक में नेता जमींदार तथा साहूकार से मिलकर दंगे करवाता है। शांति मार्च में नेता द्वारा लाठी चार्ज किया जाता है। शिव अपने कैमरे के द्वारा सच्चाई को लोगों के सामने लाना चाहता है किंतु उसके कैमरे को भी छीन लिया जाता है। विडंबना यह है कि पुलिस सब कुछ देखते हुए भी कुछ नहीं करती है। हमारे देश की पुलिस भी सत्ताधारियों के इशारे पर नाचती है।

'शिव- कुछ गुंडे लाइन में घुस आए और हुडदंग करने लगे। मैं पीछे था। जब तक आगे आता, लाठियाँ बरसने लगीं थीं। दो गुंडे मुझे मारने के लिए लपके....

शिव - ट्रक के पीछे एक कार थी, जिसमें जमींदार जसवंत और साहूकार तरसेम बैठे हुए थे।

विमल - तो

शिव - जसवंत और तरसेम नेता के आदमी हैं।'[6]

इसी प्रकार 'कलंदर' नाटक में भी सत्ता और उनकी ऐजेन्सियों ने न केवल आम जनता को बाहरी तौर पर पीड़ित किया है बल्कि उन्होंने उन्हें असहाय, संवेदनशून्य और अकेला बना देने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी है। सुलतान जलालुद्दीन खिलजी के समय में मुस्लिम दरवेश में आए नए संप्रदाय 'कलंदर' का उदय हुआ। नाटक में 'कलंदर' और सूफी संतों तथा सुलतान के बीच हुए संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है। सुलतान द्वारा हो रहे अत्याचारों का कलंदर विरोध करते हैं। सुलतान को इल्म और इलहाम पसंद नहीं है। वह चाहता है कि जो वह कहे सभी उसे आदेश मानकर करते रहे हैं। चूँकि सत्य की आवाज को रोका नहीं जा सकता है, इसलिए सीदी मौला असत्य तथा अन्याय के खिलाफ आवाज उठाता है। जब सीदी मौला के खिलाफ सुलतान को कोई भी सबूत नहीं मिलता है तो वह उसे आग में जला देने की बात करता है। काजी उसे यह करने से रोकता है - 'सुलतान, हमारी गुजारिश है कि यह इंसाफ करने की सही रिवायत न होगी। यह तरीका नहीं है आप जानते हैं, आग की सिफत है जलाना, कसूरवार हो या बेकसूर। इस तरह की तजवीज गैर-कानूनी है। गुस्ताखी माफ हो, सुलतान, इससे इंसाफ की तौहीन होगी।'[7]

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि इतिहास और वर्तमान दोनों ही युगों में राजनीतिक व्यवस्था से जुड़े लोग बेकसूर लोगों पर शोषण करके राज्य करते हैं। वर्तमान युग की राजनीति में षड़यंत्र और अपराधपूर्ण राजनीति के दर्शन बड़े पैमाने पर नजर आते हैं।

सत्ता पाने के लिए नेतावर्ग बेगुनाह और भोली-भाली जनता को अपने षड़यंत्र में फँसा देते हैं। नाटककार ने अपने नाटक के माध्यम से राजनीति के असली चेहरे को समाज के सामने लाने का प्रयास किया है।

'नौ मैंस लैंड' में रामकिशन पात्र के द्वारा नाटककार ने इस कटु सच को उजागर किया है- 'हुक्मरान तो चाहते ही हैं कि तुम लोग मानते रहो कि जो है, वो है। वो तुम्हारी कल्पना की शक्ति को ही कुंद कर देना चाहते हैं। इस शक्ति को खत्म कर देने पर उनके लिए कितना आसान हो जाता है फूट डालना और राज करना, नफरत के बीज बोना और फसाद कराना-तवारीख को हमारे सिर पर हथौड़े की तरह मारना, जुगरफिया को जख्मी करना और वतन को विरासत से काटना...।'[8]

इस संवाद से स्पष्ट होता है कि शोषक-उत्पीड़क अपनी शक्तियों द्वारा यथास्थिति को बनाए रखना चाहते हैं, किंतु इनके परिणाम दूरगामी ही होते हैं। ये न केवल तात्कालिक क्षति पहुँचाते हैं बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक समरसता को भी छिन्न-भिन्न कर देते हैं। नेता को व्यवस्था में अपने आसन को बनाए रखने के लिए और आगे के आसन तक पहुँचने के लिए दो-चार व्यक्तियों का मरना उनके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता है। हम कह सकते हैं कि 'देश के रक्षक ही भक्षक' बन गए हैं।

देश में क्रांति लाने के लिए न जाने कितने ही महात्माओं ने जन्म लिया है किंतु सत्ता हमेशा उन्हें रोकती आई है। उन्हीं में से एक नाम संत तुकाराम का है। जिन्होंने अपने अभंगगाथा के द्वारा समाज में नई चेतना लाने की कोशिश की किंतु सत्ताधारी तुकाराम को अपने षड़यंत्रों के माध्यम से बदनाम करते रहे। सत्ता समाज में किसी प्रकार की क्रांति नहीं लाना चाहती है। यही कारण है कि मंबा जी तुकाराम को समाज के नजरों में गिराना चाहता है। मंगला और तुकाराम को एक साथ दिखाकर, तुकाराम को बेइज्जत कर देता है।

'देखो, देखो संत जी महाराज को। बेहया, कैसे रंगरेलियाँ मना रहा है। वेश्या के साथ। छि, मैं शर्म से गड़ा जा रहा हूँ।

आदमी एक - यह मैं क्या देखा रहा हूँ। मंगला और तुकाराम साथ-साथ।'[9]

जिस प्रकार कबीर का संबंध उनकी शिष्या के साथ जोड़कर उन्हें बदनाम किया गया। वैसे ही तुकाराम को भी बदनाम किया गया। राजनीति से जो भी जुड़ जाता है, वह अपने ही फायदे के बारे में सोचने लगता है। सत्ता कभी किसी की नहीं होती है। खुद को बचाने के लिए वह किसी भी हद तक जा सकती है। इसका जीता-जागता उदाहरण मिस्टर जिन्ना है। जिन्ना के प्रति सभी के मन में द्वेष है। जिन्ना ने राजनीति के आड़ में देश का बँटवारा करवा दिया किंतु जीवन भर उनके मन को शांति नहीं मिली। वे कभी खुश नहीं थे। जिन्ना का राजनीतिक चेहरा अलग था और व्यक्तिगत रूप अलग। नाटककार ने जिन्ना के व्यक्तिगत जीवन के माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था के दूसरे पहलू को उजागर किया है। यह नाटक जिन्ना के राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन के उतार-चढ़ावों

से संबंधित है। देश के बँटवारे को लेकर लोग जिंदगी भर जिन्ना को कटघरे में खड़ा करते रहे हैं। यह नाटक उस व्यक्ति की खोज है जिसके भीतर देशभक्ति की भावना ने सांप्रदायिक राजनीति का रूप ले लिया। जिन्ना मुसलमानों को एक अलग, अपना मुल्क दिलाना चाहते थे किंतु जिस पाकिस्तान का उन्होंने सपना देखा था वैसा उन्हें नहीं मिला। बाद में उन्हें अपने किए पर पछतावा होता है। 'जिन्ना - मंजिल? पाकिस्तान का सुनहारा सपना सीने से चिपकाये बच-बचाकर, जो यहाँ आये, उन्हें क्या मिला? (अपने से) पूरी जिंदगी झोंक दी एक कौम को उसारने में, एक ख्वाब की ताबीर में मगर कौम और ख्वाब के नाम पर मेरे हाथ क्या आया, कुछ टुकड़े कौम के, कई चिथड़े ख्वाब के... क्या मैंने ऐसी कौम और ऐसे क्वाब का रस्ब्बुर किया था? नहीं, नहीं, नहीं....।'[10]

इसी प्रकार 'मंच अँधेरे में' नाटक में भी वर्तमान सत्ता की निरंकुशता, चतुराई, सत्ता-लोलुपता आदि को प्रस्तुत किया गया है। यह कोई नई बात नहीं है सत्ता अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए साम, दंड, दाम, भेद जैसे सभी हथकंडे अपनाती है। नरेंद्र मोहन के नाटकों के सकारात्मक चरित्र इस विडंबना का यथाशक्ति विरोध करते हैं और अवमूल्यों के विरोध में आवाज उठाते हैं। शिव, प्यारेलाल (सींगधारी), कबीर, रैदास (कहै कबीर सुनो भाई साधो), हमीद, सीदी मौला (कलंदर), रामकिशन, बिशनसिंह (नौ मैंस लैंड) आदि सभी पात्र इसी प्रकार के हैं। वर्तमान व्यवस्था के अंतर्विरोधों को खारिज करते हुए नाटककार ने किसी राजनीतिक व्यवस्था-विरोध को आदर्श रूप में स्थापित नहीं किया है। उसका व्यवस्था-विशेष केवल राजनीतिक सत्ता का विरोध मात्र न होकर पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे में बदलाव से संबंधित है।

संदर्भ :

1. डॉ. शेख आर. वाय, नरेंद्र मोहन का नाट्य संसार, अतुल प्रकाशन, कानपुर, 2010, पृ.- 106
2. नरेंद्र मोहन, मेरे रंग नाटक, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ.- 84-85
3. वही, 2014, पृ.- 96, 4. वही, पृ.- 50, 5. वही, पृ.- 54-55, 6. वही, पृ.- 46-47, 7. वही, पृ.- 190
8. डॉ. गुरचरण सिंह, नरेंद्र मोहन रचनावली खंड-दो, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ.- 238
9. नरेंद्र मोहन, अभंग गाथा, जगतराम एंड संज, मेन 24/4855 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, सं- 2000, पृ.- 67
10. डॉ. गुरचरण सिंह, नरेंद्र मोहन रचनावली खंड-दो, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ.- 448

शोधार्थी, हिंदी विभाग
रामनिरंजन झुनझुनवाला कॉलेज,
घाटकोपर - पश्चिम 400086

वैश्वीकरण और भारतीय संस्कृति

पीयूष कुमार (शोध-छात्र)
प्रो. रसाल सिंह (शोध-निर्देशक)

वस्तुतः किसी भी देश के विकास में उसकी अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। किसी भी राष्ट्र का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास सुदृढ़ अर्थव्यवस्था के आधार पर विनिर्मित होता है। इसीलिए प्रत्येक देश समय-समय पर विभिन्न आर्थिक नीतियों को लागू करते रहते हैं और समय-समय पर उनमें उचित संशोधन भी करते रहते हैं। वैश्वीकरण का संदर्भ इसी अर्थतंत्र से ही जुड़ा है। इसे भूमंडलीकरण (ग्लोबलाइजेशन) भी कहा गया। वैश्वीकरण के विभिन्न सोपानों पर प्रकाश डालने से पूर्व भूमंडलीकरण को लेकर विभिन्न विद्वानों के मतों को जान लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। प्रसिद्ध चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने वैश्वीकरण को पूँजीवाद के प्रसार के रूप में देखा है। उनका मानना है कि - 'वैश्वीकरण का अभियान पूँजीवाद को राष्ट्रीय दायरों से परे ले जाने की अभिलाषा की अभिव्यक्ति है।'[1] जाने-माने अर्थशास्त्री कमल नयन काबरा भूमंडलीकरण को केवल आर्थिक घटना नहीं मानते। वे इसके तमाम नकारात्मक पक्षों को भी खुलकर उदघाटित करते हैं। वे लिखते हैं कि - 'भूमण्डलीकरण महज आर्थिक प्रवृत्ति या घटना नहीं है। इसके कई रूप हैं, जो आपस में जुड़े हुए हैं।' भूमण्डलीकरण का कार्यक्षेत्र तकनीक, निवेश और निर्माण तक सीमित नहीं है, अपितु युद्ध, आक्रमण, नरसंहार और विनाश आदि आयामों तक फैला हुआ है।'[2]

इसके अतिरिक्त भी प्रभृति विद्वानों ने भूमंडलीकरण को अपने-अपने ढंग से समझने-समझाने का प्रयास किया है। इसी दिशा में राकेश कुमार ने भी भूमंडलीकरण के छद्म को बेनकाब किया है। वे इसकी ग्लोबल-गाँव विरुद्ध प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि - 'यह भूमंडलीकरण दुनिया का एकीकरण नहीं है, अपितु टेक्नोलॉजी द्वारा उसे बाँधने, साधने, नियंत्रित करने तथा उन पर अपना वर्चस्व स्थापित करने, मुक्त व्यापार करने, अधिकाधिक मुनाफे कमाने का विस्तारवादी, सत्तावर्चस्ववादी, एकाधिकारवादी पूँजी और व्यापार का भूमंडलीकरण है।'[3] राकेश कुमार की परिभाषा वैश्वीकरण विषयक कई प्रकार की भ्रांतियों को दूर कर देती है। प्रसिद्ध स्त्रीवादी लेखिका प्रभा खेतान ने भी भूमंडलीकरण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनकी परिभाषा कुछ संतुलित और सैद्धांतिक जान पड़ती है। उनका कहना है कि - 'भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जो वित्त-पूँजी के निवेश, उत्पादन और बाजार द्वारा राष्ट्रीय सीमा में ही वर्चस्वी नहीं, बल्कि राष्ट्रीय सीमा से परे भूमंडलीय आधार पर निरंतर अपना प्रसार करना चाहती है।'[4] अतएव उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जो वैश्विक स्तर पर व्यापार एवं वाणिज्य की परिव्याप्ति कर पूँजी की महत्ता को प्रतिपादित करती है।

विद्वानों द्वारा अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वैश्वीकरण को कई चरणों में व्याख्यायित करने का यत्न किया गया है। वैश्वीकरण का प्रथम चरण उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध अर्थात 1850-1914 ई. तक माना जाता है। औद्योगीकरण इस बीच फलता-फूलता है। इसी समय ब्रिटिश हुकूमत ने तमाम देशों में अपना उपनिवेश स्थापित किया। लेकिन अमेरिकी राष्ट्रपति विलियम मैक्किले की वैश्वीकरण की नीति के चलते ब्रिटिश उपनिवेशवाद को झटका लगा। ब्रिटिश के एकछत्र राज्य को अमेरिका से चुनौती मिली और उन्नीसवीं सदी के अंत तक ब्रिटिश का स्थान अमेरिका ने ले लिया। अमेरिका ने इस बीच काफी उन्नति की। कई आविष्कार किये। परिवहन, यातायात, भाप इंजन, जहाजरानी, स्वेज और पनामा नहरों के निर्माण आदि ने अमेरिकी प्रगति को बल प्रदान किया। 'आवागमन, परिवहन और संचार के इन समुन्नत साधनों ने दुनिया के देशों के बीच भौगोलिक दूरियों को समाप्तप्राय कर भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को तेज कर दिया।'[5]

वैश्वीकरण का दूसरा चरण प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से लेकर बीसवीं सदी के मध्य अर्थात् 1914-1950 तक माना जाता है। इस बीच तकनीक एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ लेकिन विश्वयुद्ध के चलते देशों के बीच बढ़ती दूरी और वैमनस्यता ने भूमंडलीकरण की गति को अपेक्षाकृत धीमा कर दिया। फिर भी इस दरम्यान सांस्कृतिक और शैक्षिक प्रगति खूब हुई। कई अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना हुई। संग्रहालय, ग्रंथालय आदि खुले। अमेरिका में ही सैकड़ों अंतरराष्ट्रीय गोष्ठियाँ और परिसंवाद आयोजित हुए। भारत की आजादी तक तकरीबन सौ से भी अधिक देश अंतरराष्ट्रीय उड्डयन व्यवस्था से जुड़ गए थे। अमेरिका ने परमाणु परीक्षण किया और अपनी सैन्य व्यवस्था को काफी सुदृढ़ किया। इसी बीच कम्प्यूटर के आविष्कार ने भी क्रांति मचा दी। वैश्वीकरण की गति को एक और महत्त्वपूर्ण कार्य ने बढ़ा दिया और वह था विश्व बैंक का गठन। विश्वयुद्धों से ध्वस्त हुई ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और जापान आदि देशों की अर्थव्यवस्था को लेकर अमेरिका संजीदा हुआ। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक से जहाँ एक ओर उसने ऋण प्रदान किया वहीं दूसरी ओर अपने उत्पादों की बिक्री भी करने लगा। फलतः अमेरिका शक्तिशाली होता गया।

सन् 1951 से लेकर 1990 तक के कालखंड को वैश्वीकरण के तीसरे चरण के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस समयावधि में शीतयुद्ध, बर्लिन की दीवार का गिरना और सोवियत रूस का विघटन होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका वैश्विक पटल पर दो महाशक्तियाँ उदित हुईं और इन्हीं के बीच भूमि-बँटवारे को लेकर 1945 से 1991 तक शीतयुद्ध चलता रहा। सोवियत संघ अपनी सीमा से लगे पोलैंड पर अधिकार चाहता था जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका इसके लिए राजी नहीं था। एक ओर अमेरिका की पूँजीवादी और दूसरी ओर रूस की साम्यवादी विचारधारा भी मेल नहीं खा पा रही थी। कालांतर में 9 नवंबर, 1989 को बर्लिन की

दीवार ढहने को प्रतीकात्मक रूप में शीतयुद्ध का अंत मान लिया गया। इसी के साथ ही अमेरिका की व्यावसायिक विस्तारवादी, पूँजीवादी और वैश्वीकरण की नीति के चलते जहाँ एक ओर अमेरिका का वर्चस्व बढ़ता गया वहीं दूसरी ओर वैश्वीकरण की प्रक्रिया को भी पंख लग गए। सोवियत रूस के विघटन के बाद अमेरिकी-यूरो पूँजीवाद को बेतहाशा छूट मिल गयी। कहना न होगा कि इन्हीं परिस्थितियों ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया को भी धार दे दिया। 1990 से लेकर अब तक के समय को वैश्वीकरण के चौथे चरण के रूप में जाना-समझा जाता है। भारत इसी चौथे चरण में वैश्वीकरण से सीधे तौर पर जुड़ता है। यहाँ तक आते-आते अमेरिकी-यूरो के नीयत की कलई खुल जाती है और वैश्वीकरण, अमेरिकीकरण के पर्याय के रूप में उभरकर सामने आता है। अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक समझौतों, नियमों-कानूनों और नीति-निर्धारण के लिए जनवरी, 1995 में 'विश्व व्यापार संगठन' (डब्लूटीओ) अस्तित्ववान हुआ। इसके माध्यम से वैश्विक पटल पर व्यापार व वाणिज्य के क्षेत्र में अमेरिका का एकछत्र राज्य हो गया। वैश्वीकरण की नीति को लागू करने वाले देशों को अमेरिका कहे कि अमुक नीति लागू करो तो वे करेंगे और कहे कि अमुक नीति को न लागू करो तो वे कदापि नहीं करेंगे। उदारीकरण के कारण अमेरिकी डॉलर मजबूत होता गया और इस नीति को अपनाने वाले विकासशील देशों की मुद्रा का अवमूल्यन होता गया। इसी के चलते मैक्सिको, ब्राजील, मलेशिया, दक्षिणी कोरिया, इंडोनेशिया, थाईलैंड और फिलीपींस जैसे न जाने कितने देशों की अर्थव्यवस्था चरमरा गयी है। जो देश अमेरिकी वर्चस्व को नकारते हैं, उन्हें वह आतंकी करार देता है। चीन, जापान और कोरिया की उभरती हुई अर्थव्यवस्था उसे चुभ रही है। ईराक द्वारा अमेरिका और डॉलर को नजरअंदाज करके यूरो अपनाने पर वह पूँजीवादी-साम्राज्यवादी अमेरिका के निशाने पर आ गया। अब जहाँ तक बात भारतीय संदर्भ में उदारीकरण के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की है तो वह निर्विवाद रूप से '90 के बाद मानी जाती है। सर्वसम्मति से 1991 में रहे भारत के प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव को उदारीकरण का जनक माना जाता है। उन्होंने तत्कालीन वित्तमंत्री मनमोहन सिंह के साथ आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण की नीति अपनाकर वैश्वीकरण के लिए दरवाजे खोल दिए।

भारतीय संस्कृति भी वैश्वीकरण के प्रभाव से अछूती नहीं रही है। यहीं यह कहें कि संस्कृति ही सर्वाधिक प्रभावित और परिवर्तित हुई है तो संभवतः अत्युक्ति न होगी। भारतभूमि पर प्रारम्भ से ही विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न समुदायों का आगमन होता रहा है और इन जातियों, धर्मों और समुदायों की संस्कृति से भारतीय संस्कृति की टकराहट होती रही है। कभी-कभी तो इस टकराहट ने बड़े-बड़े आन्दोलनों को भी जन्म दिया है। जैसाकि पूर्व भी उल्लेख किया जा चुका है कि उदारीकरण के द्वार से वैश्वीकरण भारत में प्रवेश करता है। उदारीकरण के कारण कहीं-न-कहीं निजीकरण और पूँजीवाद को अतिशय बढ़ावा मिला। फलतः बाजारवादी व्यवस्था अस्तित्ववान हुई और बाजारवादी व्यवस्था की कोख से उपभोक्तावादी संस्कृति ने जन्म लिया। इस बाजारवादी

व्यवस्था ने लगभग सभी वर्गों तक अपनी पैठ बनायी है और भोगवादी संस्कृति को जन्म दिया है। पढ़े-लिखे मध्यवर्ग, संभ्रांत वर्ग और बौद्धिक वर्ग को इसने सर्वाधिक शिकार बनाया है। वस्तुतः प्रत्येक देश को अपनी सभ्यता, रहन-सहन, खानपान, इतिहासबोध, मूल्य, नैतिकताओं, परम्पराओं, देशप्रेम और अतीत की गौरवशाली महान विभूतियों के प्रति आदर और स्वाभिमान का भाव होता है। कहना न होगा कि भारत इस मामले में सबसे अग्रणी रहा है। लेकिन बीते दिनों वैश्वीकरण का एक नया षड्यंत्र सामने आया है। यह अमेरिकी नव उपनिवेशवाद एकध्रुवीय और महाशक्तिशाली बने रहने की धुन में इतना मदमाता हो गया है कि 'विचारधारा का अंत', 'इतिहास का अंत' और 'ईश्वर का अंत' जैसी घोषणाओं की साजिश करके तीसरी दुनिया (विशेषकर भारत) की गौरवशाली संस्कृति का खात्मा करने की मंशा रखता है। उपभोक्तावादी संस्कृति की इस साजिश का शिकार होकर मध्य और बौद्धिक वर्ग अपने देश की परम्परा, संस्कृति, इतिहास, संस्कार और सभ्यता को दरकिनार कर उपभोक्तावाद द्वारा परोसी गयी भोगवादी संस्कृति को अपना रहा है। इसके कारण वह अपनी परम्पराओं से न तो जुड़ पाता है और न ही लाभान्वित हो पाता है। जब उसने 'परम्परा का अंत', 'इतिहास का अंत' मान ही लिया तो कहाँ रही परम्परा और कहाँ रहा इतिहास? इस प्रकार यह मध्य और बौद्धिक वर्ग यूरो-अमेरिका द्वारा प्रचारित-प्रसारित की जाने वाली तथाकथित 'नयी' बातों को वास्तव में 'नयी' मान लेने की भूल कर बैठता है। अब रहना तो उसे भारत में है लेकिन वह संचालित हो रहा है उपभोक्तावादी संस्कृति से। फलतः उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व पनपने लगता है। एक संस्कृति को न तो वह पूर्णतः छोड़ पाता है और न ही दूसरी संस्कृति को पूर्णतः अपना ही पाता है। सैद्धांतिक स्तर पर भले वह भारतीय मूल्यों, मान्यताओं को थोड़ा-बहुत स्वीकार करता हो (क्योंकि पुराने संस्कार इतनी आसानी से जाते नहीं) लेकिन व्यवहार रूप में उसकी परिणति नहीं दिखती। और इस प्रकार वह खण्डित व्यक्तित्व और अन्तर्द्वंद्वों से भरा जीवन जीने के लिए अभिशप्त हो जाता है।

ध्यातव्य है कि भारतीय संस्कृति और उपभोक्तावादी संस्कृति के सम्मिलन से एक प्रकार का सांस्कृतिक कचरा उत्पन्न हुआ है, जिसे 'अपसंस्कृति' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। यह अपसंस्कृति न केवल समाज अपितु राज्य के लिए भी खतरनाक है। कारण यह कि इसने समाज और राज्य के अन्तर्सम्बन्धों को भी क्षीण कर दिया है। इससे जनता और सत्ता के बीच दूरियाँ बढ़ी हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मीडिया के प्रभुत्व को बढ़ा दिया है। चूँकि यह उपभोक्तावादी संस्कृति विज्ञापनतंत्र से ही फलती-फूलती है इसलिए इसने मीडिया को अपना माध्यम बनाया है। न केवल प्रिन्ट, इलेक्ट्रॉनिक अपितु सोशल मीडिया को भी इसने प्रचार-प्रसार का साधन बना लिया है। आज मीडिया में सत्ता की तूती बोलता हुआ प्रतीत हो रहा है। उसे जनता और सत्ता के बीच माध्यम बनना था। जनता की बात सत्ता तक और सत्ता की बात जनता तक पहुँचाना था, लेकिन आज वह केवल सत्ता की ही सुन रहा है। उसने जनता की सुनना बंद कर दिया है और सत्ता

की बोलना शुरू कर दिया है। उदारीकरण के बाद अंतरराष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने उत्पाद के विज्ञापन के लिए मीडिया की जरूरत थी। इसीलिए तमाम चैनल्स का सोता बह निकला, जो इस उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ाने में सहायक हुआ। मीडिया के इस चरित्र पर कवि-आलोचक राजेश जोशी ने इन शब्दों के माध्यम से कटाक्ष किया है - 'हिंदी की बात करें तो हिंदी का प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया साहित्य और संस्कृति के प्रति सबसे ज्यादा दोगला है। जब तक अन्य चैनल नहीं आये थे, दूरदर्शन के पास साहित्य और संस्कृति के लिए थोड़ा समय था। लेकिन हिंदी के अन्य चैनलों के पास ऐसी कोई समझ या उत्सुकता नजर नहीं आती। सच तो यह है कि उनकी व्यावसायिकता उन्हें इजाजत नहीं देती।'[6] यह उपभोक्तावादी संस्कृति पूर्व प्रचलित संस्कृति को प्रतिस्थापित कर उत्पादों के ब्रांड की संस्कृति को प्रतिष्ठित करती है। इसी को प्रभा खेतान ने अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र' में 'ब्रांड संस्कृति' कहा है।

समकालीन भारतीय साहित्य में अस्मितावादी विमर्शों के उदय में कहीं-न-कहीं वैश्वीकरण का ही प्रदेय रहा है। बाजारवाद ने 'मुख्यधारा' जैसी काल्पनिक और आत्ममुग्ध धारा को जन्म दिया, जिससे गरीब, आदिवासी, स्त्री, दलित, ग्रामीण और अन्य तमाम जनजातियाँ जुड़ नहीं पायीं। बाजार ने इन हाशिये के लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारी, जिससे इनमें अपनी अस्मिता और अस्तित्व को लेकर चेतना जागृत हुई। जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। 'यह सच है कि भूमण्डलीकरण ने आर्थिक उदारवाद को बढ़ावा देकर आर्थिक गैर-बराबरी, जातिगत भेदों, पितृसत्ता एवं रूढ़िवाद को बढ़ावा देने में अपनी भूमिका अदा की है वहीं उसके अंदर इन प्रवृत्तियों को कुछ सीमा तक रोकने की भी क्षमता है, जरूरत उसे सही दिशा देने की है।'[7]

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत में वैश्वीकरण, उदारीकरण के द्वार से प्रवेश करता है। उदारीकरण की अवधारणा को वैश्वीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाना-समझा जा सकता है। वैश्विक गतिविधियों का सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव भारतीय समाज पर भी पड़ता रहा है। इस वैश्वीकरण ने जहाँ एक ओर आर्थिक स्तर को सुधारा है, कंपनियों की 'मोनोपोली' समाप्त की है, रोजगार के अवसर प्रदान किये हैं, उद्योग-धंधों के द्वार सभी के लिए खोल दिए हैं, जीवनस्तर को सुधार दिया है, सुख-सुविधाओं में वृद्धि करके जीवन को आसान बनाया है और वैज्ञानिक व तार्किक सोच को बढ़ावा दिया है तो वहीं दूसरी ओर अपसंस्कृति, पारिवारिक विघटन, पर्यावरण-असंतुलन, मूल्यहीनता, संवेदनशून्यता, पूँजी का अतिशय महत्त्व, हाशियाकरण, लूट और हिंसा आदि को भी प्रश्रय दिया है। तथापि वैश्वीकरण का श्याम पक्ष, उसके श्वेत पक्ष की उज्ज्वलता की तुलना में ज्यादा स्याह है।

संदर्भ :

1. सिंह, सच्चिदानंद. (2016). भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ. नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन. पृ. 9

2. काबरा, कमल नयन. (2018). भूमण्डलीकरण के भँवर में भारत, नयी दिल्ली, प्रकाशन संस्थान. पृ. 46
3. कुमार राकेश.(2014). उत्तर उपनिवेशवादः चुनौतियाँ और विकल्प. दिल्लीः शुभदा प्रकाशन. पृ. 14
4. खेतान, प्रभा.(2014). भूमंडलीकरणः ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, नई दिल्लीः सामयिक प्रकाशन. पृ. 15
5. सिंह, पुष्पपाल.(2015) भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास. नई दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 24
6. उपाध्याय, रमेश व उपाध्याय, संज्ञा.(सं.).(2010). बाजारवाद और नयी सृजनशीलता. नयी दिल्ली, शब्द संधान प्रकाशन. पृ. 29
7. अग्रवाल, नीरू.(सं.).(2017). भूमण्डलीकरण और हिंदी उपन्यास. दिल्ली : अनन्य प्रकाशन. पृ. सं. 80

शोधार्थी;
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, रायां सुचानी बगला,
जिला सांबा,-181143

राष्ट्रीय चेतना के नियामक कवि गोरेलाल

डॉ. आशुतोष शर्मा

रीतिकालीन काव्य अपने अनेक आयामों के चलते सदैव आकर्षण का विषय रहा है। उसमें एक ओर शृंगार और प्रेम की अजस्र मनमोहिनी धारा बहती है तो वहीं दूसरी ओर वीरकाव्य की वेगवती, उत्साहवर्द्धन करने वाली रचनाएँ पाठकों के ज्ञान और सोच में एक नया अध्याय जोड़ देती हैं। रीतिकालीन वीरकाव्यधारा के सुप्रसिद्ध कवि भूषण को कौन नहीं जानता? हिन्दी साहित्य के साथ परिचय होते ही पाठक के मुख पर 'साजि चतुरंगवीर रंग में तुरंग चढ़ि / सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं' जैसी पंक्तियाँ स्वयंमेव ही अपना स्थान ले लेती हैं। इसी ओजस्वी धारा को बल प्रदान करने वाले कवि गोरेलाल हुए, जिनकी कृति 'छत्रप्रकाश' रीतिकालीन वीरकाव्य में अपना विशेष स्थान रखती है।

गोरेलाल की इस रचना में इतिहास की यथार्थ घटनाओं को लिया गया है, जिसके पहले भाग में बुंदेल वंश की उत्पत्ति और चम्पतराय का बुन्देलखंड पर आए संकटकाल में नेतृत्व पद सँभालने तक का वर्णन है। दूसरे भाग में छत्रसाल के पिता चम्पतराय द्वारा शासन के विरूद्ध विद्रोह को विषय बनाया गया तो तीसरे भाग में छत्रसाल की कथा है। रीतिकालीन वीरकाव्य अधिकांशतः दरबारी कवियों द्वारा अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में लिखा गया। गोरेलाल भी राजा छत्रसाल के दरबारी कवि थे किन्तु उनका यह काव्य मात्र उनका प्रशस्ति काव्य नहीं है, इसमें उन्होंने छत्रसाल के व्यक्तित्व के सभी पक्षों को उजागर किया है। यहाँ तक कि शेर अफगान के विरूद्ध जो युद्ध किया गया, जिसमें छत्रसाल मैदान छोड़कर भाग गए, इसका उल्लेख भी गोरेलाल द्वारा 'छत्रप्रकाश' में किया गया है। इससे कवि की तटस्थता और आश्रयदाता से बिना भयभीत हुए सत्य को उजागर करने की कवि-कर्त्तव्य भावना साफ झलकती है। यही भावना आगे चलकर राष्ट्रीय चेतना के लिए उपजाऊ भूमि तैयार करती है। कवि गोरेलाल प्रतिभाशाली और ज्ञानवान थे। वे जानते थे कि सांस्कृतिक और जातीय एकता के बिना एक राष्ट्र की कल्पना संभव नहीं है और जब तक सभी एकजुट होकर नहीं खड़ें होगे तब तक बाहरी शत्रुओं को आने से नहीं रोका जा सकेगा। इसलिए अपने लोक से पहल करते हुए उन्होंने लोक को राष्ट्र से जोड़ने की योजना बनाई। उस समय भारतीयों के लिए औरंगजेब का समय 'काल' के समान था। औरंगजेब की जजिया कर जैसी नीतियों ने भारतीयों को बदहाल कर दिया था। हिन्दू मन्दिरों को तोड़े जाने के आदेश दिए जा रहे थे, उनके स्थान पर मस्जिदें निर्मित की जा रही थी। उनमें सुबह-शाम जब मौलवी बांग लगाया करेंगे और काजी बैठकर न्याय किया करेंगे, तो ही उनके इष्ट प्रसन्न होंगे -

'जा कहुँ कान संखधुनि आवै, मुसलमान तौ भिस्त न पावै।
सीसौ औटि कान जौ नावै, तौ दोजख तैं खुदा बचावै।

तातैं ढाहि देवालै दीजै, तिनके ठौर मसी दैं कीजै।
मुलना तहाँ निवाज गुदारै, बाग देहि नित साँझ सकारै।
न्याउ चुकावै फाजिल काजी, जाते रहै गुसाईं राजी।'[1]

प्रस्तुत पद को पढ़ने के साथ ही उस समय की शासन व्यवस्था का अंदाजा सहज ही लग जाता है, जहाँ शासक ही धर्म के बंधन में बंधकर न्याय करने बैठे तो वह न्याय किसका भला करेगा? अपने धर्म को मानना गलत नहीं किन्तु औरंगजेब ने हिन्दुओं को मुस्लिम धर्म अपनाने के लिए मजबूर किया और हिन्दू संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसलिए गोरेलाल ने लिखा भी -

'औरंगसाह तखत - पति जाग्यौ, मेटन हिन्दु धरम कौ लाग्यौ'[2]

तद्युगीन समाज में व्याप्त हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, मुगलों द्वारा हिन्दुओं पर किए जा रहे अत्याचार, चौथ कर वसूली की प्रथा, जिससे राजकोष भरे जा रहे थे -

'हिन्दू तुरक दीन द्वै गाए, तिनसौ बैर सदा चलि आए
लेख्यौ सुर असुरन कौं जैसो, केहरि करिन बखान्यौ तैसो
जबते साह तखत पर बैठे, तबतें हिन्दुन सौं उर ऐंठे
महंगे कर तीरथनि लगाए, बेद दिवाले निदर ढहाए।
घर घर बाँधि जजिया लीने, अपने मन भाए सब कीने।'[3]

इस प्रकार देखा जाए तो तत्कालीन समाज, तख्त पर बैठे अपने शासकों की दुर्नीतियों का शिकार था इसलिए उन्हें भी किसी ऐसे शासक की आस थी जो उनके प्राणों की रक्षा करे। ऐसे में गोरेलाल ने छत्रसाल की वीरता का वर्णन कर कहीं-न-कहीं उस हताश जनता में जीने की इच्छा और उत्साह भरने का प्रयास किया। गोरेलाल द्वारा छत्रसाल के युद्धों का इतना सजीव और गतिशील वर्णन किया गया है कि पाठक के सम्मुख चित्र-सा उपस्थित हो जाता है। एक युद्ध वर्णन के दृश्य में छत्रसाल को तीन तुर्क सैनिकों ने तीन ओर से घेर लिया। छत्रसाल ने एक साथ इन तीन सैनिकों को या तो मौत के मुँह में झोंक दिया अथवा अपंग करके छोड़ दिया-

'बखतर पोस तीन बल (दिशा) बाढ़े, तिहू ओर तरवारै काढ़े
दहिनी दिसि पीछे अरू आगे, उठे घाल घाइन रिसपागे
उठ्यौ हंकि हय झमकि छतारौ, कीनौ तहाँ अचंभौ भारौ
चोट चुकाइ तिहुँन की दीनी, आपु उमड़ि मनभाई कीनी
पछिलौ हाकि हूल सौं मार्यौ, काटि दाहिनै को कर डार्यौ
सौहैं सौं सोहीं असिझारी, तीन सुभट हनि दई हँकारी।'[4]

छत्रसाल के वीरतापूर्वक किए गए युद्धों और परिणाम स्वरूप औरंगजेब के मनसबदारों का चौथ देना स्वीकार करना कहीं-न-कहीं भारतीय जन में उस चेतना को जगाता है जहाँ भारतीयों को यह विश्वास होने लगता है कि छत्रसाल के बल पर वे औरंगजेब से बदला ले सकेंगे। छत्रसाल और शिवाजी ने योजना बनाकर कर वसूली की, जिसने मनसबदारों

और उमरावों को सोचने पर मजबूर कर दिया कि अब उन्हें किसका साथ देना चाहिए। औरंगजेब का अथवा छत्रसाल का। छत्रसाल की खुली धमकी -

'जो भुमिया हम में मिलि रेहै, तेई संग फौज के हवै हैं
जे न लागिहैं संग हमारै, दोष न लागै तिन के मारै
जे उमराव चौथ भरि देहैं, तेई अमल देस को पैहैं
जिनमें ऐड़ जुद्ध की पावैं, तिनपै उमगि अस्त्र अजमावै'[5]

गोरेलाल ने भारतीय जनता को उनकी वीरता और उनके नेतृत्व को लेकर आश्वस्त कर दिया। तत्कालीन समाज की हीन दशा देखकर गोरेलाल के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह छत्रसाल जैसे वीर, युगपुरुष से जनता का परिचय करवाए, छत्रसाल के वीरतापरक कृत्यों से जनता को अवगत कराए, उसकी विद्रोही, औरंगजेब की धर्मान्ध नीतियों को न मानने की मंशा, चौथ रूपी कर नीति को समाज में लाए और भारतीय-जन को एकत्र होकर छत्रसाल की आज्ञा और योजना के प्रति उत्साहित करे। इसलिए अब्दुल समद-खाँ के साथ हुए छत्र.साल के मैदानी युद्ध का वर्णन करते हुए गोरेलाल कहते हैं -

'आवत कटक समद कौ देख्यौ, सूरन जनम सफल करि लैख्यौ
दुहुँदल बंदिन बिरद सुनाए, दुहुँदिसि कलह काँधि भट आए

x x x

दुहुँदल दलनि दोऊ ताकै, दुहुँ दलनि मानें रन साके।
दुहुँदल पिले हरौल अगाऊ, दुहुंदल बाजे तबल जुझाऊ'[6]

दोनों दलों की ऐसी वीरता का वर्णन और उसमें भी छत्रसाल द्वारा औरंगजेब से युद्ध करने और अपने सैनिकों को उत्साहित करने जैसे कृत्य जिस चेतना का संचार करते हैं, वह अवर्णनीय है। गोरेलाल द्वारा कहीं भी छत्रसाल को मुसलमानों का विरोधी नहीं बताया गया बल्कि वे जातीय एकता को बढ़ावा देते हए सभी को एक राष्ट्र रूप में देखने के इच्छुक थे। साथ ही वे उन सभी व्यक्तियों और नीतियों के प्रति गहरा असंतोष व्यक्त करते दिखाई देते हैं, जो देश की एकता को खण्डित करते हैं। छत्रसाल ने सबसे पहले अपने ही कुल के मुगलों के लिए जान देने वाले शुभकर्ण का हृदय परिवर्तित करना चाहा। शुभकर्ण ने सहानुभूतिपूर्वक छत्रसाल के सामने मुगल मनसबदार बनकर 'प्रेय' मार्ग से जीवनायापन का प्रलोभन दिया लेकिन छत्रसाल उसके इस प्रलोभन में नहीं फँसे क्योंकि उन्हें केवल अपनी नहीं बल्कि पूरे राष्ट्र की चिंता थी। इसलिए शत्रुओं को भी अपना मित्र बनाने की योजना बनाने लगे। इसी योजना के तहत छत्रसाल ने मालवा में स्थित सहरा के धँधेरों पर आक्रमण करके उन्हें पराजित किया और उनके यहाँ विवाह सम्बन्ध बनाकर अपना मित्र बना लिया। छत्रसाल ने शाही इलाकों में लूटपाट करके अपने सौनिकों की स्थिति को मजबूत बनाया। धामौनी विजय, फौजदार खालिक के साथ हुई मुठभेड़ में विजय और खालिक का तीस हजार रूपयों का दण्ड देना स्वीकार करना, दांगी

राजा पर विजय और लूटपाट, भेलसा सरकार के फौजदार हाशिम का आनन्दराय चौधरी के साथ मिलकर छत्रसाल को तीन ओर से घेरना और पराजित होना जैसी घटनाओं ने छत्रसाल के उत्साह को और अधिक बढ़ा दिया, जो सगे सम्बंधी छत्रसाल को मित्रता और उसका सहयोग देने में पहले घबराते थे, वे सभी अब छत्रसाल के झंडे के नीचे एकत्र होने लगे। यह नहीं कहा जा सकता कि वे छत्रसाल से डरकर ऐसा कर रहे थे बल्कि उन्हें छत्रसाल जैसा एक नेता मिल गया था जो सभी को संगठित रूप में रहने में उनकी मदद करेगा। यही कारण है कि छत्रसाल ने जो योजना बनाई, उसका वर्णन गोरेलाल ने अपनी कृति में किया है -

'छत्रसाल बोले तहाँ रतन साह सिरमौर
भुमियावट उर में धरौ, करौ देस कौ दौर
दौर देस दिल्ली के जारौ, तमकि तेग तुरकन पर झारौ

x x x

जे उमराव चौथ मरि दैहैं, तेई अमल देस को पैहैं
जिनमें ऐड़ जुद्ध की पावैं, तिनपै उमगि अस्त्र अजमावैं'[7]

छत्रसाल की इस योजना के पीछे एक ही विचार सूत्र दिखाई देता है कि वे देश को मुगल शासन का एक विकल्प देना चाहते थे अर्थात् धर्म विरोधी और धर्म रक्षक राज्यों का निर्माण किया जाए, जिससे जातीय अस्मिताओं से ऊपर उठे राष्ट्र का निर्माण हो सके। इस योजना को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त धन और संसाधनों की आवश्यकता थी, जिसके लिए उन प्रदेशों को निशाना बनाया गया, जो मुगलों की गुलामी को स्वीकार कर चुके थे, बिल्कुल निष्क्रिय थे। उन्हें रास्ते पर लाने का अथवा चेताने का एकमात्र उपाय यही था कि उन्हें लूटकर उन्हें आर्थिक दण्ड के लिए मजबूर किया जाए। उस समय छत्रसाल द्वारा अपनाई गई राज्य एकत्रीकरण की नीति के लिए यह आवश्यक भी था क्योंकि औरंगजेब ने फरमान निकाल दिया था कि सभी मंदिरों को तोड़कर वहाँ मस्जिद बनाई जानी चाहिए और फिदाई खाँ उसकी इस धर्मान्धता पर अमल करने चल पड़ा था और इस कार्य के बीच जो भी बुन्देला आएगा, वह उसे बख्शेगा नहीं अर्थात् मार डालेगा -

'ढाहि देवालय कुफर मिटाउं, तिनके ठौर मसीत बनाऊँ
पातसाहि का नाउं चलाऊं, तबै फिदाईखान कहाऊँ
जो कहुँ बीच बुन्देला आवैं, तौ हमसौं वह फतै न पवावै
यौं मानी मनसुबनि मौजैं, जोरन लगे ग्वालियर फौजैं
सहस अठारह तुरी पलानै, धूमघाट पर धुज फहरानै
यह सुनि महाबीर रस छायौ, बानौ बाँधि धुरमंगद धायौ।'[8]

परन्तु फिदाईखाँ की इस अन्ध धर्मान्ध योजना के बीच छत्रसाल मोर्चा लिए खड़ा है, जो हिन्दुओं को न्याय दिला उन्हें जातीय जीवन से ऊपर उठ, राष्ट्र के लिए कुछ करने

का अवसर देना चाहता है। डरी सहमी, बलहीन जनता को विश्वास दिलाने के लिए वह युद्धक्षेत्र में फिदाई खाँ को पराजित कर, भागने के लिए मजबूर कर देता है और हिन्दूओं को राहत की साँस दिलवाता है -

'भज्यौ फिदाईखाँ बलि, रही कछू न सम्हार
दिए पाग के पेंच उहि, गोपाचल के पार।।'[9]

छत्रसाल के द्वारा शत्रुओं को युद्ध क्षेत्र में पराजित कर उनसे चौथ कर लेने की नीति भी कहीं-न-कहीं सभी हिन्दू राज्यों को इक्ट्ठा रखने की भावना लिए हुए थी। गोरेलाल ने छत्रसाल द्वारा किए गए युद्धों का वर्णन अत्यंत सजीवता के साथ किया है। जिससे तत्कालीन समाज का उत्साह और विश्वास दोगुना हुआ। देवगढ़ युद्ध के वर्णन में छत्रसाल द्वारा चलाए गए तीर, तोप के गोलों को भी मात दे रहे थे, जिनकी तीव्रता को देखकर देवताओं को आश्चर्य हो रहा था, उसके तीर इतनी तीव्र गति से शत्रु सेना पर प्रहार कर रहे थे कि बचाव में शत्रु-पक्ष का हाथ भी उठ नहीं पाता था। पूरी रणभूमि रक्त से आप्लावित थी अर्थात छत्रसाल की कृपाण ने साक्षात् कालिका का रूप धारण कर युद्ध क्षेत्र में राक्षसों का संहार किया -

'गनै न गोली तीर छतारौ, देखत देव अचंभौ भारौ
एक बीर सहसन पर धावै, हाथ और को उठन न पावै
सांगन मारि करी घनघानी, समरभूमि स्त्रोनित सौं सानी

✗ ✗ ✗

फारत फौज छता अब लोक्यो, उद्भट रुकै कौन को रोक्यौ
उमगि भरै अरि कौ दल भान्यौ, घाउ लगत तन तनक न जान्यौं
घाई खाई छत्ता रनजीत्यौ, अरि पर प्रलै काल सम बीत्यौ।'[10]

छत्रसाल ने अपने जीवनकाल मे कभी भी किसी हिन्दू रजवाड़े को नष्ट नहीं किया, उन्हीं के जीवनकाल में जब उनके पुत्र हिर देसाह ने रीवां का राज्य बघेलों से छीन लिया था। तब छत्रसाल ने अपने पुत्र को उक्त राज्य वहीं के लोगों के लिए छोड़कर चले जाने का निर्देश दिया था। एक पत्र में उन्होंने साफ लिखा है कि मैं (छत्रसाल) बुन्देलखण्ड के किसी भी राज्य को जड़ से उखाड़ सकता था। छत्रसाल के आत्मविश्वास को उन्हीं के शब्दों में - 'हम में इतनौ पौरुष हतौ।' यह सब भी राष्ट्रीय चेतना पैदा करने के लिए ही था क्योंकि हर राज्य का एकीकरण एक राष्ट्र के रूप में करने के लिए, उन सभी को एक झंडे के नीचे लाना आवश्यक था। गोरेलाल जानते थे कि केवल राष्ट्र और राष्ट्रीय अखण्डता की बात करने से नहीं चलेगा, उसके लिए कवि कर्त्तव्य पूरा करना होगा। यही कारण था कि उन्होंने अपने काव्य का नायक, शिवाजी से वीरता का मंत्र लिए छत्रसाल को बनाया। छत्रसाल द्वारा वीरतापरक लड़े गए युद्धों का सजीव वर्णन कर उन्होंने हिन्दू राज्यों को एक नायक के गुणों से परिचित करवाया और हिन्दू जनता को यह विश्वास हो गया कि छत्रसाल के नेतृत्व में युद्ध करके हम मुगलों से स्वतंत्र हो सकते

हैं। छत्रसाल जैसे सेनानायकों ने केवल अपने राज्य के बारे में न सोचकर पूरे राष्ट्र के विषय में सोचा और जनता को भी अपनी वीरता का विश्वास दिला एक सुदृढ़ राष्ट्र की संकल्पना में जुड़ने के लिए प्रेरित किया। छत्रसाल जैसे वीर योद्धाओं की आज भी देश को उतनी ही आवश्यकता है क्योंकि कोई न कोई शक्ति सदैव घात लगाए बैठी रहती है, इन साम्राज्यवादी शक्तियों को मुँह तोड़ जवाब देने की आवश्यकता सदैव बनी रहती है इसलिए कवि गोरेलाल का काव्य सदैव हमारे लिए प्रेरणा का विषय बना रहेगा।

सन्दर्भ :

1.लाल कवि, छत्रप्रकास (सं. डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह), श्रीपटल प्रकाशन, नई दिल्ली - 48, सितम्बर 1973, पृ. 92
2.वही, पृष्ठ 73
3.वही, पृष्ठ 86
4.वही, पृष्ठ 163
5.वही, पृष्ठ 100
6.वही, पृष्ठ 157
7.वही, पृष्ठ 100
8.वही, पृष्ठ 92
9.वही, पृष्ठ 92
10.वही, पृष्ठ 81

हिन्दी विभाग
मोती लाल नेहरू महाविद्यालय (सांध्य)
बेनितो जुआर्ज रोड़, नई दिल्ली - 21

यशपाल कृत 'मेरी जेल डायरी' की प्रासंगिकता

पंचराज यादव

भारतेंदु युग से साहित्य की एक विधा डायरी कम पढ़ी जाने वाली विधाओं में से एक रही है। आलोचना के केंद्र से ओझल-सी रही डायरी विधा कब आलोचना के केंद्र में आ गई यह देखा जाना चाहिए। यह बात यूँ ही नहीं कही जा रही है। जब डायरी के मूल्यांकन की बात की जाती है तो सबसे पहले ध्यान जाता है उससे संबंधित आलोचनात्मक पुस्तकों एवं स्वतंत्र लेखों की तरफ। जहाँ कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक इत्यादि विधाओं के लिए आलोचनात्मक पुस्तकों की भरमार है, वहीं डायरी की स्थिति बिल्कुल उलट है। बहुत खोजबीन करने के पश्चात बमुश्किल दो चार पुस्तकें हाथ लग सकती हैं। इसलिए यह एक चिंता का सबब भी है। इस विधा ने आजाद भारत की दशा एवं दिशा को पन्नों में बखूबी दर्ज किया है। डायरी को सामान्यतः नितांत व्यक्तिगत मान लेने की वजह से उसे मुख्य साहित्य की तरह पाठक नहीं मिल सके। इसे पढ़ने एवं जानने की और कोशिश की जानी चाहिए तब यह समझ पाते कि इसमें समाज एवं उसकी चित्तवृत्तियाँ होती है, स्त्री संबंधी मुद्दे होते हैं, साहित्य की बहसें होती हैं, रिश्तों का मूल्यांकन होता है, राजनीतिक स्थिति का वर्णन होता है और प्रकृति एवं पर्यावरण का चित्रण होता है।

डायरी के बारे में यदि कहूँ 'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ' तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि प्रारंभिक डायरियों को पढ़ना दुष्कर कार्य है। पेज दर पेज दैनिक टिप्पणी एवं नए किन्तु असंबद्ध विषय की चर्चा इसे पढ़ने के लिए अथाह धैर्य की माँग करते हैं और उनमें भी प्रासंगिक पक्ष खोजना बिना गहन अध्ययन के संभव नहीं है। शायद यही कारण है कि यह विधा कम पढ़ी गई और इसके सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों एवं विशेषताओं की विशद चर्चा नहीं की गई। इसके अध्ययन से हम देख सकते हैं कि जब किसी व्यक्ति, लेखक या कवि के मन में विचारों की ऐसी श्रृंखला निर्मित होने लगती है, जिसे दर्ज करना अपने आप को कटघरे में खड़ा करने से कम नहीं होता, ऐसे में लेखक अन्य विधाओं की तरफ रुख न करके डायरी की तरफ अग्रसर होता है। मेरा मानना है डायरी एक तरह से अंतर्मुखी से बहिर्मुखी होने की प्रक्रिया का प्रथम सोपान है। मनुष्य का जीवन संवेदना एवं सामाजिक प्रवंचनाओं से घिरा होता है। लेखक कलम से अपनी सारी मनोदशाओं के स्टोर रूम की तरह डायरी का इस्तेमाल करता रहा है। हिंदी में डायरी लेखन कोई नया प्रचलन नहीं है। कुछ डायरियाँ ऐसी हैं जिन्होंने इस विधा को निरंतर आगे बढ़ने का संबल दिया, अपनी कलागत उपस्थिति से इसकी जीवंतता को अक्षुण्ण बनाए रखा तथा वैचारिकी को जगह दी। धीरेंद्र वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, उपेंद्रनाथ अश्क, रामधारी सिंह दिनकर, कमलेश्वर, रघुवीर सहाय इत्यादि की डायरी ने दिखा दिया कि यह विधा जीवंत विधा है। समकालीनों में गरिमा श्रीवास्तव, निदा नवाज, कृष्णा अग्निहोत्री, गोविन्द प्रसाद, सत्य नारायण, लीलाधर मंडलोई, बलराज

पांडेय, राजेश जोशी आदि ने उल्लेखनीय डायरी लिखी हैं। प्रगतिवादी दौर में उत्कृष्ट डायरी लेखकों में एक नाम आता है यशपाल का। उनकी डायरी 'मेरी जेल डायरी' को कई दृष्टिकोण से देखने की जरूरत है। 1935 में बरेली तथा 1936 में नैनी केंद्रीय जेल में रहते हुए लिखी गई इस डायरी की विषय वस्तु को हिंदी साहित्य के जरूरी दस्तावेज की तरह देख सकते हैं। इसमें एक तरफ लेखक का क्रांतिकारी जीवन है, दूसरी तरफ गुलाम भारत के जीवंतता की तासीर है।

इस डायरी को दो भागों में विभाजित कर समझ सकते हैं। एक तो यशपाल का साहित्य और कला संबंधी दृष्टिकोण और दूसरा गुलाम भारत की राजनीतिक स्थिति और यशपाल की भूमिका। यह डायरी यशपाल के मन में अंकुरित हो रहे साहित्य के प्रति जिज्ञासाओं और उत्कट महत्वाकांक्षाओं को जानने के दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है। इसमें उनके साहित्यिक जीवन का ड्राफ्ट मिलता है। बात साहित्य की करें तो इसमें उनकी कई कहानियाँ दर्ज हैं, जिनमें सामाजिक मुद्दे व्यापक रूप में अंतर्निहित हैं। 1935 में लिखी कहानी 'पैसा अपना' के द्वारा यशपाल मजदूर दंपत्ति के जीवन का यथार्थ सामने लाते हैं। 1935 में देश आजादी की हलचल में पूरी तरह डूबा था 'भारत सरकार अधिनियम 1935' लागू हो रहा था। बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। केंद्र में द्वैध शासन लागू कर दिया गया था। उसी में छोटे-छोटे ठेकेदारों से लेकर अंग्रेजी सिपहसालारों तक सब जनता को चूसने पर अमादा थे। समय की तुला पर यह कहानी ठेकेदारों के स्वार्थी रवैये का प्रतिकार करती कहानी है। यहाँ दुर्गाकुंड नाम से औद्योगिक बाजार बनाने की संकल्पना लिए ठेकेदारों की नजर में मजदूर वर्ग की बढ़ती समस्याओं एवं उनके अथक मेहनत का कोई मूल्य नहीं है। लेखक यह दर्शाता है कि उस समय का इंसान आज की अपेक्षा बहुत श्रमशील था किंतु उसके श्रम का मोल नहीं था। यशपाल उसी श्रम के मोल के लिए प्रतिरोध करती एक नायिका को खड़ी करते हैं। मजदूर ठेके के अंदर रहकर दिन-रात काम करता है और बीमार हो जाता है लेकिन मालिक उसे छुट्टी नहीं देता। ऐसी स्थिति में उसकी पत्नी जिस तरह पति के स्वास्थ्य के लिए पैसों की परवाह न करते हुए मालिक को काम छोड़ने की चेतावनी देती है, वह श्रम के महत्व और उस वर्ग के स्वाभिमान की बात है जो अक्सर मजदूरों के पेट की चिंतावश मुँह में रह जाने वाली आवाज थी- 'मिस्टर दयाल- काम क्यों छोड़ते हो? मजदूर के कुछ बोलने से पहले ही बच्चे को गोद में लेकर उसकी औरत ने कहा - हमें नहीं यहाँ काम करना। हमारा आदमी जाड़ा खाकर बीमार हो गया है, दिन भर यहाँ ठंडी हवा में न आग है और ना ही कोई हवा की रोक। मिस्टर दयाल- मजदूरी और ज्यादा देगा। परंतु औरत ने उत्तर दिया- हमें नहीं चाहिए तुम्हारी मजदूरी, हमारा आदमी बीमार कर दिया। मिस्टर दयाल- शांत करने के उद्देश्य से 'अरे बीमार तो हम भी हैं।' औरत ने तपाक से जवाब दिया- 'तुम्हारा फिक्र तुम्हारे अपने करेंगे, हमें अपने की फिकर है। मिस्टर दयाल की मुस्कुराहट काफूर हो गई।'[2]

इस समय यशपाल जेल में बंद थे लेकिन उनकी नजरों में मजदूर के हक की चिंता यही कारण है कि वे क्रांतिकारी के साथ-साथ साहित्यकार भी बने रहने की एक शक्ति पा रहे थे। उनका मानना था इनकी समस्याओं को बाहर लाने का काम एक साहित्यकार ही कर सकता है। यशपाल की डायरी में कई ऐसी कहानी और प्रसंग हैं जिनमें कला-साहित्य-सौंदर्य एवं प्रेम पर विषद चिंतन किया गया है। यह डायरी अपनी पीढ़ी से एकदम भिन्न कलेवर की डायरी है। स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर खूब सवाल करती है। कहीं-कहीं यह चर्चा इतनी मार्मिक संवादों से होती है कि पाठक भूल जाए डायरी पढ़ रहे हैं या एक परिपक्व कहानीकार की कहानी। 'बिंदु-मदन' कहानी में लेखक ने प्रेम-विवाह की विसंगतियाँ और त्रिकोण प्रेम की जटिलता का सुंदर निर्वाह किया है मदन कहता है- 'स्त्री पुरुष का संबंध एक रूप में सामाजिक जरूर है परंतु इसका मुख्य प्रयोजन वैयक्तिक हित ही है। इसलिए समाज के उंगली उठाने की परवाह हम उस समय नहीं करेंगे जब वैयक्तिक हार्दिक भावों को ठेस पहुँचने का भय उपस्थित हो।'[3] यहाँ लेखक को वैयक्तिक स्वार्थ में डूबे उस जेनरेशन के आवेश पूर्ण निर्णय की चिंता है, जो प्रेम वश कुछ भी कर लेने को तैयार है लेकिन भविष्य की कठिनाइयों से निपटने की उसकी कोई रणनीति नहीं है। इसमें प्रेम की असफलता की पराकाष्ठा है जो चुभती है।

डायरी की यह प्रासंगिकता है कि अब वह सिर्फ दिनचर्या का ब्यौरा नहीं रह गई है। उसमें कहानी है, विभिन्न जरूरी धार्मिक और सांस्कृतिक मुद्दे हैं। समाज का प्रत्येक पहलू है। यशपाल जेल में रहते हुए समाज और समाज के बीच घटित हो रहे व्यक्तिगत और सामूहिक घटनाक्रम से अपने आप को जोड़े रखते हैं। यशपाल मार्क्सवादी दृष्टि के रचनाकार माने जाते हैं किन्तु मार्क्सवाद हावी होकर उनकी इस डायरी में नहीं झलकता है। 'नीरस रसिक' और 'नाक' जैसी कहानियों में मनोविश्लेषणवाद की झलक जरूर दिखती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपने समय में वे भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु जैसे युवा क्रांतिकारियों को देख रहे थे और खुद अपने आप को मानसिक रूप से तैयार भी कर रहे थे। इस डायरी में 'नीरस-रसिक, 'बिंदु मदन' 'आत्मज्ञान' 'नाक' 'प्रिय जन्मदिन' 'वेश-दुष्ट-पंजाबी' इत्यादि शीर्षक की कहानियाँ हैं। कुछ में अपरिपक्वता भी दिखती है। इन कहानियों में कहीं-कहीं काम और यौन आकांक्षा भी है किंतु यह विलक्षणता है कि द्वंद्व बहुत गहरा है इन कहानियों में। प्रेम को पाने की झूठी दिलासा है जो कहीं ना कहीं पुरुषवादी समाज का वीभत्स दृश्य उपस्थित करता है। इसी की बानगी है 'नाक' कहानी। इसमें नायिका को अपनी नाक खो देना पड़ा क्योंकि उसका प्रेमी रात्रि के समय उसकी नाक इस दुर्भावना से काट देता है कि कहीं बिंदु की सुंदरता से दूसरे लड़के न उसे प्रेम करने लगें। 'नीरस रसिक' कहानी इस डायरी की सर्वश्रेष्ठ कहानी मानी जा सकती है। इसमें अंतःस्थल पर तैरता प्रेम है, जो लेखक के दार्शनिक दृष्टिकोण के दबाव में मन ही मन नायिका के अंदर टीस पैदा करता है। इस कहानी की कथावस्तु है जम्मू और डल झील की, जहाँ की सुंदर आबोहवा के मध्य प्रद्युम्न को तलाश है एक ऐसी खूबसूरत

युवती की जिसका वह यथातथ्य न्यूड पेंटिंग बना सके। यह सुनकर सविता असहज हो जाती है। ऐसे में दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रद्युम्न बड़े सलीके से समझाते हुए कहता है-

'मैं कला को कला की दृष्टि से कह रहा हूँ। जब सृष्टि की अन्य सुंदर वस्तुओं से हम आशंकित नहीं होते तो मानव शरीर में ऐसी कौन सी बात है। वह तो सृष्टि की सबसे सुंदर रचना है। यह दृष्टि भेद है कि कौन किस दृष्टि से देखता है। नारी एक व्यक्ति के हृदय में मातृत्व की अनुभूति उत्पन्न करती है दूसरे के लिए यह वासना की मूर्ति हो सकती है। यही बात पुरुष के संदर्भ में भी कही जा सकती है।'[4]

यह वाक्य कहीं न कहीं यशपाल का विजन दर्शाता है। वे विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से किसी पात्र या घटना का केंद्रीय भाव प्रेमकथा से जोड़कर भी दैहिक प्रेम को साध्य नहीं मानते। स्त्री के जीविकोपार्जन के लिए यदि शरीर का सौंदर्य माध्यम है तो यशपाल उसे भी जायज मानते हैं। यही कारण है कि निरावरण तस्वीर बनाने के लिए जब प्रद्युम्न एक कश्मीरी युवती को दो घंटे की सिटिंग के बदले पैसे देता है तब भी यशपाल उस लड़की का सामाजिक उपहास होते नहीं प्रस्तुत करते। सविता एक सामान्य स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय समाज में सहज ही यह बात उठेगी जो सविता कहती है- 'सौंदर्य आराधना से पैसे का क्या सवाल है? उसने तो सौदा ही किया है!'[5] यशपाल यहाँ पर भी एकदम सचेत हैं। प्रद्युम्न कहता है- 'कौन कहता है सौदा? सौदा कैसा? सौंदर्य एक अद्भुत संपदा है! उसे छिपाने का क्या कारण? मैंने रुपये पचास दिए हैं लेकिन, यूरोप में इसी सिटिंग के चार-पाँच सौ वह पा सकती थी।'[6] सविता को यह सब बहुत अजीब और असहज लग रहा था। प्रद्युम्न दार्शनिकों की भांति प्रवाहपूर्ण तर्क पर तर्क देता। वह उसे समझाने की कोशिश करता किंतु भारतीय जनमानस में अभी तक ऐसी मनोवृति का स्थान नहीं था यह यशपाल को भलीभाँति ज्ञात था लेकिन उनका स्पष्ट मानना है-

'संगीतज्ञ अपने गले के माध्यम से कुछ कमा लेता है या चित्रकार अपनी उंगलियों की कला से कुछ अर्जन करे या पहलवान अपने शारीरिक शक्ति से इनाम पाने की इच्छा करे तो उसमें निंदा का कारण नहीं दिखाई देगा परंतु यदि रूपवती अपने रूप के प्रभाव से सब कुछ पाने की लालसा रखती है तो यह महापाप क्यों है।'[7]

इस डायरी में यशपाल का कला और सौंदर्य संबंधी दृष्टिकोण उनके चिंतन फलक को समझने की पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करता है। सौंदर्य को वे निजी व छिपाने की वस्तु नहीं मानते। वह कैसा भी सौंदर्य हो कलागत हो या शारीरिक हो या सूक्ष्म, उनका मानना है सौंदर्य का मूल्य अवश्य निर्धारित होना चाहिए। इससे समाज में एक संदेश जाएगा। लोगों की व्यक्तिगत कुंठाएँ दूर होंगी और समझ विकसित होगी।

यशपाल एक साहित्यकार से पहले देश की आजादी के लिए बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने वाले आंदोलनकारी रहे हैं। 1921 में वे स्वदेशी आंदोलन से जुड़े। उन्होंने कई राज्यों की यात्राएँ कीं। देश की दशा देखी। समाज का विकृत-सुकृत रूप देखा। बंगाल में बाल-विवाह और लड़कियों की तस्करी की घटनाएँ देखीं। 1936 में लिखी कहानी

'वेश-दुष्ट-पंजाबी' में वे वूमेन ट्रैफिकिंग की घटनाओं का जिक्र करते हैं। लड़कियों की शादी एवं प्रेम के नाम पर सौदागीरी की जाती थी। न जाने कितनी युवतियों को बूढ़े मर्द से शादी करने को मजबूर होना पड़ता था किंतु, वह अपने को बचाने के लिए जब प्रेमी के साथ या निकट सहयोगियों का साथ पाना चाहती थी तो वहाँ भी उनका अस्तित्व संकट में होता था। उनका प्रेमी भी उसे बेचने की फितरत में रहता है। एक बंगाली लड़की की यह बानगी देखिए वह प्रेमी के सामने खुद को बचाने की जद्दोजहद करते हुए बांग्ला भाषा में कह रही है- 'एमन एकरि अज्ञात, बूढो मानुष के विए करि आमि के मनई बेंचे थकवोन। ताते पूर्वे इन केन आपि एक दिन केरोसिन तेल गाये दिए जाले मारवो।'[8] आशय यह है कि- हमें एक अज्ञात बूढ़े से शादी के नाम पर कुछ अदमियों के हाथ बेच दिया गया है। इसी कारण इससे पहले मैं एक दिन केरोसिन तेल डालकर खुद को जला देना चाहती थी।

भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के संबंध में यशपाल रोचक बातें दर्ज करते हैं। वे लिखते हैं 1921 में संपूर्ण जनमानस आजादी के लिए पहली बार सामने आता है नेताओं की अग्रिम पंक्ति में आगे बढ़कर जान फूँक देने का काम गाँवों में झंडा उठाने वाले आमजन करने लगे थे। इन ग्रामीणों में उत्साह और जोश सातवें आसमान पर था। सबके मन में यह विश्वास अडिग सा हो गया कि अब आजादी लेकर रहेंगे। 'सन् 1921 में ऐसा मालूम होता था कि अंग्रेजी सल्तनत की जड़ें हिल गई हैं। वह मृत गिरना ही चाहता है। अदालत और जेल की दीवारें जय घोष और नारों से थर्रा उठी थी। कैसा उत्साह था आजादी की आशा का! कैसी घृणा थी विदेशी सल्तनत के प्रति देखने लायक था।'[9]

यशपाल ने किसानों को इस आंदोलन का मुख्य हिस्सा माना है। वे देख रहे थे कि किसान जेल में चक्की पीसते-पीसते ऊब गया है। उसे अपनी खेती अपना अनाज अपने अरहर दाल और भात खाने की एक अजीब सी आशा जगी और वह आंदोलन में लाठी-डंडा खुरपी-हँससिया लेकर कूद पड़ा परंतु यह था दुर्भाग्य कि देश के भाग्य में अभी आजादी लिखी नहीं थी। यशपाल यद्यपि इस दौर में साहित्यकार बनने की ओर अग्रसर रहे थे किंतु उनकी सोच एक सामाजिक चिन्तक की थी। जिस तरह भारतीय आंदोलन के बनने और बिगड़ने की पड़ताल करते हैं उससे यह साबित होता है। यशपाल ने जेल की नौकरी की थी और उन्हें जानबूझकर ब्रिटिश हुकूमत द्वारा उस जगह रखा गया जहाँ प्रतिदिन सैकड़ों क्रांतिकारियों को फाँसी के फंदे से लटकाया जाता था, जिससे वे विचलित हो जाएँ और लोकजागरण का रास्ता छोड़ दें परंतु वे साहित्यकार एवं क्रांतिकारी दोनों बने रहे जेल में और बाहर भी। उन्होंने जनसामान्य में गांधी के अहिंसा के सिद्धांत के प्रभाव का आकलन भी किया। जहाँ वे देखते हैं कि महात्मा जी के अहिंसा के सिद्धांत को दिल से कम आदमी मानते थे। कुछ तो मानते थे लाचारी की वजह से। गांधी जी से संबंधित लेख 'प्रतिहिंसा' और True Non-Violence-Duality of Non-Violence' में वे लिखते हैं- 'महात्मा जी अहिंसा मार्ग का प्रतिपादन नीति के तौर पर नहीं अपितु

धार्मिक विश्वास के रूप में करते हैं। यह बात दोहराने की जरूरत नहीं है। महात्मा जी की दृष्टि में देश की स्वाधीनता से अधिक मूल्य है देश के अहिंसा के व्रत में दीक्षित होने का। उन्होंने 1920 में अपने एक लेख 'Theory of Sward में स्पष्ट कह दिया है कि यदि भारत बल प्रयोग से तलवार की शक्ति से स्वराज प्राप्त करेगा तो वह उनके हृदय के अभिमान की वस्तु नहीं रहेगा।'[10]

समाज का कोई समुदाय साम्प्रदायिकता और दंगा करता हो तो उससे कैसे निपटा जाये इस पर वे कहते हैं- 'हम यह नहीं कहते कि सांप्रदायिक दंगों का दमन हमें अहिंसात्मक सत्याग्रही स्वयंसेवकों द्वारा नहीं करना चाहिए; जरूर करना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो नैतिकता और संस्कृति की एक और सीढ़ी चढ़ जाएंगे। परंतु यदि कांग्रेस मंत्री ऐसे स्वयंसेवकों के अभाव में पुलिस और फौज का प्रयोग करते हैं तो यह उनकी असफलता का द्योतक है, हम यह मानने को तैयार नहीं।'[11] यशपाल कृत 'मेरी जेल डायरी' की प्रासंगिकता भिन्न-भिन्न रूपों में स्पष्ट है। वे देश के लिए सिर्फ अहिंसा को ही सर्वस्व मानकर बैठने के हिमायती नहीं थे। जरूरत पड़ने पर ईट का जवाब पत्थर से देने या यूं कहें कि भगतसिंह जैसे क्रांतिकारियों की मान्याताओं को अपनाने से भी कोई संकोच नहीं करते हैं। उनका मानना है हमें शासन के उद्देश्य को ध्यान में रखकर शासन और हिंसा में भेद करना होगा। इस डायरी में यशपाल द्वारा बनायी गयी कुछ पेंटिंग भी मुद्रित हैं तथा Introductory Lectures on Psychoanalysis नाम से सिगमंड फ्रायड एवं According to Lenin नाम से लेनिन संबंधी लेख है। जिनके बारे में वे बराबर पढ़ते और समझते थे। इस प्रकार देखा जा सकता है कि 'मेरी जेल डायरी' में साहित्य, कला और राजनीति का विलयन है।

सन्दर्भ :

1. प्रकाश, अरुण. गद्य की पहचान. अंतिका प्रकाशन. गाजियाबाद. (2012). पृष्ठ.11
2. यशपाल, मेरी जेल डायरी. लोकभारती प्रकाशन. इलाहाबाद. (2014). पृष्ठ. 6
3. वही, पृष्ठ. 20, 4. वही, पृष्ठ. 48, 5. वही, पृष्ठ. 50, 6. वही, पृष्ठ 50,7. वही, पृष्ठ. 51, 8. वही, पृष्ठ. 58, 9. वही, पृष्ठ. 159, 10. वही, पृष्ठ. 163, 11. वही, पृष्ठ. 165
12. छाबड़ा, मनोज. हिंदी डायरी साहित्य स्वरूप और विकास. बोधि प्रकाशन. जयपुर. (2019)
13. मिश्र, दयानिधि. हिंदी का कथेतर गद्य परंपरा और प्रयोग. वाणी प्रकाशन. नयी दिल्ली. (2020)

शोधार्थी, हिंदी विभाग
तेजपुर विश्वविद्यालय असम

सामाजिक उन्नयन संबंधी जीवन-मूल्य और सुदर्शन की कहानियाँ

संजय यादव

सुदर्शन प्रेमचंद युग के महत्वपूर्ण कथाकार हैं। उनका नाम प्रेमचंद, विनोदशंकर व्यास, बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि के साथ लिया जाता है। अपने युग में सुदर्शन ने हिन्दी पाठकों को एक सात्विक पाठ्य सामग्री दी। जब रेडियो, टी.वी नहीं थे और अखबार एवं अन्य पत्र- पत्रिकाएँ कम थीं, जब पाठकों की जीवन-दृष्टि साहित्यिक रचनाओं से ही बनती थी, तब सुदर्शन ने हिन्दी पाठकों को वह आधार दिया, जिस आधार पर खड़े रहकर वे प्रेमचंद की सराहना कर सकते थे।'

उनका मंतव्य था कि कहानी लेखकों को घटना-प्रधान मनोरंजक कहानियों के स्थान पर ऐसी कहानियों का निर्माण करना चाहिए, जो व्यक्ति और उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का मनोवैज्ञानिक यथार्थ और संवेदनशील चित्रण कर सकें' कहानीकार को खुला उपदेशक नहीं होना चाहिए, इससे कहानीकार की प्रतिष्ठा मिट जाती है' स्वयं सुदर्शन के शब्दों में 'कहानी में खुला उपदेश न हो' कहानी में उपदेश दिया न जाए' प्रकट रूप से उपदेश आया और कहानी कलाहीन हुई 'ठीक रास्ता यह है कि कहानी से उपदेश मिल जाए' कहानी में उपदेश समाया हुआ हो, कहानी पर उपदेश छाया हुआ न हो।'[1]

उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'हमें ऐसी कहानियाँ चाहिए, जिनका प्रभाव राष्ट्र और समाज पर अमिट हो और यह तभी हो सकता है, जब हमारे समाज और राष्ट्र की बातें ही कहानी में हों।'[2] इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि सुदर्शन व्यक्तिवादी कहानीकार न होकर समष्टिवादी कहानीकार हैं। वे व्यक्ति को सामाजिक इकाई के रूप में ही मान्यता देते हैं, समाज से कटे हुए व्यक्ति का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। यही कारण है कि सुदर्शन जीवन और जगत के चित्रकार बने हैं, मानव-मन की ग्रंथियों और कुंठाओं से प्रायः उनका कोई सरोकार नहीं रहा।

समाज एक से अधिक लोगों के समुदाय को कहते हैं, जहाँ सभी मनुष्य मानवीय क्रिया- कलाप करते हैं। मानवीय क्रिया- कलापों में आचरण, सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह आदि की क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। किसी समाज के अंतर्गत आने वाले व्यक्ति एक- दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा सहृदयता का भाव रखते हैं।

सामाजिक उन्नयन के अंतर्गत समाज के कल्याण हेतु किये गए कार्यों को सूचीबद्ध किया जाता है। यदि मनुष्य की भलाई हेतु कार्य नहीं किये जाते हैं तो इससे मानव का विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा वह अपने एवं समाज के लिए कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं छोड़ पाता है। समाज का उन्नयन इसलिए आवश्यक है क्योंकि हाशिये पर पड़े हुए लोगों तथा कई शताब्दियों से पिछड़ेपन का दंश झेल रहे मानव समाज के लिए यह अति आवश्यक है।

भारतीय समाज विभिन्न धर्मों एवं जातियों में बँटा हुआ है, जहाँ स्वतंत्रतापूर्व तथाकथित निम्न जातियों के विकास के लिए पूर्ण अवसर उपलब्ध नहीं थे। धार्मिक रूप से रह रहे अल्पसंख्यक समुदाय का भी मुख्यधारा में शामिल होना बहुत कठिन था। लैंगिक भेदभाव भी भारतीय समाज का प्रमुख हिस्सा रहा है। पितृसत्तात्मकता के कारण स्त्रियों को कमजोर एवं हीन दृष्टि से देखा जाने लगा तथा आज भ्रूण हत्या के कारण स्त्रियों के अस्तित्व को लेकर ही संकट उत्पन्न हो गया है।

भारतीय समाज में आज भी आर्थिक असमानता अपने चरम पर है। भूमंडलीकरण के युग में यह असमानता और भी मुखर रूप में स्पष्ट दिखाई दे रही है, जिस कारण यदि समाज का उन्नयन करना है तो इसके लिए सामाजिक न्याय की आवश्यकता है, जो हमारे संविधान में वर्णित है, जहाँ पर जाति, धर्म, लिंग, नस्ल आदि के आधार पर भेदभाव प्रतिबिंबित है। किन्तु आज भी इस प्रकार के भेदभाव देखने को मिल जाते हैं। इनको समाप्त करने के लिए पूरे समाज को एकजुट होकर प्रयास करना पड़ेगा तभी सामाजिक उन्नयन संभव है।

सुदर्शन ने अस्पृश्यता निवारण हेतु 'दो डॉक्टर' कहानी के अंतर्गत दर्शाया है कि ईश्वर की आराधना से बढ़कर अपना कर्म दीन-दुखियों या कमजोर वर्ग को समर्पित हो। अमीरचंद ने समाज में तथाकथित निम्न जाति से संबंध रखने वाले एक परिवार की सहायता की जहाँ एक दम्पति के पुत्र की आकस्मिक तबियत खराब होने के कारण वह अपना पूजा कर्म छोड़कर भी उसका इलाज करने जाते हैं - 'अमीरचंद ने माला रख दी और सूट पहनकर उनके साथ हो लिए होश में लाने की कुछ दवाएँ भी साथ ले लीं। दोपहर तक भूखे प्यासे वहीं बैठे उसको होश में लाने की कोशिश करते रहे। अब वह होश में था और धीरे- धीरे बातें कर रहा था। भंगी और भंगिन का रोम-रोम अमीरचंद को दुआएँ दे रहा था। अमीरचंद दस-ग्यारह बजे भोजन किया करते थे। मगर आज उन्हें इस नियम के टूट जाने की परवाह न थी। आज भूखे प्यासे होने पर भी वे शांत, प्रसन्न हृदय दिखाई दे रहे थे। आज उन्होंने गरीबों की पुकार सुनी थी। उन्होंने फीस न ली थी, फीस के बदले दिल की दुआ ली थी।'[3]

सुदर्शन की 'कायापलट' कहानी स्त्रियों की उन्नति के अवसर प्रदान करने हेतु परदा प्रथा का खुलकर विरोध करती है, जहाँ हिंदू धर्म में उपस्थित इस परदा-प्रथा का घोर विरोध करते हुए दिखाया गया है। सवित्री रक्षा को परदा प्रथा के दुष्परिणाम बताती है- 'और यह परदे का सबसे बुरा परिणाम है, यह स्त्री-जाति को बोदा बना देता है। इससे उनका साहस मर जाता है। उनकी वीरता नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि यदि किसी खतरे में पड़ जाएँ तो मर जायेंगी, जान दे देंगी, मगर उनसे इतना न होगा कि डरकर खड़ी हो जाएँ या शोर ही मचा दें।'[4]

सुदर्शन की 'अंधकार' कहानी को भी स्त्री शोषण की समस्या के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ पर लाला रामनारायण अपना दूसरा विवाह केवल इसलिए करते हैं ताकि

उन्हें दूसरी पत्नी से पुत्र की प्राप्ति हो, किन्तु दूसरी पत्नी से भी उन्हें पुत्र प्राप्ति नहीं हो पाती। पितृसत्तातमकता के कारण, वंश परंपरा को आगे बढ़ाने के नाम पर संतान के रूप में पुत्र प्राप्ति की समस्या आज भी देश में भयावह स्थिति के रूप में देखी जा सकती है, जहाँ भ्रूण हत्या के रूप में विभिन्न राज्यों में लिंग अनुपात काफी तेजी से गिरता जा रहा है।

सुदर्शन की 'चैन नगर के चार बेकार' कहानी में आर्थिक समानता के दर्शन होते हैं, जैसा कि कहानी के आरंभ में ही देखा जा सकता कि चैन नगर के विषय में इसका वर्णन किया गया है- 'वहाँ मेहनत मजदूरी के मोटे कानून के सिवा दूसरा कोई कानून न था। वह कानून यह था कि जो काम करे खाए, जो बेकार रहे भूखों मरे। सब काम करते थे।'[5]

'राजा' नामक कहानी में सेवा विषयक दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है। महाराजा रणजीत सिंह ने अकाल के समय में अपनी जनता के हित लिए शाही किले में अनाज की कोठरियाँ खुलवा दी थीं और 'घोषणा कर दी थी कि जिस-जिस गरीब को आवश्यकता हो, ले जाए, दाम न लिया जाएगा। लोग महाराज की इस उदारता पर चकित रह गए।'[6]

'अमर जीवन' कहानी में कवि के माध्यम से सेवा के महत्व को प्रतिपादित किया गया कि कवि का जीवन परोपकार का जीवन है। वह लोगों में उत्साह एवं आशा का संचार करता है, वह हमेशा के लिए अमर हो जाता है, इंद्रनाथ (कवि) नौकरी छोड़कर अपनी पत्नी मनोरमा से कहता है- 'दुनिया अपने लिए जीती है और अपने लिए मरती है, मगर कवि का सारा जीवन उपकार का जीवन है। वह गिरे हुए उत्साह को उठाता है, रोती हुई आँखों के आँसू पोंछता है और निराशावादियों के सम्मुख आशा का दिव्य दीपक रोशन करता है। दुनिया के लोग उत्पन्न होते हैं और मर जाते हैं, पर ऐसे जाति निर्माता सदा जिंदा रहते हैं, उन्हें कभी मौत नहीं आती।'[7]

'सच का सौदा' कहानी में पंडित सर्वदयाल सच के साथ सौदा नहीं करते तथा वह एक ऐसे व्यक्ति के लिए वोट माँगते हैं जो करुणा एवं सहानुभूति से पूर्ण हो। साधारण एवं छोटे लोगों को आगे बढ़ाने में प्रयासरत हो। बुरे वक्त में लोगों की सेवा करे। वह कहते हैं- 'इस वोट का अधिकारी वह मनुष्य है जिसके हृदय में करुणा तथा देश और जाति की सहानुभूति हो। जो जाति के साधारण और छोटे लोगों में घूमता हो और जाति को ऊँचा उठाने में दिन-रात मग्न रहता हो। जो प्लेग और विशुचिका (हैजा) के दिनों में रोगियों की सेवा-सुश्रुषा करता हो और लोगों के हार्दिक विचारों को स्पष्टता से प्रकट करने और उनके समर्थन करने में निर्भय और पक्षपात रहित हो।'[8]

'हार की जीत' कहानी भी हमें सेवा संबंधी मूल्य अपने जीवन में धारण करने का उपदेश देती है, जब डाकू खड़गसिंह द्वारा एक गरीब असहाय बनकर घोड़ा चुरा लिया जाता है तब बाबा भारती ने इस घटना के बारे में किसी से न कहने की सलाह दी क्योंकि गरीब व्यक्ति की सहायता हेतु वैसे भी अपने स्वार्थ से वशीभूत होने के कारण कम ही लोग जाते हैं इसलिए वह कहते हैं- 'लोगों को अगर इस घटना का पता लग गया, तो

वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे। दुनिया से विश्वास उठ जायेगा।'[9]

'सूरदास' कहानी में भी सेवा विषयक दृष्टिकोण सूरदास के माध्यम से दिखाई देता है। जब सूरदास को काफी दान-दक्षिणा प्राप्त होती तो घाट के लोभी साधू उसके पास आकर भोजन की याचना करते 'सूरदास उनकी बातें सुनता, तो अपने खाने - भर को रखकर बाकी उन्हें बाँट देता।'[10]

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि सुदर्शन की कहानियों में सामाजिक उन्नयन संबंधी जीवन- मूल्य सुगमतापूर्वक देखे जा सकते हैं। इसके अंतर्गत उन्होंने अस्पृश्यता निवारण हेतु 'दो डॉक्टर' कहानी को आधार बनाया, जहाँ मानवता की सेवा ही सबसे बड़ा आधार माना गया तथा ईश्वर भक्त की पूजा से संतुष्ट नहीं होता बल्कि वह तो परोपकार की भावना से ही होता है। स्त्रियों की उन्नति संबंधी तत्व हमें 'कायापलट' एवं 'अंधकार' जैसी कहानियों में दिखाई देते हैं वहीं सामाजिक सेवा जैसे मूल्य 'राजा', 'सच का सौदा', 'सूरदास', 'हार की जीत' आदि कहानियों में देखे जा सकते हैं।

संदर्भ :

1. सुदर्शन, तीर्थ यात्रा (भूमिका), पृ.8 , सरस्वती प्रेस, बनारस, 1945
2. लाल, लक्ष्मीनारायण, हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास, पृ.176, लोकभारती प्रकाशन, 2019
3. चतुर्वेदी, स्मिता (संपा.) सुदर्शन संकलित कहानियाँ, पृ. 126-127, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, 2014
4. वही, पृ. 26
5. वही, पृ.143
6. वही, पृ. 4
7. वही, 15-16
8. वही, पृ.47
9. वही, 92
10. वही, पृ.161

पीएच.डी. (हिन्दी)
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग

आसन्न मृत्यु और निरापद सेल्मा

डॉ. प्रतिमा भारतीया

जीवन और समय के क्रम में अंतिम स्थिति या पड़ाव पर पहुँचना ऐसा ही होता है जैसा नदी का वह द्वीप जो धारा के बहाव से अलग, निर्निमेष धारा के प्रवाह को देखता रहता है। वृद्धावस्था भी एक पड़ाव है जो मनुष्य-जीवन के ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्त्व करता है जो शायद जीवन की प्रतिस्पर्धा और भागदौड़ भरी रेस से निकाल दिये गए हों या स्वयं ही तटस्थ हो गए हों। ऐसे जीवनानुभव से समृद्ध और पके हुए लोग अपने ज्ञान एवं अनुभव में भी पक गए होते हैं, जिनसे पोषित होकर बाद की पीढ़ी अपने जीवन में प्रगति कर सकती है, पर क्या यह संभावना धूमिल नहीं हुई है? यहाँ वृद्धावस्था के प्रति एक नकार का भाव है। कोई हमदर्दी, संवेदनशीलता, सीखने की ललक और उनके प्रति कोई आकर्षण रह ही नहीं गया है। शक्ति, जीवन का केंद्र है; शक्तिहीन जीवन की कगार पर खड़े होकर अपने दिन गिनें, ऐसा हमारी संस्कृति में वरेण्य नहीं माना गया है। भगवतशरण उपाध्याय जी यह मानते हैं कि यदि व्यक्ति में जीवटता हो तो वह सूखे में भी हरियाली बिखेर सकता है और मौत के जहर के बाद भी जिंदगी आबाद हो सकती है।

अज्ञेय जी का 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास एक विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है। योके और सेल्मा मात्र दो पीढ़ियों का ही द्योतन नहीं करती हैं बल्कि उन दुश्चिंताओं से भी एक-दूसरे को झकझोरती और झिंझोड़ती रहती हैं, जो अजनबियत का लबादा ओढ़े मृत्यु से साक्षात्कार करती हैं। इस उपन्यास में मृत्यु के प्रति अस्तित्त्ववादी नकार के सिद्धांत पर भारतीय ईश्वरवादी आस्था की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए तो कहा गया है कि अज्ञेय इस उपन्यास का सृजन अस्तित्त्ववादी तत्त्वों को साधन के रूप में लेकर उस पर भारतीय आस्थावादी संस्कृति की पताका फहराते हैं। इस उपन्यास में सेल्मा वृद्धा है और कैंसर से पीड़ित भी है। वहीं दूसरी ओर योके युवा है जो अपने प्रेमी के साथ पहाड़ पर घूमने आयी है तथा संयोग से वह सेल्मा के काठघर में ही ठहरती है, जहाँ बर्फ का पहाड़ उस काठघर को कब्रगाह में तब्दील कर देता है। ऐसी स्थिति में योके में मृत्यु का प्रबल भय और भीषण जिजीविषा का द्वंद्व दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर सेल्मा में सब कुछ को यानी अपनी वार्धक्यता-जनित जटिलताओं और आसन्न मृत्यु को भी स्वीकार करके जीने का उत्साह दिखता है। अजनबीपन के साथ-साथ आसन्न मृत्यु का दंश किस प्रकार वृद्ध जीवन को नारकीय बना देता है? क्या मृत्यु-मात्र ही उनके जीवन में अवशेष है? क्या वृद्ध होना मात्र ही जीवंतता के लक्षणों से शून्य हो जाना है? इन्हीं प्रश्नों का बेहतरीन जवाब हमें इस उपन्यास में देखने को मिलता है।

योके युवावस्था के आत्मविश्वास से भरी हुई है तथा वह किसी भी कीमत पर मिसेज सेल्मा एकेलोफ के आत्मविश्वास और अनुभवों को स्वीकार नहीं करती है। उसे मृत्यु का

भय अपने से ज्यादा सेल्मा के लिए है। बर्फ से ढक जाने पर और एक कब्रगाह के रूप में कैद हो जाने के बाद भी वह हमेशा यही मानती है कि जीने की आवश्यकता तो सिर्फ मुझे ही है। बूढ़ी सेल्मा जीवन से क्यों इतना चिपकी हुई है? यह प्रश्न ही इस उपन्यास का केंद्र बिन्दु है। अज्ञेय भी इसी प्रश्न से संघर्ष करते हैं कि 'अपरिहार्य मृत्यु को किस रूप में स्वीकार करना चाहिए या नहीं करना चाहिए।'[1] अप्रत्यक्ष रूप से योके कई बार जीवन की निस्सारता व्यक्त कर चुकी है- 'लेकिन यहाँ तो कुछ भी करने को नहीं है।'[2] या मृत्यु की ओर दिन-ब-दिन अग्रसर होते और जीवन की अल्पावधि जिसमें करने को कुछ भी नहीं है, सीखने को कुछ भी नहीं, सिर्फ बिता भर देने के लिए जिया जा रहा है, उसके गिरते आत्मविश्वास और मृत्यु-भय के संत्रास को सूचित करता है। वहीं दूसरी ओर जीवटता से भरी हुई सेल्मा वृद्धावस्था के विकारों से ग्रस्त है फिर भी बर्फ से घिरी सिमेट्री को क्रिसमस के लिए अवसर के रूप में देखती है। ऐसे विषम और आसन्न मृत्यु के क्षण में भी उसकी संवेदनशीलता और दया स्वयं की ओर नहीं है बल्कि वह मनुष्यों के प्रति ही नहीं अपितु निर्जीवों के प्रति भी प्रकट होती है। उसके प्याला और तश्तरी उठाने में भी कितना प्यार और दुलार है। आग की ओर हाथ बढ़ाकर उसे भी असीसने का साहस वह करती है। वास्तविकता को पूरी सहजता के साथ ग्रहण करने वाली सेल्मा जीवन को पूरी सहजता के साथ जीने में विश्वास करती है। योके इस अप्रत्याशित कब्रगाह से भीतर तक बहुत ही भयभीत है पर अहम् और उम्र की इयत्ता उस भय को कहीं और देखना चाहते हैं। योके स्वयं अपने और सेल्मा के जीवन और भविष्य की निस्सारता को इस रूप में व्यक्त करती है कि 'कब्र तो समय से ही बन गयी है-उन्हें मरने में देर हो गयी है-इस काल विपर्यय के लिए निश्चय ही विधि को दोष नहीं दिया जा सकता।'[3] अथवा ये कहना कि बूढ़ों को चिंता किस बात की- 'एक ही जगह बैठे-बैठे पगुराते रहते हैं। अतीत की स्मृतियाँ कुरेदकर जुगाली करते हैं और फिर निगल लेते हैं।'[4]

'अपने-अपने अजनबी' अजनबियत की समस्या को भी दर्शाती है। जिसमें अवस्था-बोध भी एक कारक है जिसके फलस्वरूप योके, सेल्मा से कभी जुड़ ही नहीं पाती है। मानवता की नैतिकता भी योके को अपरिचित ही रखती है। स्वयं से दूसरे के प्रति अजनबी हो जाना जबकि दोनों एक ही परिस्थिति में हैं। यहाँ मन की जड़ता दिखती है जो योके में भी मौजूद है और युवावस्था की सेल्मा में भी भरपूर है। दूसरे के हित और अहित से अपने को तटस्थ कर लेना मानवीय समाज का लक्षण ही नहीं है बल्कि मनुष्य की सार्थकता तो इसी बात में है कि सभी एक दूसरे के प्रति संवेदनशील हों। वृद्धों के प्रति तो अजनबीपन और भी खतरनाक होता है। वृद्ध स्वयं की शक्तिहीनता से खोए हुए आत्मविश्वास के साथ योके जैसों की उपेक्षा से उपेक्षित होते रहते हैं। सेल्मा भी योके की दया नहीं माँगती, उसे यह दिखाती है कि वृद्धावस्था दया पर आश्रित नहीं है, बल्कि इससे भी अधिक की माँग करती है। वृद्धों के प्रति दया के साथ-साथ उनकी उपस्थिति की महत्ता भी वांछनीय होनी चाहिए। योके, सेल्मा के भीतर एक कर्मशील करुणा को देखती

है जो अपने प्रति दया नहीं माँगती बल्कि वह दूसरों के लिए है। योके क्षण-जीवन या यों कहें कि वह जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे है, को ही वास्तविक मानती है। उसका जीना कालखंड के सापेक्ष है जिसका अनुभव किया जाय या जिसे जिया जा सकता है जबकि सेल्मा का जीना तो समय में ही है, जिसमें क्षणमात्र काल सापेक्ष नहीं है बल्कि अनुभव का इतिहास और भूत-भविष्य सब का समिश्रण है-'वह मानो किसी एक काल में नहीं जीती बल्कि समूचे कालमें जीती है। मानो वहाँ फिर काल एक प्रवाह नहीं है, उसमें कुछ भी आगे-पीछे नहीं है बल्कि सब एक साथ है।'[5] यहाँ मात्र दो अलग-अलग उम्र की इयत्ता से उपजी गंभीर परिस्थिति तथा उनके सामंजस्यपूर्ण हल के अलावा यहाँ दो संस्कृतियों में निहित जीवन और मृत्यु के अलग-अलग दृष्टिकोण के माध्यम से एक वैश्विक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है जो प्रत्येक मनुष्य को सहज स्वीकार के प्रति आश्वस्त करता है। अज्ञेय जी के ही शब्दों में- 'इस पर अचरज हो सकता है कि जिस संस्कृति में मृत्यु का स्वीकार इतना गहरा है कि उसका काल-प्रतीक मृत्यु की प्रतिज्ञा लेकर न चले; और दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता, जिसमें मृत्यु को नकारने का इतना प्रबल आग्रह है, काल की कोई ऐसी अवधारणा न कर सके जिसमें वह मृत्यून्मुख गति से ही इतर कुछ हो सकता है। कदाचित इसका कारण यही हो सकता है कि मृत्यु का स्वीकार ही इसे संभव बना सकता है कि उसे हम एक पृथक तत्त्व मानकर एक ओर रख सकें और हमारा सारा काल चिंतन उसकी छाया से ग्रसित न हो जाय।'[6] सेल्मा का यह स्वीकार ही उसके आत्मविश्वास और जीवन के प्रति उसकी आस्था को दृढ़ करती है वहीं योके इसके अभाव में खीझ उठती है। योके हमेशा मृत्यु से संत्रस्त रहती है जबकि सेल्मा इसे ही जीवन की एकमात्र सच्चाई मानती है और वह योके के मर-मर कर जीने की अपेक्षा जीकर मरना श्रेयस्कर मानती है। सेल्मा काठ के उस घर में है जो बर्फ के पहाड़ से कब्र बन चुकी है, वहाँ भी वह जीकर ही मारना चाहती है और दूसरी तरफ योके जीवन से पूरी तरह हताश और निराश है। सेल्मा को भी वह प्रत्यक्ष मृत्यु ही लगती है और अपनी कुंठा के कारण ही वह चाहती है कि 'जोर-जोर से चीखूँ, कि जलती हुई लकड़ी उठाकर उसकी कलाईयों पर दे मारूँ जिससे उसका आग को असीसने का दुस्साहस करने वाले हाथ नीचे गिर जाए-एकाएक जिसके सदमे से उसकी हृदयगति बंद हो जाये।'[7]

एक वृद्धा का बचा हुआ पूरा जीवन कैसे एक पहाड़ में तब्दील हो जाता है। बिना किसी आकांक्षा और उत्कंठा के पहाड़ की तरह निरंतर बदलती हुई, धरती पर बोझ की तरह लेकिन अंतहीन और लक्ष्यविहीन। क्या वृद्ध होना ही मात्र सभी उत्कंठाओं और आकांक्षाओं का मरण मान लिया जाता है। बिना किसी निर्दिष्ट लक्ष्य के, केवल मृत्यु के इंतजार में -

'पोपला मुँह
अनावश्यक चर्वण करता हुआ,

जिजीविषा के दुशाले को ईशा के चरणों में
समर्पित करता हुआ,
अपने अवशिष्ट को स्मृतियों के अवलंब से सँजोए
अपनी बारी के इंतजार में...'[8]

'अस्तित्ववाद उन पूर्व स्वीकृत जीवन सिद्धांतों को नहीं मानता है जिसमें ईश्वर को, प्रेम और नैतिकता को,अखंड जीवन प्रवाह को, आदर्श और आस्था को, सहानुभूतिमय साहचर्य को इतना ऊँचा स्थान दिया गया है।'[9] योके जीवन के इस क्षण में एकांत चाहती है, इसे भरपूर जीना चाहती है, एक डर और उम्मीद दोनों के साथ, पर सेल्मा को देखकर उसे कुंठा घेर लेती है। उस घुटन और अजनबीपन से घिरे हुए मौत-घर में भी सेल्मा मौन रूप से तो हमेशा गाती रहती है पर क्रिसमस की रात्रि में मुखर रूप से गुनगुना उठती है। देव-शिशु के जन्मोत्सव पर उसके गायन में कण्ठ का विरोध है, साँसों का अवरोध है फिर भी जीने का उल्लास है, जीवन के प्रति राग है। पर उसे दुःख इस बात पर होता है कि जब योके उसे किसी जरूरत से जोड़ देती है, सेल्मा को यह कहना पड़ता है कि -'मै गाऊँ तो कोई समझेगा कि मुझे कोई तकलीफ है- कि मुझे किसी चीज की जरूरत है -और हाँ तकलीफ भी है। लेकिन गाती हूँ खुशी से ही।'[10] यहाँ आकर वह योके को बताना चाहती है कि राग-द्वेष, हर्ष, करुणा, शोक आदि भावों से वह अभी परे नहीं है। अभी उसकी अवस्था जीवन के इन लक्षणों से अलग नहीं हो गयी है। बुझे हुए मन से योके क्रिसमस को एक नाटकीय वातावरण का सृजन मात्र ही समझती है जो कहीं से भी उसके भीतर नयी पैदाइश नहीं करता है। वहीं सेल्मा की सोच योके से अलग है। वह भरपूर जी लेने वाली है, उमंग से युक्त है, जिनका अभाव है उसे भी अनुभूत करके और जो घुटन सामने है उसकी दीवारों को फाँदकर वह कहती है कि 'खुली, निखरी हुई, स्निग्ध हँसती हुई धूप-में बाहर उसकी कल्पना करती हूँ तो वह मेरे भीतर भी खिल आती है और सोच सकती हूँ कि मै उसे औरों को दे सकती हूँ।'[11] औरों से तात्पर्य योके से है जो लंबे जीवन को हाथ में लेकर मृत्यु-भय से संत्रस्त रहती है क्योंकि सेल्मा को तो मालूम है कि अब उसे जिजीविषा की क्या आवश्यकता है। वह तो अपने भीतर अंधेरी ठंडक का अनुभव कर सकती है क्योंकि उसे कैंसर है, फिर भी वह अदम्य जिजीविषा से भरी हुई है और मरते हुए भी हर क्षण को भरपूर उल्लास के साथ जीना चाहती है जो इन पंक्तियों में बखूबी व्यक्त हुआ है -

'जीवन के हर क्षण को जी लूँ
हर क्षण को जीवन-सा जी लूँ'[12]

यहाँ पर सेल्मा वर्तमान को पूरी स्वतंत्रता के साथ भरपूर जी लेने का हौसला रखती है। टी. एस. इलियट भी मानते हैं कि चेतना के साथ जीना ही वास्तव में जीना है न कि अतीत और भविष्य में जीना। अज्ञेय जी ने 'काल का डमरू-नाद' शीर्षक निबंध में इसी विचारधारा को एक 'डमरू' के प्रतीक के रूप में व्याख्यायित किया है जिसके केंद्र में न

तो आगमिष्यत की प्रतीक्षा है और न ही विगत की स्मृति। ऐसी मनःस्थिति से युक्त मनुष्य काल से परे या काल-मुक्त कहलाता है।

भारतीय जीवन संदर्भों में ईश्वरवाद के प्रति प्रबल आस्था है जो मृत्यु को भी सहजता से स्वीकार करने की प्रेरणा देती है। इससे भी आगे बढ़कर वह मृत्यु को सत्य ही नहीं मानते बल्कि उसे एक रूपान्तरण के रूप में स्वीकार करते हैं और रूपान्तरण में भय की कोई गुंजाइश नहीं होती है। जीवंत-तत्त्वों से दूर होती हुई सेल्मा का सहारा कौन बन सकता है? क्या मात्र मृत्यु ही उसका उपाय नहीं है? जिसे वह छू सकती है, हमेशा अपने पास महसूस कर सकती है क्योंकि ईश्वर एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी कोई पहचान हमारे पास सिवाय भ्रम के कुछ भी नहीं है और जो हम पहचान पाते हैं या जिसकी अनिवार्यता नकार के आगे फिर कोई ज्ञान बच नहीं जाता है इसलिए इस पूरे वातावरण में मौत ही एकमात्र पहचानी जा सकने वाली चीज है जिसे सेल्मा 'एपिफानिया' या 'ईश्वर की पहचान के दिन' के रूप में मानती है।

अस्तित्त्व बोध जिसे दूसरे शब्दों में कुछ हद तक स्वार्थपरता से जोड़ा जा सकता है, जो व्यक्ति को अपने अस्तित्त्व के प्रति अधिक सचेत तो करती ही है साथ ही साथ दूसरे के अस्तित्त्व से बेपरवाह भी कर देती है। मनुष्यों को अपने भीतर ही भीतर खींचती रहती है। युवावस्था की सेल्मा इस संदर्भ में योके की ही तरह है जिसने अपने चायघर के भीतर अपने को कैद कर लिया है जिसे डूबता हुआ फोटोग्राफर और घृणा करता हुआ यान भी प्रभावित नहीं कर पाता है। उसे अपने जीवन का विश्वास है, उसकी सुरक्षा पर भरोसा है तथा भविष्य के प्रति अनुकूलन ही उसे अन्यों के साथ जोड़ लेने में असमर्थ बनाता है। योके भी वैसा ही आचरण करती है, सेल्मा की मृत्यु से वह अप्रभावित रहना चाहती है पर क्या देह की एकांगिकता मन को भी एकांगी बने रहने पर मजबूर कर सकती है? योके अपनी स्वतंत्रता में सेल्मा को बाधक मानती है, सेल्मा भी उससे स्वतंत्र होना चाहती है पर क्या स्वतंत्रता ही मनुष्यता का परिणाम है? क्या स्वयं का जीना दूसरे के जीवन की ताक पर ही संभव है? अंत में सेल्मा कहती है कि जीवन कोई अकेले की चीज नहीं है, केवल देह तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसमें आशा, विश्वास, उल्लास, सहयोग, प्रेम, स्वीकार, दया, संवेदनशीलता, आत्मोत्सर्ग की भावना भी निहित है। इसकी अर्थवत्ता तो तभी है जब कि स्वयं जलकर दूसरों को रौशन किया जाय जिसमें अवस्था का तो कोई बंधन ही नहीं होना चाहिए बल्कि जीवंतता ही प्रमुख हो। 'अंतिम अरण्य' में निर्मल वर्मा भी इसी जीवंतता को मृत्यु के बाद जीवन की निधि के रूप में स्वीकार करते हैं। जैसे- 'आदमी जीता एक जगह पर है, पर मरने के बाद वह व्यक्ति के भीतर अपनी जगह बना लेता है। उसका होना धुँधला पड़ता जाता है, उसका न होना उजला होता जाता है, इतना उजला और साफ लगता है कि वह हम सब के बीच बैठा है, एक जैसा नहीं बल्कि अलग-अलग। आग में जलने वाला शव एक ही रहता है,...जितना ही वह तिल-तिल कर भस्मीभूत होते जाते हैं...उनके नाखून, उनके बाल, उनकी अस्थि-मज्जा,

उनका माथा... उतने ही वे हमारे भीतर मुकम्मिल होते जाते हैं।'[13]

आस्था और विश्वास की चरम स्थिति सेल्मा में दिखायी देती है जहाँ सभी उम्मीदें और प्रयत्न निराधार हो जाय, वहाँ ईश्वरीय आस्था और विश्वास ही एकमात्र संबल बनता है तभी तो सभी भय और मृत्युबोध को परे रखकर सेल्मा कहती है कि 'भगवान के सिवा मेरे पास कुछ नहीं है ओढ़ने को।'[14] इसीलिए वह योके की स्वतंत्रता जो युवावस्था की शक्ति और बोध से सृजित हुई है, उसे निरा अहंकार ही मानती है क्योंकि पैदा हुआ कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। यहाँ वह अपनी परतंत्रता के विषय में कहती है कि मैं मृत्यु का वरण करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं हूँ और तुम न चाहकर भी मेरी मृत्यु की साक्षी बन रही हो, तो स्वतंत्र कौन है? इस स्वतंत्रता या अहम् का तिरोभाव तभी हो सकता है जब हम यह मान लें कि हर स्थिति, परिस्थिति और अवस्था जीवन का ही एक अंग होती है।

संदर्भ :

1. जैन नीलेश, अपने-अपने अजनबी (विवेचना), अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1998,पृ.सं.03
2. अज्ञेय सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, अपने-अपने अजनबी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पन्द्रहवाँ पेपरबैक संस्करण-1999, पृ.सं.-10
3. वही, पृ.सं.-12, 4. वही, पृ.सं.-13, 5. वही, पृ.सं.-20
6. नन्दन डॉ. कन्हैयालाल (संकलन एवं सम्पादन), अज्ञेय रचना संचयन : मैं वह धनु हूँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.-347
7. अज्ञेय सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, अपने-अपने अजनबी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पन्द्रहवाँ पेपरबैक संस्करण-1999, पृ.सं.-31
8. आखिरी पड़ाव- डॉ. प्रतिमा भारतीया
9. मिश्र रामदरश, हिंदी उपन्यासः एक अंतर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण-2001, पृ.सं.-121
10. अज्ञेय सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, अपने-अपने अजनबी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पन्द्रहवाँ पेपरबैक संस्करण-1999, पृ.सं.-27
11. वही, पृ.सं.-29
12. जैन नीलेश, अपने-अपने अजनबी (विवेचना), अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1998,नपृ.सं.-12
13. वर्मा निर्मल, अंतिम अरण्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण-2007, पृ.सं.-190
14. अज्ञेय सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, अपने-अपने अजनबी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पन्द्रहवां पेपरबैक संस्करण-1999, पृ.सं.-32

सहायक आचार्य (हिन्दी विभाग) के.बी.पी.जी. कालेज, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश।

स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिकः प्रेमचंद

डॉ. शीतांशु

भारतीयता कोई स्थिर अवधारणा नहीं है। उसमें क्रमिक परिवर्तन आते रहे हैं। एक ही समय में अलग-अलग विचारधाराओं के साथ लोग अपने-अपने भारत और अपनी-अपनी भारतीयता का विकास चाहते हैं। 1920-30 के दशक में प्रेमचंद भी अपना भारत रच रहे थे। जिस वक्त प्रेमचंद अपने भविष्य के भारत की परिकल्पना रच रहे थे, उसमें पाकिस्तान और बांग्लादेश भी शामिल था। यानी, प्रेमचंद लाहौर, कराची और ढाका की, इनके आस-पास के विस्तृत प्रदेश की जनता के दुख-दर्द, आशाओं-आकांक्षाओं को भी अभिव्यक्ति दे रहे थे, जब वे होरी या घीसू का चरित्र गढ़ रहे थे। आज राजनीतिक स्थितियाँ बदल गई हैं तो कभी अपने ही रहे इन भूभागों के प्रति, यहाँ के निवासियों के प्रति, लोगों का रवैया अलग हो गया है। विचारधाराएँ तो खैर प्रेमचंद के समय से बहुत ही बदल गई हैं। यह बदलाव इतना अधिक है कि युग की ताकतवर शक्तियों द्वारा जिस तरह के भारत की परिकल्पना तैयार की जा रही है, उसे सूचना और संचार के विभिन्न माध्यमों से सत्ता के विभिन्न उपकरणों द्वारा देश के नागरिकों के मन में जिस तरह थोपा जा रहा है, प्रेमचन्द की परिकल्पना का भारत उसके ठीक उलट था।

आजादी के पूर्व भी प्रेमचंद के समानान्तर कई तरह की भारतीयताएँ रची जा रही थीं। क्रांतिकारियों की अपनी दृष्टि थी, गांधी की अपनी, आंबेडकर की अपनी, नेहरू की अपनी, वामपंथियों की अपनी, मुस्लिम लीग की अपनी और आर.एस.एस. की अपनी। इसके साथ ही सामाजिक स्थितियों के बीच जनता की अपनी अलग-अलग समझदारी बनती है। भारत की कौन सी समझदारी हम अपनी जनता को दे पाते हैं, इसका संघर्ष इन भौतिक परिस्थितियों के बीच में जारी रहता है। पहले भी था और अभी भी है। प्रेमचंद भी लगातार अपने सपनों का हिन्दुस्तान पाने के लिए खुद से और सामाजिक स्थितियों से संघर्षरत थे। उनके विचारों और साहित्यिक लेखन में आए परिवर्तन इसके प्रमाण हैं लेकिन रूढ़िवादी, सांप्रदायिक, जातिवादी समाज में, औपनिवेशिक और पूँजीवादी दबावों के बीच, प्रेमचंद का भारत आजादी के बाद साकार नहीं हो सका। यह समझना होगा कि यह कैसा भारत था और क्यों हमें प्रेमचंद के इस हिन्दुस्तान को पाने के लिए संघर्ष जारी रखना होगा।

प्रेमचंद का हिन्दुस्तान आजकल के उत्तेजनापरक पदच्युत राष्ट्रवाद से संचालित राष्ट्र नहीं था। सीमाओं में बँधा घृणा आधारित, हिंसा आधारित, अपनी अपनी अस्मिताओं में कैद हिन्दुस्तान नहीं था उनकी परिकल्पना में। घृणा से संचालित हिंसात्मक राष्ट्रवाद कितना प्रेम और कितना सौहार्द पैदा करेगा! प्रेमचंद जब अपने स्वराज की परिकल्पना तैयार कर रहे थे तो अपने क्रांतिकारियों तक की हिंसा का उन्होंने विरोध किया था। 1932 में बंगाल में आतंकवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा भी है, 'आतंकवादियों

की समझ में कब यह बात आएगी इन अपराधों से वे केवल राष्ट्र की उन्नति में बाधक हो रहे हैं।' इन क्रांतिकारियों का राष्ट्र के प्रति लगाव समझते हुए भी वे यह राय रखते हैं। 1922 में चौरी-चौरा कांड के बाद गाँधीजी ने जब आंदोलन रोक दिया था तो उसके पीछे तर्क यही था कि हिंसा आधारित स्वराज हमें नहीं चाहिए। साधन क्या होगा यह महत्वपूर्ण है राष्ट्र के चरित्र के निर्माण में।

वस्तुतः, प्रेमचंद का स्वराज सिर्फ भारतीयों की मुक्ति नहीं चाहता। जिस स्वराज की परिकल्पना प्रेमचंद के मस्तिष्क में थी वह तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक दुनिया के किसी भी राष्ट्र में मनुष्य अन्याय, भूखमरी, गरीबी, हिंसा का शिकार है। किसी भी देश में यह सब झेलने वाला नागरिक भी उनकी भारतीयता और उनके स्वराज से बाहर नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि उनके स्वराज में हिंसा और घृणा के लिए जगह नहीं है, मनुष्यता का प्रसार है। कर्मभूमि में उनका यह स्वराज प्रकट होता है जहाँ वे दुनिया भर में सुख-शांति समृद्धि चाहते हैं। यह चाहते हैं कि 'कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करें, न कोई राजा हो न कोई प्रजा, मजहब शख्सी चीज हो', जहाँ फौजों की जरूरत न हो, सबके साथ न्याय हो, गाँव और शहर का फर्क न हो, ऐसा न हो कि कुछ लोग लगान भरे जा रहे हैं और बाकी का वेतन बढ़े जा रहा है।' ऐसी परिकल्पना किसी एक देश की आजादी से संभव नहीं है बल्कि दुनिया भर के देशों में खुशहाली लाए बगैर यह नहीं हो सकता। अंग्रेजों के हाथ से निकलकर भारतीयों के हाथ में शासन आ जाना तो उसका पहला चरण मात्र है। स्वराज के उद्देश्यों की पहली सीढ़ी है वह।

प्रेमचंद के इस स्वराज में किसी भी किस्म की सांप्रदायिकता और धार्मिक वितण्डावाद के लिए जगह नहीं है। हिन्दी नवजागरण के प्रभाव स्वरूप उन्नीसवीं सदी के आखिर में ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाने लगे थे, जिसमें बहुत ही विकृत किस्म का पुनरुत्थानवाद था। किशोरीलाल गोस्वामी इस दृष्टि से काफी चर्चित हुए। गोपाल राय बताते हैं कि ज्यादातर उपन्यास हिन्दू पुनरुत्थानवाद की दृष्टि से आपत्तिजनक थे। इतिहास में सभी हिन्दू चरित्रों को श्रेष्ठ साबित करना और सारी विकृतियों का जड़ मुसलमान चरित्रों को ठहराना इन उपन्यासों में सामान्य बात थी। इसके पश्चात जब प्रेमचंद वास्तविक ऐतिहासिक चेतना के साथ वर्तमान की परिस्थितियों को केन्द्र में लाते हैं तो इन उपन्यासों की धारा कमजोर पड़ जाती है। पुनरुत्थान का सांप्रदायिक रूप कमजोर पड़ता है। भारतीय अतीत की सामासिकता की समझदारी होने के कारण ही प्रेमचंद जो साहित्य रचते हैं, वह अलगाववाद और सांप्रदायिकता विरोधी है। लोगों ने समय-समय पर यह चिन्ता व्यक्त की है कि हिन्दी साहित्य से मुस्लिम चरित्र गायब होते जा रहे हैं। ज्यादातर मुस्लिम लेखकों ने ही मुस्लिम चरित्र दिए हैं। ऐसा क्यों हुआ? जबकि वर्षों पहले प्रेमचंद ने अपने समय में अपनी अस्मिता से इतर ढेर सारे प्रामाणिक चरित्र दिए और बहुसंख्यकवाद पर कड़ा प्रहार किया। हामिद, सकीना, सलीम, मिर्जा, इब्राहिम अली, जुम्मन शेख, गजनवी जैसे चरित्र हमारे जेहन में पैठ चुके हैं। यह संख्या परवर्ती दौर में जैसे बढ़नी चाहिए थी, वह नहीं हुआ।

कर्बला नाटक की भूमिका के इस हिस्से से इन बातों के संदर्भ में प्रेमचंद की दृष्टि का पता चलता है। वे लिखते हैं- 'कितने खेद और लज्जा की बात है कि कई शताब्दियों से मुसलमानों के साथ रहने पर भी अभी तक हम लोग प्रायः उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं। हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओं को मुस्लिम महापुरुषों के सच्चरित्रों का ज्ञान नहीं है।... किसी जाति के महान पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन उस जाति के साथ आत्मीयता के संबंध का प्रवर्तक होता है, इसमें सन्देह नहीं।' प्रेमचंद जातीय संस्कृति के वाहक उन रचनाकारों की परंपरा में जाकर खड़े हो जाते हैं जिन्होंने अपने से इतर धर्म या संस्कृति को गहराई से समझने की कोशिश की।

प्रेमचंद जब उपन्यास के क्षेत्र में आए तो ऐतिहासिक परिवर्तनों के माध्यम बने। उपन्यास की विषय-वस्तु बदली, नायक बदले, चरित्र बदले, वर्ग बदले और इन सबके साथ स्वाधीनता आन्दोलन की ध्वनियाँ उसमें प्रवाहित हो चलीं। इसके साथ ही प्रेमचंद जातिवाद की समस्या को साहित्यिक बहसों में लेकर आते हैं बल्कि समानान्तर ढंग से उसके मुखौटे को उतारते चलते हैं। 'सवा सेर गेंहूँ' महाजनी सभ्यता और जाति व्यवस्था के माध्यम से हाशिए के समाजों के दमित होने की ही गाथा है। धर्म की आड़ लेकर दलितों में इस भावना के बीज बोने के प्रयास किए गए कि अगर ब्राह्मण के 'बही में नाम रह गया तो सीधे नरक जाऊँगा।' इसी तरह गोदान में तमाम कर्मकाण्डों द्वारा मातादीन को फिर से ब्राह्मण बना दिया गया। यहाँ व्यंग्य में प्रेमचंद लिखते हैं कि गोबर और गोमूत्र से उसे पवित्र किया गया और अशुचिता के कीटाणु मार दिए गए। लेकिन प्रेमचंद दिखाते हैं कि इसके बाद भी समाज मातादीन से धर्म-कर्म के काम नहीं करवाता। सद्गति में दुखी की भी ऐसी ही अवस्था है। उसे भी बेटी के लिए शुभ मुहूर्त निकालना है। 'उसकी थोडी सी गलती से बेटी का संपूर्ण भविष्य खराब हो सकता है।' इन विकट स्थितियों के बीच वे ठाकुर का कुआँ में गंगी का सृजन करते हैं जिसका व्यवहार यह बताता है कि क्रांति की जरूरत और आकांक्षाएँ दोनों जन्म ले रही हैं। लेकिन यह सच्चाई है कि वह परिस्थितियाँ तब तक नहीं बनी थीं, वैसे जनआंदोलन खड़े नहीं हुए थे कि आमूल परिवर्तन का बिगुल फूँकना संभव हो सके। आज इस दिशा में जो चेतना परिपक्व हुई है, उसकी पृष्ठभूमि जिन लोगों ने मजबूत की उनमें प्रेमचंद का नाम हमेशा अग्रणी रहेगा। प्रेमचंद प्रमाण हैं कि हमेशा वह साहित्यकार ही दिशा दिखाएगा समाज को और चेतनशील बनाएगा, जो अपने दर्द के साथ दूसरों के दर्द को भी पूरी आत्मीयता से अभिव्यक्त करने का प्रयास करे। यही साहित्य का दायित्व है, इसी में उसकी विजय है।

एक और मुद्दा जो आज के भारत के संदर्भ में प्रेमचंद के माध्यम से समझा जा सकता है, वह है एक जनभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार कैसे होना चाहिए, उसका स्वरूप क्या होना चाहिए। कलम के इस जादूगर ने बहुत पहले ही कुछ गंभीर समाधान दिए थे लेकिन सत्ता के चरित्र और भाषा की राजनीति ने इसे संभव न होने दिया। राजभाषा के रूप में जिस हिन्दी का विकास किया गया उसमें संस्कृत ठूँस-ठूँस कर उसकी स्वाभाविकता

को नष्ट कर दिया गया। पहले उर्दू को अलग-थलग किया गया और अब हिन्दी प्रदेश में ही हिन्दी और अन्य जनपदीय बोलियों के बीच एक दरार कायम करके अपनी रोटी सेंकने का प्रयास किया जा रहा है। इसके साथ ही, अंग्रेजी के माध्यम से देश में दो हिन्दुस्तान बना दिया गया है। प्रेमचंद ने बहुत पहले ही इन स्थितियों के बारे में बहुत सारगर्भित विचार प्रस्तुत किए थे। अब परिस्थितियाँ इतनी विकृत हो चुकी हैं कि हम उनके विचारों को उसी रूप में तो लागू नहीं करा सकते लेकिन उसकी चेतना को आज भी अपना सकते हैं। अंग्रेजी के बारे में प्रेमचंद ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि 'अंग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है।... प्रभुता की इच्छा तो प्राणी मात्र में होती है। अंग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अंदर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाए, उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं।' प्रेमचंद की यह दृष्टि उस समय के हिन्दुस्तान के बारे में है जो आज के भारत पर वैसे ही लागू होती है। इसी तरह दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में बोलते हुए प्रेमचंद ने शुद्धतावादियों और हिन्दू सांप्रदायिकों की राष्ट्रभाषा संबंधी समझ से अलग अपनी राष्ट्रभाषा की परिभाषा दी, जो इस तरह है- 'इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ...शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनाई जा सकती है। उसका अंग-भंग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असंभव है, हास्यास्पद है।'

प्रेमचंद ऐसे सामाजिक चेतना संपन्न रचनाकार थे जिनकी सौन्दर्य-चेतना का विवेचन करके भी उनके हिन्दुस्तान को समझा जा सकता है। प्रेमचंद ने सौन्दर्य शब्द में और भी अर्थ-गांभीर्य भरने का कार्य किया। उन्होंने उन जगहों और भावों में सौन्दर्य को ढूँढा जहाँ हमारे साहित्य की नजर नहीं जा रही थी। इस नए सौन्दर्यबोध का संप्रेषण एक गँठे हुए शिल्प के बगैर असंभव था। सिर्फ दो पृष्ठ की कहानी है ठाकुर का कुआँ। इस दो पृष्ठ की कहानी में प्रेमचंद ने जाति-व्यवस्था की क्रूरता, अर्थतंत्र से उसकी साँठ-गाँठ, स्त्रियों का शोषण, अमीर घरों से होने पर भी स्त्रियों का शोषण, प्रकृति के तत्वों पर ताकतवर का कब्जा, प्रशासनिक और न्याय व्यवस्था का बिखराव, शिक्षा की महत्ता, विद्रोह की चेतना और इस विद्रोही चेतना के सामने खड़ा क्रूर यथार्थ-यह सब दिखा दिया है, अत्यंत सहज भाषा में शानदार प्रतीकों का उपयोग करते हुए। सिर्फ दो पेज में। ठाकुर का कुआँ में यह सब होने के बावजूद कोई कह दे कि कोई एक रेशा ढीला पड़ा है। तो उनके शिल्प को 'थर्ड रेट' कहने वालों को यह समझना चाहिए कि प्रेमचंद कहानियों के साथ अपना

सौन्दर्यशास्त्र भी खुद ही लिखते जाते हैं। और पाठक सहज जान जाता है उस सौन्दर्य को। फैज ने प्रेमचंद के शिल्प की इसी गहराई को ध्यान में रखकर लिखा था कि उन्हीं की उंगली पकड़कर हिन्दी उर्दू कथा साहित्य सही मायनों में डीक्लास हो पाया।

आखिर में, यह ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि इस देश की सत्तर प्रतिशत आबादी किसान परिवारों की है। हर वर्ष लगभग बारह हजार किसान आत्महत्या कर रहे हैं, देश की सेंसेशनवादी मीडिया को इससे सरोकार नहीं। ये नई परिस्थितियाँ क्या नई व्याख्याओं की माँग नहीं करतीं, नए विषय-वस्तु, नए चरित्रों की माँग नहीं करतीं। निश्चित करती हैं, लेकिन वह संभव तभी है जब चेतना के स्तर पर जीवन से वैसा ही लगाव हो जैसा कि प्रेमचंद ने अपने समय में किया था। आज के हिन्दुस्तान को समझने के लिए उनकी यही प्रासंगिकता है। आजादी के उफान के दौर में भी प्रेमचंद की चिन्ता के केन्द्र में हाशिए का समाज ही था। आज भी निश्चित रूप से वही रहता और उनका लेखन ऐसा होता जिसे सत्ताएँ बर्दाश्त नहीं कर पातीं। उनका देश सबका देश था। एक बहुसंख्यक धर्म का नहीं। हर तरह की सांप्रदायिकता के वे कड़े विरोधी थे। उनका देश तर्क से चलने वाला देश था। अलगाववादी मानसिकता की भावना से इतर प्रेमचंद एक कौम के हिमायती थे। ऐसे ही साहित्य में उनका यकीन था जो इस हिन्दुस्तान का रास्ता तैयार करे। उन्होंने लिखा है कि जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जगे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जाग्रत हो- जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

संदर्भ :

1. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2010, पृ.79
2. वही, पृ. 80
3. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, रेखा अवस्थी (संपादक), प्रेमचंदः विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, लेख- गोपाल प्रधान- प्रेमचंदः विवादों के घेरे में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ.565
4. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, भारतीय ग्रंथ निकेतन, नई दिल्ली, 1992, पृ.98
5. वही, पृ.102
6. वही, पृ.11

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
असम विश्वविद्यालय, दीफू परिसर, दीफू, असम

आदिवासियों के मानवाधिकारों एंव संवैधानिक अधिकारों की विवेचना

डॉ. सुधीर कुमार चतुर्वेदी
मनोज यादव (शोधार्थी)

सम्पूर्ण विश्व अनेक प्रकार की विशेषताओं एवं विविधताओं को धारण करता है जिसमें भिन्न-भिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय एवं अलग-अलग भाषाओं को बोलने वाले लोग निवास करते हैं। इन्हीं विविध लोगों में से एक समूह आदिवासी समुदाय का है जो कि विश्व में सबसे अधिक शोषित एवं अभावी समुदाय है, जिनके मानवाधिकार का उल्लंघन निरन्तर होता रहता है। यदि आदिवासियों को प्राप्त मानवाधिकार का अध्ययन किया जाय तो यह बात स्पष्ट होती है कि अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर उनके संरक्षण एवं विकास के लिए बहुत प्रयास किये गये हैं। जैसे कि मानवाधिकार की सार्वभौमिक उद्घोषणा पत्र 1948, सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966, आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966, जातीय भेदभाव की समाप्ति पर अभिसमय 1966, महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव की समाप्ति पर अभिसमय 1979 तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन अभिसमय 1989 संख्या 169 तथा राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय संविधान में अनु. 14, 15(4), 16, 16(4क), 17, 19, 21, 23, 46, 225, 243घ, 244, 275, 330, 332, 335, 338, 339, 342, 371 एवं पाँचवीं तथा छठीं अनुसूची इत्यादि उपरोक्त सभी राष्ट्रीय संवैधानिक एवं सांविधिक संरक्षणों के बावजूद आज भी आदिवासी समुदाय के मानवाधिकारों का हनन बदस्तूर जारी है। आदिवासियों के मानवाधिकार के उल्लंघन के सन्दर्भ में मानवाधिकार आयोग के पूर्व अध्यक्ष के.जी. बालकृष्णन ने भी कहा है कि तमाम संवैधानिक एवं सांविधिक संरक्षण के बावजूद आदिवासियों के प्रति असमानता अत्याचार एवं उत्पीड़न की घटनाएँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं।[1]

आदिवासी अर्थ एवं परिभाषा :

सामान्यतः आदिवासी शब्द दो शब्दों 'आदि' और 'वासी' से मिलकर बना है। आदि का शब्दिक अर्थ प्रारम्भ या शुरू होता है जबकि 'वासी' का अर्थ निवास करने वाला। अर्थात आदिवासी वह है जो प्रारम्भ से ही निवास करता हो और इसका शाब्दिक अर्थ मूल निवासी है[2] तथा आदिवासी शब्द अंग्रेजी के एबोरिजिनल शब्द का हिन्दी अनुवाद है। आदिवासी शब्द का प्रयोग किसी भौगोलिक क्षेत्र के उन निवासियों के लिए किया जाता है जिनका उस भौगोलिक क्षेत्र से प्राचीन सम्बन्ध हो परन्तु आदिवासी शब्द उनके लिए भी प्रयोग होता है जो भिन्न-भिन्न क्षेत्र से आकर किसी विशिष्ट भाग में प्राचीन समय से निवास करते हैं।[3]

एन.डी. मजूमदार के अनुसार- 'आदिवासी एक जनजाति परिवारों अथवा परिवार

समूहों का एक ऐसा समुदाय है जिसका एक समान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भूभाग में रहते हैं, एक समान्य भाषा बोलते हैं तथा विवाह व्यवसाय एवं उद्योग के विषय में कुछ वर्जनों-वर्जनाओं का पालन करते हैं और उन्होंने परस्पर आदान-प्रदान एवं कर्तव्यों की एक अच्छी व्यवस्था विकसित कर ली है।[4]

विधि शास्त्री वेरियर एल्विन के अनुसार- आदिवासी भारत वर्ष की वास्तविक स्वदेशी उपज हैं, जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ये वे प्राचीन लोग हैं जिनके नैतिक अधिकार एवं दावे हजारों वर्ष पुराने हैं। एल्विन की इस अवधारणा को संविधान सभा में भी रखा गया था तथा उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों को राष्ट्रीय उपवन घोषित करने पर जोर दिया।[5]

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आदिवासियों को 'इन्डिजिनियस पीपुल्स'[7] नाम देकर परिभाषित किया गया है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत आदिवासी की परिभाषा :

भारत में आदिवासी समुदाय को अनुसूचित जनजाति के प्रचलित नाम से जानते हैं, जिसे संक्षिप्त में एस.टी. कहा जाता है तथा उनका विस्तृत वर्णन अनुच्छेद 366(25) में किया गया है।

अनुच्छेद 366(25) के अनुसार- आदिवासी (अनुसूचित जनजाति) का उल्लेख उस समुदाय के रूप में किया गया है जो संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार अनुसूचित है। इस अनुच्छेद में यह कहा गया है कि केवल वे समुदाय जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा प्रारम्भिक लोक अधिसूचना के जरिये अथवा संसद के अधिनियम में अनुवर्ती संशोधन के जरिये इस प्रकार घोषित किया गया है, को ही अनुसूचित जनजाति माना जायेगा।[8]

कैलाश एण्ड अदर्स बनाम महाराष्ट्र राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि आदिवासी समुदाय भारत के मूल निवासियों के वंशज हैं लेकिन वर्तमान में उनकी आबादी केवल 8 प्रतिशत बची है।

आदिवासी समुदाय के पहचान का मानक : चंदा समिति 1960 एवं लोकुर समिति के अनुसार आदिवासी समुदाय में क्रमशः निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए-

(1) भौगोलिक एकाकीपन (2) विशिष्ट संस्कृति (3) संकुचित स्वभाव (4) पिछड़ापन (5) आदिम जाति के लक्षण इत्यादि।

आदिवासी समुदाय की विश्व एवं भारत में जनगणनात्मक स्थिति :

विश्व के 195 देशों में से 90 देशों में 5000 आदिवासी समुदाय हैं, जिनकी जनसंख्या लगभग 37 करोड़ है। उनकी अपनी 7000 भाषाएँ हैं तथा ये विश्व की कुल आबादी का 5 प्रतिशत हैं परन्तु वैश्विक गरीबी में 15 प्रतिशत का योगदान करते हैं। यदि भारत के सन्दर्भ में आदिवासियों की स्थिति देखेँ तो 2011 की भारतीय जनगणना के अनुसार इस समुदाय की जनसंख्या 10,42,81,034 अथवा कुल जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत है और यह समुदाय भौगोलिक रूप से 15 प्रतिशत क्षेत्र में निवास करता

है, जिसमें आदिवासी समूह के रूप में अधिसूचित विशिष्ट समूहों की संख्या 705 है, जिसमें 75 आदिवासी समुदाय ऐसे हैं जिन्हें प्रिमिटिव ट्राइबल ग्रुप के नाम से जाना जाता है। आदिवासी समुदाय में लिंगानुपात सामान्य जनसंख्या के लिंगानुपात 943 प्रति हजार की तुलना में 990 प्रति हजार है।[9] अर्थात् आदिवासी समुदाय में बेटी की अहमियत बेटों से कम नहीं होती है।

आदिवासियों के मानव-अधिकार :

नेल्सन मण्डेला -'मानव को उनके मानव अधिकारों से वंचित करना उनकी मानवता को चुनौती देना है।'

हेराल्ड लास्की -'मानव अधिकार के बिना सामान्यतः कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता।'

मानवाधिकार ऐसा आधारभूत अधिकार है जिसे प्रायः छीना नहीं जा सकता है तथा इस अधिकार को जन्म से प्राप्त अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त है चाहे वह सामान्य जन हो या आदिम समुदाय के लोग हों क्योंकि मानव अधिकारों को प्राप्त करने में धर्म, मूल, जाति, भाषा इत्यादि कोई भी अवरोध पैदा नहीं करते हैं परन्तु वर्तमान समय में आदिवासियों के मानव अधिकारों का निरन्तर उल्लंघन हो रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में आदिवासियों को प्राप्त मानव-अधिकार-

किसी भी व्यक्ति के मानव-अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संरक्षित करने के लिए निम्न अभिसमय का निर्माण किया गया है। इन अभिसमयों के माध्यम से आदिवासी समुदाय के मानव अधिकार का भी संरक्षण होता है-

प्रथम- मानव अधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र 1948

द्वितीय- अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार प्रसंविदा

(1) सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966

(2) आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966

तृतीय- देशी लोगों के अधिकारों पर प्रारूप घोषणा 1994

चतुर्थ- सभी प्रकार के जातीय भेदभाव की समाप्ति अभिसमय 1966

पंचम- महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव समाप्ति अभिसमय 1979

षष्टम- अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन अभिसमय 1989 संख्या 169

सप्तम- देशज लोग ड्राफ्ट उद्घोषणा 2006 इत्यादि।

मानव-अधिकारों की सार्वभौमिक उद्घोषणा पत्र 1948 के अन्तर्गत आदिवासियों को प्राप्त मानव- अधिकार-

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा पत्र 1948 प्रथम ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेज है जिसमें आदिवासियों को भी जन्म से ही समान मानव अधिकार प्राप्त हैं तथा बिना

किसी भेदभाव के समाज में उनको समानता का स्तर संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रदान किया गया है।

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक उद्घोषणा पत्र के अन्तर्गत सिविल एंव राजनैतिक अधिकार-

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक उद्घोषणा के पश्चात मानव-अधिकार के संरक्षण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 एवं आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 को अंगीकार किया। उपरोक्त प्रसंविदा आदिवासी समुदाय के मानव अधिकार संरक्षण के लिए उतना ही जरूरी है, जितना कि अन्य सामान्य जन के लिए आवश्यक है।

ये अधिकार क्रमशः निम्नवत हैं :

(1) अनुच्छेद 1 के अनुसार- सभी मानव जन्म से ही गरिमा एवं अधिकार की दृष्टि से स्वतंत्र एवं समान हैं। अतः अनुच्छेद 1 आदिवासियों के लिए भी मानव-अधिकार का मार्ग प्रशस्त करता है।

(2) अनुच्छेद 2 के अनुसार- प्रत्येक व्यक्ति इस उद्घोषणा में वर्णित सभी अधिकार एवं स्वतंत्रताओं का हकदार है। इसमें मूलवंश, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव, सम्पत्ति एवं अन्य प्रास्थिति के आधार पर कोई विभेद नहीं किया जायेगा।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को जीने की स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता और व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार है। (अनुच्छेद 3)

(4) कोई भी व्यक्ति जिसमें आदिवासी भी शामिल हैं, गुलामी एवं दासता के अधीन नहीं रखे जायेंगे। (अनुच्छेद 4)

(5) किसी को भी शारीरिक यातना नहीं दी जायेगी न ही निर्दयता एवं अपमान जनक व्यवहार किया जायेगा। (अनुच्छेद 5)

(6) अनुच्छेद 6 एवं 7 के अनुसार क्रमशः कानून की नजर में व्यक्ति के रूप में मान्यता एवं समानता का अधिकार।

(7) किसी व्यक्ति को मनमाने ढंग से गिरफ्तार नहीं किया जायेगा न ही नजरबन्द किया जायेगा। (अनुच्छेद 9)

(8) किसी को भी मनमाने ढ़ंग से राष्ट्र की नागरिकता से वंचित नहीं किया जायेगा। (अनुच्छेद15)

(9) सभी बालिग स्त्रियों एवं पुरुषों को विवाह करने का पूर्ण एवं समान अधिकार प्राप्त होगा (अनुच्छेद 16)

(10) आदिवासियों को भी सम्पत्ति रखने का अधिकार है। उन्हें मनमाने ढंग से सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा (अनुच्छेद 17)

(11) प्रत्येक व्यक्ति को कोई भी पंथ एवं धर्म को मानने की स्वतंत्रता है तथा उन्हें

उसे प्रकट करने एवं बदले की भी स्वतंत्रता है (अनुच्छेद 18)

(12) प्रत्येक व्यक्ति को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है तथा शांतिपूर्ण सभा करने एवं समिति बनाने की स्वतंत्रता का अधिकार है। (अनुच्छेद 19, 20)

मानव-अधिकारों की सार्वभौमिक उद्घोषणा पत्र के अन्तर्गत आदिवासियों के आर्थिक एंव सामाजिक अधिकार :

(1) आदिवासियों के सामाजिक सुरक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 22)

(2) प्रत्येक व्यक्ति कार्य करने का अधिकार रखता है एवं स्वतंत्र रोजगार चुनने का अधिकार रखता है। (अनुच्छेद 23)

(3) अवकाश, काम एवं विश्राम का अधिकार (अनुच्छेद 24)

(4) अपने एवं अपने परिवार के स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त जीवन स्तर का अधिकार (अनुच्छेद 25)

(5)) शिक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 26)

सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 के अधीन आदिवासियों को प्राप्त मानव अधिकार

(1) शिक्षा स्वतंत्रता एवं दैहिक सुरक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 6)

(2) दासता एवं अधिसेविता के विरूद्ध अधिकार (अनुच्छेद 8)

(3) क्रूर अमानवीय एवं अपमान जनक व्यवहार के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 7)

(4) स्वतंत्रता एवं सुरक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 9)

(5) मनमाने ढंग से गिरफ्तारी के विरूद्ध अधिकार (अनुच्छेद 10)

(6) अपने निवास स्थान को चुनने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 12)

(7) निष्पक्ष विचरण का अधिकार (अनुच्छेद 14)

(8) एकान्तता, घर, परिवार का अधिकार (अनुच्छेद 17)

(9) धर्म एवं अन्तःकरण की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 18)

(10) विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19)

(11) शांतिपूर्ण सम्मेलन एवं संगम की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 21, 22)

(12) विवाह करने और कुटुम्ब स्थापित करने का अधिकार, मत देने का अधिकार (अनुच्छेद 24-25)

आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 के अधीन आदिवासियों को प्राप्त मानव अधिकार

(1) कार्य करने का अधिकार (अनुच्छेद 6)

(2) संघ निर्मित करने का अधिकार (अनुच्छेद 8)

(3) सामाजिक सुरक्षा करने का अधिकार (अनुच्छेद 9)

(4) विवाह एवं कुटुम्ब से सम्बन्धित अधिकार (अनुच्छेद 10)

(5) भोजन, कपड़ा, निवास तथा भूख से संरक्षण (अनुच्छेद 11)

(6) शिक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 13)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत आदिवासियों को प्राप्त मानव-अधिकार

भारतीय संविधान में समता, स्वतंत्रता, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय की अवधारणा समाहित है इसी समता, स्वतंत्रता एवं न्याय को प्रदान करने के लिए संविधान में मूलाधिकार एवं नीति निर्देशक तत्वों को उपबंधित किया गया है। इन अधिकारों के माध्यम से ही अछूत पिछड़े एवं अलग-थलग पड़े आदिवासी समुदाय को न्याय प्रदान किया जाता है तथा आदिवासियों एवं पिछड़े वर्गों की सामाजिक सहभागिता बढ़ाने के लिए लोकसभा, विधान सभा, शिक्षण संस्थान एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण का संवैधानिक प्रावधान किया गया है। सामान्यतः आदिवासियों को प्राप्त मानव अधिकार या मूलाधिकार वही हैं जो अन्य सामान्य नागरिक को प्राप्त हैं। अतएव निम्न मूलाधिकार आदिवासी समुदाय को प्राप्त हैं-

(1) भारत में किसी भी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता एवं विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नही किया जायेगा (अनुच्छेद 14)।

(2) राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध जिसमें आदिवासी भी शामिल है केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा (अनुच्छेद15)। वही अनुच्छेद 15 (4) के अन्तर्गत आदिवासियों एवं पिछड़े वर्गों के विकास के लिए विशेष व्यवस्था का प्रावधान किया गया है।

(3) अनुच्छेद 16 में दी गयी अवसर की समता के बावजूद अनुच्छेद 16 (4) में राज्य पिछडे.एवं आदिवासियों (कमजोर तबकों) के लिए नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था को लागू कर सकता है।

(4) अनुच्छेद 17 के अन्तर्गत अस्पृश्यता का उन्मूलन कर दिया गया है तथा इसे अमानवीय अपराध घोषित कर दिया गया है।

(5) अनुच्छेद 19 के अधीन नागरिकों को प्राप्त मूलाधिकार क्रमशः वाक एवं अभिव्यक्ति, शांतिपूर्ण सम्मेलन, संगम एवं संघ बनाने तथा आने-जाने की स्वतंत्रता एवं कोई भी कारोबार करने की स्वतंत्रता निहित है।

(6) प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार यह अधिकार किसी भी व्यक्ति को प्राप्त अधिकार है जिसके अन्तर्गत आदिवासी समुदाय भी शामिल है (अनुच्छेद 21)।

मधु किश्वर बनाम बिहार राज्य[10]

इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि बिहार राज्य की आदिवासी महिलाओं को उत्तराधिकार के अधिकार से वंचित करना अनुच्छेद 21 के अधीन प्राप्त जीविकोपार्जन के अधिकार का उल्लंघन है।

(7) बेगार प्रथा एवं बालश्रम का शिकार आदिवासी ही अधिक होते हैं। इसलिए

अनुच्छेद 23 द्वारा इस कुप्रथा को प्रतिबंधित कर दिया गया है।

(8) अनुच्छेद 29 आदिवासी समुदाय को अपनी भाषा, बोली तथा संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार प्रदान करता है।

आदिवासियों को प्राप्त अन्य संवैधानिक अधिकार

(1) अनुच्छेद 46 आदिवासियों के शैक्षणिक एवं आर्थिक हितों की सुरक्षा हेतु राज्य से विशेष व्यवस्था का आग्रह करता है।

(2) अनुच्छेद 164 बिहार, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ तथा मध्य प्रदेश में आदिवासियों के हितों के संरक्षण के लिए एक जनजातीय कल्याण मंत्री की नियुक्ति का प्रावधान करता है।

(3) अनुच्छेद 330,332,334 के द्वारा संसद तथा राज्य विधान मण्डल में एस. सी. एवं एस.टी. के लिए स्थान आरक्षित किये गये है।

(4) अनुच्छेद 335 द्वारा एस.सी., एस.टी. के लिए शासकीय सेवा में 7.5 प्रतिशत स्थान सुरक्षित है।

(5) अनुच्छेद 342 के माध्यम से राष्ट्रपति जनजातियों को अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्रदान करते हैं।

(6) भारतीय संविधान में पाँचवी एवं छठीं अनुसूची का प्रावधान किया गया है जिससे आदिवासियों के लिए भिन्न प्रशासनिक व्यवस्था का प्रावधान किया जा सके।

आदिवासियों के मानव अधिकार के संरक्षण में न्यायपालिका की भूमिका

वर्तमान समय में आदिवासी समुदाय के मानव अधिकार को संरक्षित करने में न्यायपालिका की बहुत बड़ी भूमिका रही है तथा न्यायालय द्वारा न केवल उनके अधिकारों को संरक्षित किया गया बल्कि केन्द्र एवं राज्य सरकार को दिशा-निर्देश भी जारी किया गया जिससे आदिवासियों के मानव अधिकारों का संरक्षण हो सके।

समथा बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य व अन्य[11]

इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय के 3 जजों के पीठ ने आदिवासियों के मानव अधिकार को संरक्षित करते हुए कहा कि आदिवासियों को अपने भूमि से सम्बन्ध रखने का अधिकार है जो कि उनकी बहुमूल्य निधि है तथा साथ ही साथ यह भी कहा कि आदिवासी समुदाय का सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संरक्षण जरूरी है।

एक अन्य मामले में विदेशी पर्यटकों द्वारा अण्डमान निकोबार द्वीप पर रहने वाली जारवा आदिवासी महिलओं को भोजन का लालच देकर अर्द्धनग्न नृत्य कराया गया तथा विडियो इण्टरनेट पर वायरल किया गया जिससे उसके मानव अधिकार का हनन हुआ इस सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय ने 2002 में टी.एन. गोदावर्मन थिरूमलपाड़ बनाम भारत संघ 24 के मामले में जारवा जनजाति की सुरक्षा के लिए जारवा आदिवासी इलाके में किसी को भी जाने से प्रतिबंधित कर दिया।

अखिल भारतीय उपभोक्ता कांग्रेस बनाम मध्य प्रदेश राज्य[12] के मामले में यह

अभिनिर्धारित किया गया कि किसी व्यक्ति को अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति की कोटि में आने वाली जाति के नाम से कहना या रेस्टोरेंट में अलग बर्तन देना उनके सम्मान को मृत्यु देने के बराबर है।

सुझाव :

देश का समावेशी विकास आदिवासियों के मानव अधिकार को संरक्षित किये बिना नहीं हो सकता और आदिवासी समुदाय के मानव अधिकार का संरक्षण तब होगा जब आदिवासी समुदाय अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होंगे। आदिवासी क्षेत्रों की दुर्गमता एवं भौगोलिक स्थितियों को देखते हुए शासन, प्रशासन का यह कर्तव्य बनता है कि वे आदिवासी समुदाय को शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करें क्योंकि एक शिक्षित व्यक्ति ही अपने अधिकारों के महत्व को समझ सकता है तथा साथ ही साथ आदिवासी समुदाय को शासन, प्रशासन एवं विकास कार्यों में भागीदारी को सुनिश्चित किया जाय जिससे कि आदिवासी समुदाय की समस्याओं का समुचित निराकरण हो सके।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि संवैधानिक प्रावधानों, सांविधिक प्रावधानों और प्रशासनिक उपायों के बावजूद आदिवासियों के मानव अधिकार का संरक्षण समुचित रूप से नहीं हो पा रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण मानव-अधिकार को संरक्षित करने वाले प्रावधानों का समुचित रूप से क्रियान्वयन का न होना है। इनके अधिकारों का संरक्षण एवं उसका विकास तब तक सम्भव नहीं है, जब तक सरकार एवं प्रभावशाली वर्ग का ध्यान उनकी तरफ नहीं जाता है क्योंकि जब तक उनकी आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं को समझ कर एवं उनके प्रति होने वाली हिंसा के मूल कारण को समझ कर उनका समुचित निवारण नहीं किया जाता तब तक आदिवासियों के मानव अधिकार का संरक्षण नहीं हो सकता है।

सन्दर्भ :

1. डा. एस.पी. मीणा जनजातियों की समस्या एवं मानवाधिकार, मानव अधिकार नई दिशायें वार्षिक अंक - 11, 2014
2. -https://hi.m.wikipedia.org/wiki/ आदिवासी भारतीय
3. -https://www.aphalohara.com/2021/02/Adivasi-ka-arth-kya-hota-hai-html?n=1
4. मानवशास्त्रः रामनाथ शर्मा व राजेन्द्र कुमार शर्मा, एटलांटिक पब्लिकेशन एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
5. D.N. Majumdar, Races and Cultural of India, Asia Publishing house, Bombay (1956) P.35
6. Asia - Pacific Journal of Social Science, Vol. 1 (1) Jan-June 2009 PP-118
7. अग्रवाल डा. एच. ओ., अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं मानव अधिकार, सेंट्रल ला

पब्लिकेशन, दरभंगा कालोनी इलाहाबाद
8. उपाध्याय डा. जय जय राम, भारत का संविधान (वेयर एक्ट) सेंट्रल लॉ एजेंसी
9. AIR 1996, 5, SSC 125
10. AIR 1997, SC, 3297
11. AIR (1997) 2, SCC 267
12. AIR 2011, SC, 1834

: असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
विधि संकाय,
हेमवती नन्दन बहुगुणा गढवाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय
एस.आर.टी. कैंपस, टिहरी, उत्तराखण्ड

: शोध छात्र,
विधि संकाय,
हेमवती नन्दन बहुगुणा गढवाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय
एस.आर.टी. कैंपस, टिहरी, उत्तराखण्ड

उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य में नारी के बदलते जीवन-मूल्य

पिंकी खटनाल

भारतीय साहित्य आदर्श मूल्यों पर टिका है। साहित्यकार न चाहते हुए भी परंपरागत मूल्यों से विलग नहीं हो सकता। वर्तमान समय में उषा प्रियंवदा का साहित्य यथार्थ के धरातल पर मील का पत्थर साबित होता है। आपने अपनी रचनाओं में सत्य की अभिव्यक्ति बहुत ही सहज ढंग से की है। आपने बड़ी ही बेबाकी से समाज में व्याप्त कुरीतियों और कुप्रथाओं का विरोध प्रकट किया है। आपकी कहानियों में आधुनिक जीवन की छटपटाहट, ऊब, संत्रास, एकाकीपन आदि मूल्यों का समावेश तो हुआ ही है, आपने पाठकों की संवेदना के साथ तादात्म्य कर बनते-बिगड़ते रिश्तों से भी अवगत कराया। संसार में व्याप्त समस्याओं पर आपकी रचनाओं ने पाठकों को सोचने के लिए विवश कर दिया है। आपने जीवन की समष्टि को अपनी कहानियों में उकेरने का भरसक प्रयत्न किया है। रघुवीर सहाय ने उषा जी की कहानियों के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि 'जब मैं कविता पढ़कर उठूँ तो सन्नाटा छा जाए। उषा जी की कहानियों के बाबत ही कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है।'[1]

पाश्चात्य सभ्यता के मूल्यों का प्रभाव :

आधुनिक कथा साहित्य में चित्रित नारी-जीवन में महत्वपूर्ण बदलाव दिखाई देते हैं। पाश्चात्य सभ्यता का आकर्षण और उनकी संस्कृति का प्रभाव भारतीय जन-मानस पर बहुत गहरे तक पड़ा है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र- पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वेशभूषा, भाषा आदि -पश्चिम से प्रभावित होता रहा है। वही परिवर्तित प्रभाव साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता हैं। 'उषा प्रियंवदा का उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' अति आधुनिक पढ़ी-लिखी स्त्री की कथा है, किंतु उपन्यास की नायिका स्वतंत्र निर्णय लेने की शक्ति के बावजूद अजीब बेबसी और सामाजिक घिराव में अपने को बंद पाती है।'[2] वर्तमान में संयुक्त परिवार, एकल परिवार में परिवर्तित हो गए हैं। वहीं वैवाहिक रिश्ते में प्रेम विवाह और तलाक जैसी कई विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। आधुनिकता की चकाचौंध में भारतीय नारी स्वतंत्र जीवन जीने की कामना और स्वावलंबी बनने की चाह में घर से निकल कर पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलना चाहती है। 'हाँ अब आठवें दशक में आकर अवश्य आधुनिक नारी ने अपने वैयक्तिक और व्यक्तिगत अधिकारों को खुले रूप में समझना आरंभ कर दिया है। भारतीय प्रबुद्ध समाज में यह नारी अपनी परिस्थितियों के विरुद्ध सायास विद्रोह कर अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता बनाए रखने की बात सोचने लगी है और इसे सार्थक रूप देने के उपाय साधन भी खोजने लगी है।'[3] आधुनिकता में नारी अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग हुई है। उसके शैक्षणिक मूल्यों में भी बदलाव आया है। नारी वर्तमान में केवल भावुकता से ही नहीं, बौद्धिकता से भी विचार करती है। उषा जी

ने नारी के इन्हीं वैचारिक बदलावों को कहानियों में स्पष्ट किया हैं। 'पचपन खंभे लाल दीवारें' उपन्यास के लिए रामदरश मिश्र जी ने कहा है कि-'उषा प्रियंवदा ने इसमें अपने अनुभवों के आधार पर आज की नारी की सामाजिक नियति और मानसिकता को बड़ी ही गहराई से उभारा है।'[4]

भारतीय व पाश्चात्य मिश्रित पात्रों के मूल्य :

उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य में भारतीय एवं पाश्चात्य मिश्रित पात्र देखने को मिलते हैं। कहीं तो पात्र पूर्णतः भारतीय हैं। वे पाश्चात्य रंग में रँगना तो चाहते हैं, परंतु भारत को भुला भी नहीं पाते हैं। कुछ पात्र ऐसे हैं जो पूर्णतः पाश्चात्य संस्कृति को अपना चुके हैं परंतु उनको एकाकीपन, छटपटाहट, हीन भावना और ऊब आदि ने घेर रखा है। पूर्ण विदेशी न बन पाने का दुःख भी उनको घेरे रहता है। यही दुःख 'रुकोगी नहीं राधिका' उपन्यास की नायिका राधिका के माध्यम से चरितार्थ होता है। 'राधिका में एक भारतीय नारी की दुविधा को आधार बनाया गया है जो अपनी दिशा तय नहीं कर पा रही है। वह भारत से अमेरिका जाती है और उसे एक सांस्कृतिक झटका लगता है। वह विदेश की जिंदगी की आदी होकर अपने देश लौटती है तो उसे दूसरा झटका लगता है, वह अपने को तनाव की स्थिति में पाती है।'[5]

नारी के बदलते मूल्य :

वर्तमान नारी पति को परमेश्वर न मानकर साथी, दोस्त, हमसफर के रूप में देखती है जो उसके साथ जीवन भर सुख पूर्वक जीवन यापन करे, उसके सुख-दुख का साथी बने। उषा जी ने नारी को न सीता माना, न ही अहिल्या, जो पत्थर बनकर सब कुछ सहती रहे। नारी एक इंसान है और उसे भी स्वतंत्रता से जीने का अधिकार है। वर्तमान नारी अपने पति से सुख आत्मिक भाव, प्रेम, विश्वास व समर्पण चाहती है। वैवाहिक सुख और सभी आकांक्षाओं के पूर्ण नहीं होने पर वह व्याकुल हो जाती है। वह चुप रहना, अपनी नियति नहीं मानती, अपितु अपने स्वाभिमान और वर्चस्व की रक्षा हेतु उचित कदम उठाकर साहस का परिचय देती है। उषा जी की कहानियों में कहीं-कहीं तो नारी की स्वतंत्रता में विवाह एक बंधन के रूप में भी चित्रित किया गया है। विवाह-पूर्व यौन-संबंधों का चित्रण भी संबंध' तथा 'कोई नहीं' जैसी उनकी अनेक कहानियों में दृष्टिगोचर होता है।

'संबंध' कहानी में सर्जन की पत्नी व तीन बच्चों की गृहस्थी होती है, परंतु वह श्यामला के प्रेम के वशीभूत अपनी गृहस्थी को छोड़कर श्यामला से विवाह करना चाहता है। श्यामला सर्जन से प्रेम तो करती है, परंतु वैवाहिक बंधन से स्वयं को मुक्त रखकर स्वतंत्र जीवन जीने के पक्ष में होती है। 'सर्जन ने कहा था- श्यामला, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं घर-बार, बाल-बच्चे सब तुम्हारे लिए छोड़ सकता हूँ। श्यामला ने हथेली से उसका मुँह बंद कर दिया। बहुत देर बाद कहा- क्या हम ऐसे ही नहीं रह सकते, प्रेमी, मित्र, बंधु! क्या वह सब छोड़ना जरूरी है?'[6]

आर्थिक स्वतंत्रता के कारण बदलते मूल्य :

इसी प्रकार 'कोई नहीं' कहानी में भी नमिता विवाह-पूर्व संबंध अक्षय से बनाती है। अक्षय जब दूसरी स्त्री से विवाह करके विदेश चला जाता है, तब भी वह अक्षय को भुला नहीं पाती। पुनः अक्षय से सात साल बाद मिलने पर उसका प्रेम व उसकी काम-भावना उत्पन्न हो जाती है। 'सात साल में जो कुछ भुला गया है वह एक शाम में कैसे याद किया जा सकता है। मैं दोनों हाथों से साड़ी की सिलवटें सीधी करती हूँ और फिर हम दोनों भटकटैया के पेड़ों से बचते हुए निकल आते हैं।'[7]

'पुनरावृत्ति' कहानी में भी सैली आधुनिक विचारधारा से ओतप्रोत नारी है, जो शादीशुदा चिरन्तन से शारीरिक संबंध बनाती है, जबकि वह भलीभाँति परिचित है कि मेरा और चिरन्तन का विवाह नहीं हो सकता। फिर भी वह अपनी काम भावनाओं की पूर्ति करती है। उषा जी ने अपनी अनेक कहानियों में विवाह-पूर्व व पश्चात यौन-संबंधों को महत्व दिया है तथा विवाह की असंतुष्टि से विवाह-विच्छेद तथा अंतजार्तीय विवाह की विविध स्थितियों को अपनी लेखनी से उकेरा है। सैली रूढ़िवादी परिपाटी से बंध कर नहीं रहना चाहती- 'लिफ्ट से ऊपर जाते हुए चिरन्तन को लगा कि जैसे उनके जीवन में इसी क्षण की कमी थी, जिसे हड़प्पा से मिस्र और यूनान, तसमानिया से कुस्ततुनतुनिया सभ्यताओं के अवशेषों के बीच भटकते हुए उन्हें सिर्फ सैली की तलाश थी। वह हर चेहरे में सैली को ढूंढते रहे थे।'[8]

आधुनिक नारी घर को ही नहीं संभालती बल्कि नौकरी करके अपना जीवन भी स्वावलंबी बनाने का प्रयत्न करती है। अधिकांश युवतियाँ तो विवाह को महत्व न देकर आत्मनिर्भरता व स्वावलंबी जीवन को महत्व देती हैं। 'कौमुदी उन आधुनिक युवतियों में थी, जो पुरुषों से शत-प्रतिशत समानता का दावा करती है। यूनिवर्सिटी से एम. ए. कर और एक प्रभावशाली संबंधी के द्वारा पाँच सौ रुपये महीने की सरकारी नौकरी पा, अब वह माता-पिता से दूर अकेली रहती थी।'[9] कार्यशील नौकरीपेशा महिलाओं को अपनी उच्च शिक्षा और नौकरी की चाह में पता ही नहीं चलता कि उनकी विवाह की आयु बीत चुकी है। परिणामस्वरूप योग्यतानुसार और इच्छानुसार पति का चयन न कर पाने की परेशानी का उन्हें सामना करना पड़ता है। ऐसी महिलाओं को समाज में आर्थिक स्वतंत्रता तथा स्वावलंबी जीवन तो मिलता है किन्तु साथ ही उन्हें घुटन, छटपटाहट, ऊब और एकाकीपन आदि भी मिलता है। 'छुट्टी का दिन' कहानी की नायिका माया को उसका एकाकी जीवन असहनीय बोझ सा-लगता है- 'माया ने गीत की एक कड़ी गुनगुनाने का प्रयत्न किया पर आवाज बेसुरी हो गई। उसकी आँखें बेसिन के ऊपर लगे शीशे में अपना प्रतिबिंब देख रही थीं, सूना मुँह, सूनी आँखें, एक क्षण को उसे लगा कि यह प्रतिबिंब किसी और का है। वह स्वयं कैसे इतनी थकी, इतनी टूटी-सी हो सकती है। शीशे के अंदर से वह अनजान-सी युवती, माया को, जैसे पहचानने की कोशिश कर रही हो, ऐसे देखती रही, जब तक कि माया ने भीगे, अहसाय, विवश हाथों से अपने

बाल छूते हुए दृष्टि हटा न ली।'[10]

उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य की नारियों ने अपने जीवन में अनेकों संघर्षों का सामना कर व्यक्तित्व को एक विशिष्टता दी है। एक स्त्री घर-परिवार में अनेकों तनावों को सहनकर जीवन यापन करती है तो दूसरी तरफ कार्यशील महिला भी घर और दफ्तर दोनों जगह अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करती नजर आती हैं। नारी के स्वावलंबी बनने व उसकी आर्थिक स्वतंत्रता के पीछे मुख्य उद्देश्य स्वयं के मान-सम्मान की रक्षा करते सुख पूर्वक अपना जीवन यापन करना है पर-आश्रित रहकर जीवन निर्वाह संभव नहीं। उसे परिस्थितियों से संघर्ष कर अपनी राह स्वयं बनानी पड़ती है। घर की चारदीवारी और वक्त के थपेड़ों से आत्मनिर्भर नहीं बना जा सकता।

नारी के आदर्शात्मक मूल्य- उषा जी की कहानियों में नारी का आदर्श रूप दिखाया गया है। उनकी कहानी 'नई कोंपल' की नारी बिन्नो अथाह दुःख सहने के बाद भी अपने आदर्श और अच्छाई के मूल्यों को नहीं छोड़ती। सबको खुश रखने की चाह में रात-दिन घर का कार्य संपन्न करती है। इसके विपरीत पति द्वारा उसके प्रति रूखाई को भी वह चुपचाप सहन कर जाती है क्योंकि उसका पति किसी और लड़की से प्रेम करता है। बिन्नो द्वारा दिनभर कार्य करने पर भी उसे केवल घरवाले जली-कटी ही सुनाते हैं। फिर भी उसके मुँह से उफ्फ तक नहीं निकलती। न तो उसे परिवार का प्रेम मिलता है, न ही उसे पति का। सास द्वारा सिर पर हाथ मार कर 'क्या बताऊँ, धोखा हो गया। समधिन खूबसूरत, भाई-बहन खूबसूरत, मगर हमारी तो तकदीर ही खोटी थी। एक बार देखा था-सुंदर लगी। देवरानी की बहन की ननद की लड़की है। वही बीच में पड़ी थी। तारीफ तो बड़ी सुनी थी- सिलाई-कढ़ाई में होशियार है, इसमें होशियार है, उसमें होशियार है।'[11]

अपमान सहकर भी बिन्नो द्वारा किसी के समक्ष अपने ससुराल वालों के लिए कोई दुर्भावना, उलाहना और कटु वचन नहीं होते थे। यहाँ तक कि पति की रुखाई, उदासीनता और अवहेलना को भी चुपचाप सहन करके भी, उनके लिए तारीफ ही निकलती थी। पत्र द्वारा बिन्नो ने अपनी सहेली फूल को लिखा- 'तुम्हारी ननद ने गलत ही सुना होगा, फूल। मुझे तो सभी यहाँ बहुत चाहते हैं। सास जी का स्वभाव जरूर तेज है, पर मुझसे वह कभी कुछ नहीं कहतीं। सारे घर की जिम्मेदारी मुझे ही दे रखी है। वह भी मेरा ख्याल रखते हैं। हर वक्त उन्हें यही ध्यान रहता है कि मुझे किसी तरह की तकलीफ न हो। मैं तो अक्सर सोचती हूँ कि न जाने किन पुण्यों के फल से मुझे ऐसे पति मिले.....।'[12] उषा जी की कहानियों में जहाँ नारी आधुनिक व स्वच्छंद प्रवृत्ति को अपनाती है, वहीं उनकी 'नई कोंपल' कहानी नारी के आदर्शात्मक मूल्यों को उजागर करती है।

'बिखरे तिनकेः नया नीड'- कहानी के माध्यम से लेखिका ने बताया है कि समाज की कुछ परम्पराएँ, सीमाएँ और कुछ मूल्य होते हैं जिनके बाहर जाकर जीवन असहाय हो जाता है। अपराध हो जाने पर पुरुष का जीवन सामान्य तरह से चलता है, परंतु उसी अपराध के लिए स्त्री को असहनीय यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। मणि अविवाहित

होने पर भी यश से प्रेम सम्बन्ध बनाकर कुँवारी माँ बन जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उसे समाज द्वारा अपमानित होना पड़ता है। दूसरी तरफ उसी अपराध में भागीदार यश पूरी तरह से स्वतंत्र और शादी करके आम जिंदगी जीता है। सारी लांछना व अपमान अकेली मणि को ही सहना पड़ता है- 'मणि डगमगाते पैरों से मुड़ चली। जैसे दुनिया में सहसा अंधेरा हो जाए। क्या दोष केवल उसी का था?'[13]

मणि के माध्यम से समाज में एक नई सोच और बदलाव के लिए लेखिका ने एक प्रश्न छोड़ा है। अपराध दोनों से हुआ तो सजा केवल स्त्री को ही क्यों मिले? पुरुष को क्यों नहीं? क्या सारा कसूर स्त्री का ही होता है? समाज, परिवार, रिश्तेदार सब उसे ही प्रताड़ित करते हैं- 'कमरे में आकर खड़ी हो गई। पैर लड़खड़ाए। मगर शिथिल हाथों से ट्रंक खोला। मस्तिष्क में एक ही विचार था-यहाँ से जाना हैं। फिर कहीं और नौकरी ढूंढनी पड़ेगी। फिर से तिनके जोड़ने पड़ेंगे-निरर्थक बेमतलब जिंदगी के।'[14] मणि नौकरी करके अपना एक आशियाना बना कर सामान्य जीवन यापन करती है। वहाँ भी उसके किए गए दोष की बात पहुँच जाती है। तब उस जगह से मणि का दाना-पानी उठ जाता है और वह एक पक्षी की भाँति अपने बिखरे घोसले के तिनकों से फिर से नया नीड और नई जिंदगी बनाने की कोशिश करती है।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य में नारी के बदलते मूल्यों को बड़ी ही सहजता से उभारा गया है। उषा प्रियंवदा की अधिकांश रचनाओं में नारी की स्थिति का चित्रण किया गया है। उन्होंने समाज में नारी को स्वावलंबी बनने की स्वतंत्रता तो दी है परंतु दूसरी तरफ उसे अनेकों यातनाएँ भी दी हैं। नारी स्वाबलंबी होने के बाद भी पुरुष प्रधान समाज की बंदिशों से मुक्त नहीं हो पाई है। परिणामस्वरूप मानवीय रिश्ते और अधिक छोटे होते चले गए हैं। रिश्ते टूटते चले गए अवसाद, तनाव, अकेलेपन की शून्यता, असुरक्षा और मानसिक विकृत्तियाँ आदि बढ़ती चली गईं। सम्बन्धों के बिखराव से रिश्ते और परिवार सब कुछ बिखर जाते है। उषा प्रियंवदा ने अपनी इन रचनाओं में नारियों की समस्याओं को इंगित किया है। उन्होंने नारियों की पीड़ा, घुटन, तथा शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न की अभिव्यक्ति कर, पाठक और समाज को अपनी सोच बदलने के लिए विवश किया हैं। उषा प्रियंवदा जी के कथा साहित्य में नारी की महत्वपूर्ण बात यह हैं कि नारी ने हर युग में अनेक आक्षेपों को सहा हैं, नारी ने अपने मूल्यों को परिवर्तित किया है, किन्तु खोया नहीं है। नारी निराशा और दुःख में भी दूसरों के लिए आशा और सुख के दीप जलाए रखती हैं। उषा जी अपनी रचनाओं के माध्यम से नारी जीवन की विषमताओं, समस्याओं और समाधान को चित्रित करती हैं। आपने भरसक प्रयास किया है कि नारी स्थिति को उच्च मुकाम तक पहुँचाए। जीवन मूल्यों के संरक्षण व उन्हें ग्रहण करने का संदेश भी आपने अपनी रचनाओं में दिया है। हमें और समाज को अपनी वैचारिक सोच नारी के प्रति बदलनी होगी।

सन्दर्भ :
1. उषा प्रियंवदा, संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, कवर पेज, 2019
2. डॉ. नरेंद्र मोहन, आधुनिक हिंदी उपन्यास, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1975, पृ.71
3. सिन्हा एवं सिन्हा, आधुनिक हिंदी कथा-साहित्यः मूल्यों से प्रयाण, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ.156
4. रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1978, पृ. 180
5. इंद्रनाथ मदान, हिंदी उपन्यास : पहचान और परख, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1973, पृ. 102
6. उषा प्रियंवदा, संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृ. 324
7. वही, संपूर्ण कहानियाँ, कोई नहीं, पृ. 259
8. वही, संपूर्ण कहानियाँ, पुनरावृत्ति, पृ. 410
9. वही, संपूर्ण कहानियाँ, जाले, पृ.177
10. वही, संपूर्ण कहानियाँ, छुट्टी का दिन, पृ. 170
11. वही, संपूर्ण कहानियाँ, नई कांपल, पृ. 84
12. वही, संपूर्ण कहानियाँ, नई कांपल, पृ. 87
13. वही, संपूर्ण कहानियाँ, बिखरे तिनकेः नया नीड, पृ. 122
14. वही, संपूर्ण कहानियाँ, बिखरे तिनकेः नया नीड, पृ. 122
15.

शोध निर्देशिका
डॉ. सविता टाक (सहा. आचार्य)
वर्मा माणिक्यलाल वर्मा
राज महाविद्याल
भीलवाड़ा(राज.)

शोधार्थी
पिंकी खटनाल
माणिक्यलाल वर्मा महाविद्यालय
राज भीलवाड़ा

'असंभव का संधान : 'मुझे चाँद चाहिए' के सन्दर्भ में

अर्पणा कुमारी

महादेवी वर्मा लिखती हैं- 'प्राचीनता की पूजा बुरी नहीं, उसकी दृढ़ नींव पर नवीनता की भित्ति खड़ी करना भी श्रेयस्कर है, परन्तु उसकी दुहाई देकर जीवन को संकीर्णतम बनाते जाना और विकास के मार्ग को चारों ओर से रुद्ध कर लेना किसी जीवित व्यक्ति पर समाधि बना देने से भी अधिक क्रूर और विचारहीन कार्य है।'[1] सुरेन्द्र वर्मा ने अपने उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' के में स्त्री के (आत्मसमर्पण, त्याग, प्रतिकार, विरोध, साहस) हर भाव को बड़ी बारीकी से उभारा है। सुरेन्द्र वर्मा अपने कथा साहित्य में विषय वैविध्य के लिए जाने जाते हैं। अपने इस उपन्यास के द्वारा स्त्री की सामाजिक बन्धनों से मुक्ति का जो खाका वे प्रस्तुत करते हैं वह अकारण नहीं, वरन आज की कदम दर कदम व्यक्तिनिष्ठ होती जिन्दगी और अँधेरे एकालाप से ऊपर उठने का जरूरी सोपान है। आज विवेकशील स्त्रियाँ न तो किसी के अधीन रहना चाहती हैं और न किसी पर अपना वर्चस्व ही कायम करना चाहती हैं। हार-जीत के पैमाने से इतर आगे बढ़ने की होड़ को पीछे छोड़कर केवल स्वत्व चाहती है। 'मुझे चाँद चाहिए' एक ऐसे ही वर्षा वशिष्ट के स्वत्व के तलाश की कहानी है।

स्त्री हमारे समाज का एकलौता प्राणी है, जिसके कई संबोधन हैं। इसमें कुछ ही सम्मान जनक हैं, कुछ कटु और ज्यादातर वीभत्स हैं। आज जब एक तरफ स्त्री समाज में अपना स्थान बनाने की कोशिश कर रही है, वहीं पुरुष सामंतवादी समाज इसे चुनौती समझ रोकने की पूरी कोशिश कर रहा है। आज भी विष-वृक्ष के समान समाज स्त्रियों के खुलेपन और बेबाकीपन को कहाँ ही स्वीकार कर पा रहा है अपितु उनके पहरे में नई तरह की फौजदारी करनी शुरू कर दी है।

किसी भी सभ्य समाज की बुनावट में प्रथम प्राथमिकता सभ्यता और संस्कृति को दिया जाता है और इसको सजाये तथा बनाये रखने का जिम्मा औरतों के कन्धों पर रखे साड़ी और दुपट्टों में लिपटा होता है। जहाँ कपड़ों की इस थान से स्त्री कुछ हिस्सा कम कर दें तो पूरे समाज के ठेकेदार एक जुट हो जाते हैं। सभ्यता संस्कृति के पैमाने हमेशा से दोनों के लिए अलग ही रहा है। जबकि पुरुष को हर कार्य करने में न सिर्फ स्त्री की मदद चाहिए होती है, बल्कि उसके बिना वो अधूरा है या यूँ कहें कि दोनों की एक दूसरे के बिना कल्पना अधूरी और अप्राकृतिक भी है। स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। स्त्री के श्रेष्ठ व्यक्तित्व को प्रतिपादित करते हुए महादेवी वर्मा लिखती हैं- 'पुरुष समाज का न्याय है, स्त्री दया, पुरुष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा, पुरुष शुष्क कर्त्तव्य, स्त्री सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा। ऐसा एक भी सामाजिक प्राणी नहीं मिलेगा जिसका जीवन भगिनी, पुत्री आदि के किसी-न-किसी रूप से प्रभावित न हुआ हो।'[2] इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति के बाद भी स्त्री को आज के समय में समाज में वो स्थान

नहीं मिला जो उसका अपना हक है।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है और इस दर्पण में समस्त प्राणी जगत समाहित है, जिसमें सबसे उपर मनुष्य को रखा गया है उसकी कुशाग्र बुद्धि के कारण। इस दर्पण में स्त्री का भी उतना ही स्थान है जितना कि पुरुष का। फिर क्यों सारे अधिकार पुरुष अपने अधीन रखना चाहता है। आश्चर्य तो तब होता है जब इस काम में कुछ स्त्री ही उनका साथ देती है यह कह कर कि हम उनके अधिकार क्षेत्र में आते हैं। इस पुरुष मानसिकता को बढ़ावा ज्यादातर औरतों ने ही दी है जैसे कि कोई वस्तु हो। स्त्री कोई वस्तु या संपत्ति नहीं वो सिर्फ स्त्री है, उसके अपने अधिकार हैं अपने मन की करने की आजादी है।

ये हमारे समाज की विडंबना है कि जिस समाज के पुरुष एक तरफ स्त्री को उसके सभी हक से वंचित रखना चाहते हैं, वहीं उसी समाज के कुछ पुरुष उसे हक दिलाने की लड़ाई भी लड़ रहे हैं। अभी तक के सभी आन्दोलन चाहे वो विश्व पटल पर हो या भारत भूमि पर स्त्रियों के हक के लिए पुरुषों ने समय-समय पर रूढ़िग्रस्त समाज के विरुद्ध मोर्चा खोल उसकी अगुवाई भी की। स्त्री को उसके दंश से मुक्ति दिलाने का पुरुषों के इस वर्ग का ऐसा प्रयास न सिर्फ उन्हें घिनौने पुरुष मानसिक प्रवृत्ति से अलग करता है बल्कि उनके द्वारा एक नए मानव रूप की संरचना को तैयार करता है। स्त्रियों को सभी हमेशा से ममता, त्याग, जैसे संबोधनों से सुसज्जित करते हैं लेकिन जब किसी पुरुष में इस तरह की प्रवृत्ति होती है तो उसे बड़े ही हेय दृष्टि से लोग देखते हैं परन्तु सच्चाई इसके बिलकुल उलट होती है। ऐसे पुरुषों को प्रेमचंद्र ने बड़े सधे शब्दों से परिभाषित किया है। साथ ही स्त्री की सुन्दर व्याख्या करते हुए वे कहते हैं - 'पुरुष विकासक्रम में नारी से पीछे है। जिस दिन वह भी पूर्ण विकास तक पहुँचेगा वह स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, दया, कोमलता इन्हीं आधारों पर सृष्टि थमी हुई है और ये स्त्रियों के गुण हैं।'[3]

स्त्री को जब तक भोग्या समझ कर उसका वस्तुकरण किया जायेगा उसकी मुक्ति के प्रश्न उठते रहेंगे। स्त्री के शरीर पर पहला और आखिरी अधिकार उसके स्वयं का होना चाहिए न कि उस समाज का जो समय-समय पर अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करता हो। हमारे समाज में स्त्रियों के शोषण स्तर काफी वृहद हैं। आधार सिर्फ स्त्री मात्र होने से नहीं है बल्कि वो अपने समाज के हर उस स्तर पर शोषित होती है, जहाँ शोषकों की पैठ है। जाति, धर्म, लिंग, वर्ण, वर्ग सभी स्तरों पर वे प्रताड़ित व शोषित होती रहती हैं। हम ऐसे समाज में साँस ले रहें हैं, जहाँ सदियों से स्त्रियों की अपनी कोई अभिव्यक्ति नहीं थी। तब लडकियाँ बहुत ही छोटी उम्र में ब्याह दी जाती थीं। विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति न थी, जबकि पुरुष कई विवाह कर सकता था। स्त्रियों को पति के मरने पर उसके साथ जला देने की सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। स्त्री-शिक्षा पूर्णतः निषेध थी। ऐसे में कोई समाज कैसे आधुनिक और विकसित हो सकता है जहाँ एक तरह के प्राणी से दोयम दर्जे का व्यवहार होता हो। यह जितना अशोभनीय है उतना

ही अमानवीय भी। समाज में हाशिये पर पड़ी स्त्रियों का उपर उठाने और आगे बढ़ाने तथा उन्हें सामाजिक अधिकार दिलाने के संबंध में कई कार्य किये गये। राजा राम मोहन राय ने धार्मिक-सामाजिक सुधार, विधवा विवाह का समर्थन आदि के द्वारा स्त्रियों को सामाजिक अधिकार दिलाने के सम्बन्ध में जनजागृति फैलाई। 'पुनर्जागरण आन्दोलन ने देश में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों और स्त्री की दयनीय स्थिति के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा।... सामंती और पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री समाज को घर की चारदीवारी में जो बंद कर रखा था, इस स्त्री गुलामी की प्रथा को शिक्षा द्वारा प्रोत्साहित करके उन्हें उनके अधिकार दिलाने के लिए प्रयास किये गये।'[4] स्त्री आन्दोलन के शुरूआती दौर में नये मूल्यों को स्थापित करने का पहला प्रयास था। 'चिपको' से लेकर 'सती' तक के सारे आन्दोलन तकरीबन इसी तरह की भावना से जुडे थे। नारी अपने समाज के द्वारा बने बनाये पारंपरिक चौखट को अब सिर्फ लाँघकर बाहर नहीं जाना चाहती वो इस ढांचे को तोड़ कर हमेशा-हमेशा के लिए गिरा देना चाहती हैं।

जब स्त्रियों ने दिनचर्या और रोजमर्रा वाली जीवन शैली में अपने कदम को रखा तो भले ही वहाँ प्रत्यक्ष रूप में चावल से भरा हुआ कलश, आरती की थाली तो नहीं थी, हाँ पर यहाँ भी पुरुष मानसिकता के द्वारा नजर रखने की प्रथा कमोबेस वैसी ही थी। आज भी एक बड़ा तबका हमारे सामने खड़ा है जो नाम से आधुनिक हैं परन्तु काम में उनके रूढ़िपन की बू आती है। ऐसे समाज में इस तरह की नारियाँ जो स्वतंत्र होकर भी मुक्त नहीं हैं, वो हर रोज दोहरी जिंदगी जीती हैं, उन्हें अब नये संबोधन प्राप्त हो गए हैं, कामकाजी शालीन सभ्य स्त्री!!! इस संबंध में चारू गुप्ता लिखती हैं - 'सुधारों के कई आग्रह महिलाओं पर चतुराई भरे नियंत्रण की कोशिश थे.... महिलाओं के लिए शिक्षा, पर्दा प्रथा की समाप्ति, विधवा विवाह जैसे उदार कार्यक्रमों में सेंध लग रही थी; सुधारों की गति एक पेंडुलम की तरह थी जिसमें महिलाओं के लिए सीमित अवसर खुलते थे, पर साथ ही इनमें लैंगिक और यौनिक आचार स्थापित करने या समुदायिक सत्ता कायम करने की गति रहती थी।'[5] जो इस संबोधन से खुद को अलग कर आगे बढ़ जाती है वो होती हैं वर्षा वशिष्ठ। वर्षा एक ऐसे समाज का सूचक है जहाँ खाने-पीने से लेकर उठने-बैठने, चलने तक पर समाज की पैनी नजर होती है। वर्षा एक ब्राह्मण परिवार में पली-बढ़ी है, जो रूढ़िवादिता में अन्य सामाजिक लोगों की तरह ही है। जहाँ स्त्रियों को पढ़ने बाहर तो भेजा जाता है, काम ढूंढने व करने की आजादी भी होती है पर दायरे में रहकर, मन मुताबिक नहीं। समाज में कुछ महानुभावों का मानना है कि आज जो भी उन्हें (स्त्रियों को) मिल रहा है उसके लिए उन्हें पुरुषों का शुक्रगुजार होना चाहिए। ऐसे में ज्यादातर लोग या तो चुप हो जाते हैं या खुश होते रहते हैं कि उन्हें बहुत मिल गया। हम जिस समाज का हिस्सा हैं वहाँ कितनी छोटी-छोटी बातों पर पाबंदियाँ होती है इस उदाहरण से समझ सकते हैं- 'सिलबिल सहजता से नीचे आ गयी, क्या है? शमार्जी ने उसकी ओर देखा 'तुमने अपना नाम बदल लिया है? सिलबिल ने अपराध बोध से नीचे

नहीं देखा। वह पूर्ववत सामने देखती रही, हाँ।' .... तुम्हारे नाम में क्या खराबी है? पिता ने कड़वे स्वर में पूछा।'[6]

सिलबिल किसी भी तरह से अपने काम को किसी के द्वारा सही या गलत कहने या सोचने का हक नहीं देना चाहती है। वो न सिर्फ अपने अधिकारों के प्रति सचेत है बल्कि अपने काम को बिना किसी अपराध बोध के बखूबी समझती भी है और करती भी है। जब भी कोई व्यक्ति धारा के विपरीत जाता है तो उसका कोई न कोई प्रेरणा या पथ प्रदर्शक जरूर होता है। वर्षा के लिए यह काम उसकी कॉलेज की मिस दिव्या कत्याल करती थीं। 'अगर मिस दिव्या कत्याल उसके जीवन में न आतीं, तो वह या तो आत्महत्या कर चुकी होती या रूँ-रूँ करते चार-पांच बच्चों को संभालती, किसी क्लर्क की कर्कश बोसिदी संगिनी होती।'[7] पर उसने उन तमाम बंदिशों को तोड़ा जो उसे परंपरा और प्रतिष्ठा के नाम पर बांधे हुए था। इस तरह की बंदिशें दिखने में कुछ नहीं लगती, पर यदि उसकी कुरूपता को देखना हो तो उसके विरोध में अपने स्वर बुलंद करके देखें। कोई ऐसी पुरानी लम्बे समय से चली आ रही परंपरा को तोड़ना बड़े साहस का काम है। इसी तरह का एक अन्य उदाहरण मिस कत्याल के द्वारा लेखक ने अपने उपन्यास में कुछ इस तरह से रेखांकित किया- 'संस्थापक-दिवस पर अब तक सेठ मिश्रीलाल की दानशीलता पर भाषण होते थे,...। 'मिस कत्याल ने आते ही इस कार्यक्रम को 'ध्रुवस्वामिनी' के मंचन के रूप में मनाया(कॉलेज का यह पहला नाट्य-प्रदर्शन था।'[8] एक-दूसरे को हर बात में चुप कराने की जगह ये सोचने और समझने वाली बात है की आज के दौर के लिए क्या उचित है और क्या अनुचित।

समाज में फैले इसी उचित-अनुचित बात को रेखांकित करते हुए सुरेन्द्र वर्मा ने वर्षा वशिष्ठ जैसे पात्र को आज के जमाने के समक्ष रख दिया। धर्मवादी दृष्टिकोण हमारे समाज में आज भी स्त्रियों के लिए एक दीवार की तरह है। कहा जाता है कि धर्म का होना मतलब जीवन में अनुशासन बना रहता है। पर जब यह धर्म सब को समान रूप से अनुशासित न करे तो ऐसे में उस धर्म को क्या कहा जाएगा? कोई भी धर्म यदि लिंग, जाति, वर्ण के आधार पर हमें बांटे तो वह समाज कितना ही संतुलित और स्वस्थ होगा अंदाजा लगाया जा सकता है। और ऐसे में हमारे समाज में लड़की, स्त्री, नारी की जो स्थिति है वो भी किसी से छुपी नहीं है। ऐसे समाज में स्त्रियों पर कई तरह से नजर रखने का प्रयास किया जाता है घर के बड़े बुजुर्ग से लेकर छोटे तक उनकी हरेक हरकतों पर अपनी दृष्टि जमाये हुए रहते हैं। हद तो तब होती है जब घर के पालतू जानवर भी इन पर नजर रखते हैं। अनुष्टुप(तोता) इसी तरह का उदहारण पेश करता है- 'अनुष्टुप के बिना 54, सुल्तानगंज का पोर्टेट पूरा नहीं होता।... यह जीवधारी अपने नाम को सार्थक करते हुए ... मुँह अँधेरे से चालू हो जाता था, 'झल्ली, सीताराम बोल', 'किशोर गायत्री मन्त्र पढ़ लिया?'...'सिलबिल धीरे बोलो,' सिलबिल, तुलसी में पानी नहीं दिया?' सिलबिल देर लगा दी।' 'सिलबिल....' शमार्जी ने पुकार लगायी। 'सिलबिल...' अनुष्टुप

ने दोहराया।'[9] जिस तरह से अनुष्टुप के द्वारा सिलबिल पर नजर रखी जा रही है ऐसा लगता है मानो कोई जानवर न हो कोई इन्सान हो। अनुष्टुप तोता के द्वारा लेखक ने स्त्रियों के पहरे और नियंत्रण का एक प्रतीकात्मक ग्राफ प्रस्तुत किया है। हर घर में एक अनुष्टुप होता है जिसका काम सिर्फ सिलबिल पर नजर रखना होता है। हमारे समाज में बोलने और सपने बुनने की आजादी हर किसी को है परन्तु स्त्री को ऐसी छूट बिलकुल भी नहीं है। इस सभ्य समाज में स्त्रियों को सपने बुनने की भी आजादी दायरे भर ही है पर वर्षा ने अपने जीवन से जुड़े हर पहलू को खुले मन से सँवारा है। वो क्या बनना चाहती है इसका निर्णय सिर्फ वो ले सकती है कोई दूसरा नहीं। 'जहाँ ज्यादातर लोग प्रधानमंत्री, टाटा और रविशंकर बनना चाहते हों, वहाँ तुम्हारी महत्वाकांक्षा... बहुत ताजी और अनूठी थी।'[10] ऐसे में हमें क्यों कहना बहुत जरूरी है। इसका एक सुन्दर उदाहरण यहाँ देखा जा सकता है- 'क्यों? कुछ सवालों का डंक उसे हमेशा चुभता था। वह क्यों पैदा हुई? उसके जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या जीवन की प्रकृति वैसी ही होती है, जैसी 54 सुल्तान गंज की? क्या उसे भी वैसा ही जीवन जीना होगा,जैसा अम्मा, दद्दा और जिज्जी का है?'[11]

इस द्वंद्वात्मक स्थिति से लड़ते हुए सिलबिल से खुद को अलग कर वर्षा वशिष्ट हो गई। ये उसके उन्मुक्त होने की पहली सीढ़ी थी, जो अंधकार में आलोक वृत के सामान थी। इसके बाद वर्षा शादी से इंकार कर आगे पढ़ने की इच्छा जताती है। जबरदस्ती करने पर उसके आक्रामक तीखेपन से माँ-बाप सकपका जाते हैं। इसी बीच वह एक नाटक में अभिनय करती है। इससे उसके जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आता है। संस्थापक दिवस पर 'परिणिता' नामक नाटक खेला जाता है, जिसमें वर्षा ने अद्भुत अभिनय किया। इसके फलस्वरूप नरोत्तम व निर्मल में वर्षा को लेकर झगड़ा हो जाता है। वर्षा का भाई इस घटना को लेकर काफी नाराज हो जाता है, वह छड़ी से वर्षा पर कई प्रहार करता है। जहाँ रुढ़िग्रस्त विक्षिप्त पुरुष मानसिकता के दर्दनाक प्रहार को वर्षा के पीठ पर उभरे जख्म के रूप में देख सकते हैं। 'दिव्या ने जैसे ही उसका कुर्ता उठाया वर्षा रो पड़ी.... टेढ़े निशान देखने के बाद... जो सलोने पीठ पर रेत पर रेंग गए सांप के चिन्हों की तरह पीछे छूट गए थे।'[12] वर्षा और हर्ष एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और शादी करना चाहते हैं। किन्तु हर्ष की जाति अलग होने के कारण घरवाले इस शादी का विरोध कर देते हैं। आगे वर्षा एक सफल और प्रतिष्ठित अभिनेत्री बन जाती है और हर्ष की विफलता उसकी जान ले लेता है। हर्ष के आत्महत्या कर लेने के बाद वर्षा को उससे गर्भ ठहर जाता है। एक सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित अभिनेत्री का जीवन किस तरह के कटीले मार्गों से गुजरा होगा अंदाजा लगाया जा सकता है। इन तमाम तरह के उतार-चढ़ाव के बाद वर्षा अपने जीवन के बागडोर को किसी के हाथ में न सौंप कर खुद ही संभालती है। उपन्यास के अंत में दिव्या, उसकी बेटी प्रिया और वर्षा साथ-साथ होती हैं। एक शाम को जब वो घूम रहे होते हैं, तो एक तारा टूटता है। प्रिया उन दोनों से कहती है कि

कुछ मांग लो, दोनों मुस्कुरा देती हैं और इसी के साथ उपन्यास का अंत दिखाया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई किसी का उद्धारक नहीं हो सकता अपनी अस्मिता और स्वतंत्रता की लड़ाई घर से बाहर तक आपको स्वयं लड़नी होगी।

आज के समय में हवा के रुख को बदलने की कोशिश में कई वर्षा लगी हुई हैं कुछ तो आगे निकल जाती हैं पर अभी भी ज्यादातर जितने और कितने के बीच फँस कर रह जाती हैं। बीते कुछ दिनों में ऐसी ही कुछ वर्षा ने घर की दहलीज को पार कर ओलंपिक में परचम फहरा तिहास में अपना नाम दर्ज करवाया है। इसलिए इस असहनीय समाज में वो पाने की इच्छा जो असंभव हो उसकी कोशिश करना हमारे लिए बड़ी बात है, और यदि उसे पा लिया जाय तो यह संधान सब के लिए रास्ता बना देगा। यह उपन्यास ऐसी कहानी का कोलाज माना जा सकता है- जहाँ द्वंद्व, गुस्सा, पश्चाताप और उम्मीद की किरण भी है।

सन्दर्भ :

1. वर्मा महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली,2012, पृ.21
2. वर्मा महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली,2012, पृ.17
3. प्रेमचंद, कर्मभूमि, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ.222
4. सिंह वी.एन. सिंह जनमेजय, आधुनिकता एवं महिला सशक्तिकरण, पृ.195
5. गुप्ता चारू. स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, राजकमल प्रकाशन. नई दिल्ली, 2012, पृ.256-57
6. वर्मा सुरेन्द्र, मुझे चाँद चाहिए, राधाकृष्ण प्रकाशन. नई दिल्ली, 2006, पृ.14
7. वही, पृ.11
8. वही, पृ.11
9. वही, पृ.12
10. वही, पृ.17
11. वही, पृ. 12
12. वही, पृ. 78

शोधार्थी

तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, असम

आदिवासियों का संघर्षमय जीवन

प्रियंका देऊ वेलीप

आदिवासी जीवन पर अध्यापन करते हुए एक बात सामने आती है कि आदिवासी समाज विभिन्न समस्याओं का सामना करते हुए आगे बढ़ रहा है। अनेक समस्याएँ उनके जीवन में आने के कारण आदिवासी समाज अपने जीवन में संघर्ष कर रहा है। आज आदिवासी समाज अपने ऊपर हो रहे अन्याय, अत्याचार, शोषण के विरुद्ध लड़ रहा है लेकिन उनके आंदोलन तथा संघर्षों को नजरअंदाज किया जा रहा है। साहित्य के माध्यम से उनका संघर्ष आज भी जारी है। आदिवासी तथा गैर-आदिवासी कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से उनके संघर्षमय जीवन को प्रस्तुत किया है। वे अपने अस्तित्व, जल, जंगल, जमीन, आदि के लिए संघर्ष करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

हमारे देश में मतदान होते रहते है जिसमें हर देशवासी को अधिकार होता है कि वह वोट करे लेकिन कई बार उच्च वर्ग के लोग आदिवासियों को इस अधिकार का प्रयोग नहीं करने देते। दरअसल उच्च वर्ग का समाज हमेशा आदिवासियों को जंगली-वनवासी कहकर प्रताड़ित करता है। वह उनकी अज्ञानता का फायदा उठाता है। नर्मदेश्वर की कहानी 'मोर नाव जिंदाबाद' में कहानीकार ने बड़े-बड़े साहब लोगों द्वारा वोट डालने का अधिकार छीन लेने की इसी प्रक्रिया पर व्यंग्य किया है। कहानी के अंत में रूंगटू को वोट डालने नहीं दिया जाता है। तब वह साहब से कहता है कि- 'तुम्हारी इतनी सेवा की, खिलाया-पिलाया, अपने भूखे पेट सो गया और बदले में तुमने मेरा वोट देने का हक छीन लिया। सुबह वोट देना चाहा तो मदारी के बंदर की तरह पेट दिखाने लगे कि भूख लगी है... दोबारा आया तो दारू लाने भेज दिया' आप कहते हो कि समय समाप्त हो गया... मैं बरगद की परछाई भी देखकर ठीक-ठीक बता सकता हूँ, अभी पाँच नहीं बजे हैं... तुम मुझे वोट डालने से नहीं रोक सकते हैं... धोखेबाजो, मैं तुम्हारे नाम पर थूकता हूँ- आक्थू।'[1] इस प्रकार से वोट न डाल देने के कारण रूंगटू अंत में अपने अधिकार के लिए संघर्ष करता दिखाई देता है। हर दिन बड़े साहब लोग रूंगटू को पनिभरा कहकर इसका प्रयोग किया करते हैं। उस पर अन्याय किया जाता है फिर भी वह चुप रहता है। उसकी चुप्पी का फायदा साहब लोग उठा रहे हैं। इस प्रकार आदिवासी समाज अनेक तरह के अन्याय, अत्याचार, शोषण से जूझ रहा है। वे कुछ कर भी नहीं पाते हैं क्योंकि अगर उन्होंने आवाज उठाई तो उनको मौत के घाट उतरना पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति आज आदिवासियों की बन गई है। उच्च वर्ग के लोग उनकी अच्छाई का फायदा उठा रहे हैं। जंगली, नीच समझकर उनका शोषण किया जा रहा हैं। कहानी में रूंगटू वोट के अधिकार के लिए लड़ता है पर ऐसे अनेक आदिवासी हैं जो अपने अन्य विभिन्न अधिकारों के लिए भी आज संघर्ष कर रहे हैं। आदिवासी स्त्री अपने अस्तित्व, संपत्ति, अधिकार, नौकरी, आदि के लिए संघर्ष कर रही है। वाल्टर भेंगरा की कहानी 'अपना-अपना युद्ध'

में अंजेला नौकरी को बचाए रखने के लिए संघर्ष करती हुई दिखाई देती है। परिवार की देखभाल करते हुए वह नौकरी करती है। इमानदारी से काम न करने के कारण उसे काम से हटाया जाता है। अंजेला के जीवन में अनिल नामक एक लड़का है। दोनों का एक दूसरे के प्रति प्रेम दिखाई देता है। ऑफिस में अनिल और बाकी लोगों की धारणा रही है कि अंजेला का उनके बॉस के साथ संबंध है, पर ऐसा नहीं है। अंजेला अपनी नौकरी के लिए बॉस के साथ बातें कर रही होती है, साथ ही वह उनसे मिलने भी जाती है पर अनिल को यह अच्छा नहीं लगता है। आगे वह अंजेला का विरोध करता हुआ दिखाई देता है। अंजेला को नौकरी की जरूरत है पर अनिल उसकी बात नहीं मानता है। कहानी में वह अनिल से कहती है-'ठीक है। मुझे भी तुम्हारी जरूरत नहीं है। मैं अपनी लड़ाई खुद लड़ लूँगी।' इतना कह वह खिड़की के बाहर शून्य में देखने लगी।'[2]

इस प्रकार अंजेला अनिल का साथ छोड़कर नौकरी पाने की ओर आगे बढ़ती है। संघर्षों का सामना करते हुए वह नौकरी प्राप्त करती है। वह नौकरी को हाथ से छूटने नहीं देना चाहती है। अंजेला के जरिए देख सकते है कि आदिवासी समाज के लिए नौकरी कितनी महत्वपूर्ण है। नौकरी नहीं करेंगे तो परिवार का पोषण कैसे होगा? सवर्ण, जमींदार तथा कंपनियों ने उनको अपनी जमीन से खदेड़ा है। इसलिए आदिवासी अपनी लड़ाई खुद लड़ रहे हैं। वे आत्मनिर्भर रहना पसंद करते हैं। आदिवासी स्त्री अपने उपर हो रहे अन्याय, गलत आरोपों के विरूद्ध भी आवाज उठाना जानती है। देश में अनेक आदिवासी लड़कियाँ हैं, जो अपनी नौकरी को बचाए रखने के लिए आज संघर्ष कर रही हैं। नौकरी के लिए कई बार वे अपने प्रेम का त्याग करते हुए भी दिखाई देती हैं। नौकरी से हटा देने के डर से आदिवासी स्त्री को उच्च वर्ग द्वारा शोषण को सहना पड़ रहा है। पति अपनी पत्नी पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध आवाज नहीं उठा रहे हैं क्योंकि सभ्य समाज के लोग उन्हें लाचार बना रहे हैं। इसी संदर्भ में रमणिका गुप्ता द्वारा लिखित 'चन्दा मर नहीं सकती' कहानी में चन्दा अपने अधिकार के प्रति संघर्षरत दिखाई देती है। चन्दा की शादी हो गई है, बच्चे भी हैं। उदय सिंह रात-दिन चन्दा का शोषण करता है, लेकिन वो दोनों अपनी नौकरी जाने के डर से कुछ नहीं कर पा रहे हैं। कहानी में लेखिका लिखती है- 'चिल्लाएगी तो क्या कहेंगे लोग? फिर उदय बाबू कल ही शिकायत कर देगा। हाजिरी बंद हो जाएगी। क्या खाएँगे वे लोग? कैसे पालेंगे परिवार को? माणिक की नौकरी भी खा जायेगा यह 'चोट्टा' !'[3] इस संदर्भ से कहा जा सकता हैं कि चन्दा को नौकरी बचाना जरूरी था इसलिए वह उदय सिंह के विरुद्ध आवाज नहीं उठाती है लेकिन कहानी के अंत में वह अपने अधिकार के लिए संघर्ष करती दिखाई देती हैं।

रोज केरकट्टा की कहानी 'घाना लोहार का' में आदिवासी स्त्री पर हो रहे अन्याय का चित्रण मार्मिक ढंग से किया गया है। आदिवासी स्त्री होने के कारण उसके बेटे को संपत्ति का अधिकार नहीं दिया जा रहा है। कहानी में रोज केरकट्टा लिखती हैं- 'सोमारू ने कहा, 'मेरी माँ रोपनी जवान थी, तब से इस घर में रह रही है। मैं यहीं पैदा हुआ हूँ। मैं जगत

सिंह का बेटा हूँ। जगत सिंह मेरा बाप है। भले ही मेरी माँ आदिवासी है। मैं ऊँची जाति का हूँ। जगत सिंह का बेटा हूँ'... फिर भी वह बोला मैं खेत में कमाता हूँ तो पूरे परिवार को भोजन नसीब होता है। इसलिए बँटवारा हो और मुझे बराबर का हिस्सा मिले।'[4] इस प्रकार से उसकी माँ घर का काम करती है और बेटा खेती का काम करता है। लेकिन जब संपत्ति बाँटने की बात आती है तब उनको नीच जाति कहकर प्रताड़ित किया जा रहा है। उच्च वर्ग के लोग सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए आदिवासी स्त्री से शादी करते हैं। आदिवासियों को न वे परिवार का हिस्सा देते है और न ही संपत्ति का अधिकार लेकिन आदिवासी समाज अपने हक के लिए लड़ना जानता है। आदिवासी अपने उपर हो रहे अन्याय, अत्याचार, शोषण के विरूद्ध आवाज उठा रहे है, वे कभी पीछे नहीं हटते हैं। उच्च वर्ग द्वारा आदिवासियों को जंगली, राक्षस कहकर अपमानित करना, स्वार्थपरता, अन्याय इस कहानी में देख सकते हैं। लेकिन समय आने पर आदिवासी अपने अस्तित्व तथा अपने हक के लिए संघर्ष करते हैं।

शोषण की यह स्थितियाँ इक्कीसवीं सदी में लिखी गई विभिन्न कहानियों में देखने को मिल जाती हैं। आदिवासी समाज अनेक समस्याओं का सामना करते हुए अपने जीवन को आगे बढ़ाने तथा अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे है। अपने परिवार, नौकरी, भूख, वोट, शिक्षा, जल, जंगल, जमीन, आदि के लिए वे संघर्ष कर रहे हैं। जीवन में संघर्ष करने के बाद भी उनको समाज में दर्जा नहीं मिल रहा हैं। उनके अधिकार, उनका हक छीना जा रहा है। आज जब आदिवासियों को लेकर पूरी दुनिया में उनके विकास को लेकर बहस चल रही है तब भारत के संदर्भ में इन शोषणकारी शक्तियों की पहचान करना बेहद जरूरी है।

संदर्भ :

1. नर्मदेश्वर, बाँस का किला -आदिवासी जीवन और परिदृश्य की कहानियाँ, अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.2019, पृ. 83
2. केदार प्रसाद मीणा, आदिवासी कथा जगत, अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण. 2016, पृ. 86
3. रमणिका गुप्ता, बहू-जुठाई, रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. 51
4. रोज केरकट्टा, पगहा जोरी-जोरी रे घाटो, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2019. पृ. 26

सहायक प्राध्यापक एवं शोधार्थी
पार्वतीबाई चौगुले महाविद्यालय (स्वायत)
मड़गाव-गोवा

राकेश कुमार सिंह के कहानी संग्रह 'रूपनगर की रूपकथा' का आलोचनात्मक अध्ययन

सुशील कुमार (शोध छात्र)
डॉ. विनय कुमार शुक्ल (शोध निर्देशक)

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक राकेश कुमार सिंह ने कथा साहित्य में अपना नाम प्रमुखता से दर्ज करवाया है। उनके उपन्यास आदिवासी जीवन को प्रमुखता से प्रस्तुत करते हैं लेकिन इसके अलावा भी वे कई अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर लेखन करते हैं और लगातार कर रहे हैं। अब तक उनके ग्यारह उपन्यास और सात कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनके उपन्यासों में 'पठार पर कोहरा', 'हुल पहाड़िया', 'साधो यह मुर्दों का गाँव', 'महाअरण्य में गिद्ध', 'ऑपरेशन महिषासुर', 'मिशन होलोकास्ट', 'खोई हुई कड़ियाँ', 'ठहरिये आगे जंगल है, 'महासमर की साँझ' प्रमुख हैं। उपन्यासों के अलावा उनके कहानी संग्रह भी आदिवासी चरित्रों के साथ-साथ झारखण्ड के हलवाहों, चरवाहों, सपेरों, बहेलियों, मांझियों, बहरूपियों, नटुओं का जीवन-यथार्थ प्रस्तुत करते हैं। कई संवेदनशील मुद्दों को इनकी कहानियों में उभारा गया है। जैसे भ्रूण हत्या को 'अंधेरे में' कहानी में, पुलिस की असंवेदनशीलता को 'पांच हजार का तोता' कहानी में, साइंस की क्लोनिंग को 'रक्तबीज' कहानी में, पिता की अकस्मात मृत्यु के बाद उसके शव का अपने फायदे हेतु प्रयोग करते बेटे को 'रहस्य की एक रात' में। 'शिलान्यास' कहानी मानवीय गुणों के ह्रास और संवेदनहीनता को दर्शाती है जिसमें नकटा मास्टर शम्भूनाथ एक अनाथ लड़की सत्यवती को अपनी बेटी के रूप में पढ़ा लिखाकर इस काबिल बनाता है कि वह बड़ी होकर उसका सम्मान और ऊँचा करे लेकिन वही बेटी जब उसी स्कूल के शिलान्यास में आती है, जहाँ शम्भूनाथ मास्टर पढ़ाते हैं तो वह उनकी तरफ ध्यान तक नहीं देती। इसी तरह फौजी जीवन के माध्यम से चिट्ठी के महत्व को 'खत' कहानी में दर्शाया गया है। उनकी कहानी 'दो कौड़ी का आदमी' पाश्चात्य मॉल संस्कृति के वर्चस्व और बाजार की गिरफ्त में आ चुके भारतीय जनमानस को तथा 'नाटक' जनजातीय क्षेत्रों के प्राथमिक चिकित्सा केंद्रों की लचर स्वास्थ्यसेवाओं आदि को उद्घाटित करती है। इसके अलावा उनकी एक कथेतर पुस्तक 'लो आज गुल्लक तोड़ता हूँ' भी प्रकाशित हुई है, जो लेखन के मुख्य कारणों और उद्देश्यों को बयाँ करती है।

उनका सद्यः प्रकाशित कहानी संग्रह 'रूपनगर की रूपकथा' रुद्रादित्य प्रकाशन, प्रयागराज से छपकर इसी वर्ष आया है, जिसमें लेखक राकेश कुमार सिंह ने कई महत्वपूर्ण विषयों यथा साम्प्रदायिकता, उच्च शिक्षा के चरित्र, सेक्स या पोर्न की वीडियो कैसेट्स के व्यापार, प्राकृतिक आपदा भूचाल, शिक्षा व्यवस्था के वर्तमान यथार्थ और उसमें राजनीति, पारिवारिक रिश्तों, स्त्री विमर्श आदि विषयों या मुद्दों को केंद्र में रखा है। संग्रह की प्रथम कहानी 'रूपनगर की रूपकथा' एक बुत या प्रतिमा के लेकर हुए बबाल

पर आधारित है जिसकी परिणति अंततः साम्प्रदायिकता की शक्ल में होती है। कहानी की शुरूआत इस तरह होती है कि मुख्य शहर के उपनगर रूपनगर के सीमांत पर एक बुत या प्रतिमा स्थापित थी जिसके गले में किसी ने फटे-पुराने जूतों की माला डाल दी थी और उसपर कुछ हड्डियां बिखेर दी थीं। इसी बात को लेकर बवेला पूरे नगर में शुरू हो चुका था। इसी बवाल को लेकर मीडिया, अलग-अलग गुट या संगठन, धार्मिक लोग तथा राजनेता कैसे अपने फायदे के लिए इस बुत या प्रतिमा का प्रयोग करते हैं, इसे ही कहानी में दर्शाया गया है। 'उपहार' कहानी नवविवाहित दंपति रमाकांत और सुधा की है। चूँकि नवविवाहित वधू को वर की तरफ से प्रथम मिलन पर उपहार देने का रिवाज है लेकिन रमाकांत ठहरा एक बेरोजगार युवा। वह सोचता है कि उसके पास तो पैसे ही नहीं है कोई उपहार लाकर सुधा को देने को। प्रथम मिलन बिना उपहार के होता है और अपराधबोध सहित जब वह सुधा के सामने खड़ा होकर इस बात को कबूल करता है तो सुधा का जवाब आज के बेरोजगार युवाओं और नवविवाहित दंपतियों के लिए एक बहुत ही महत्वपूर्ण संदेश है जो लेखक ने सुधा के माध्यम से कहलवाया है। आज के भौतिकवादी समाज में उपहार का अर्थ होता है सोना-चांदी, गहने-कपड़े, इत्यादि लेकिन उपहार तो केवल उपहार होता वह कुछ भी हो सकता है जैसे सुधा कहानी में कहती है कि तुम एक फूल तो ला ही सकते थे। कुल मिलाकर कहानी एक महत्वपूर्ण सन्देश बड़े सहज ढंग से आज के युवाओं को देती है।

दूध के महत्व और उसके अनावश्यक प्रयोग को सुगनी और उसके बेटे टेंगरा के माध्यम से दर्शाने वाली कहानी 'दूध' है। एक तरह से इसे सुगनी की जीवन कथा का एक महत्वपूर्ण अंश भी कहा जा सकता है। कहानी हमें दो फिल्मों 'पीके' और 'ओमाईगॉड' के चित्र याद कराती है, जिसमें दूध मूर्तियों पर तो चढ़ाया जाता है लेकिन किसी गरीब टेंगरा के मुँह में नहीं पहुँच पाता जिसे इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। कुल मिलाकर इस कहानी में लेखक ने दूध के महत्व के माध्यम से आदिवासियों के अभावग्रस्त और स्त्री शोषण के अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण पक्षों को कहानी में दिखाया है। एक कर्तव्य परायण शिक्षक को उसके उच्च आदर्शों और उसकी पच्चीस वर्ष की शिक्षकीय सेवा का उन्हें जो सिला मिला उसे संग्रह की 'इम्तहान' कहानी में नरेन बाबू के माध्यम से लेखक ने दिखाया है। साथ ही कहानी में उच्च शिक्षा के चरित्र और उसमें फैले भ्रष्टाचार को भी बखूबी चित्रित किया गया है।

'तरंगों के प्रेत' कहानी में राकेश कुमार सिंह ने सेक्स या पोर्न वीडियो कैसेट के व्यापार को एक शिक्षक ओंकारनाथ शर्मा उर्फ माओ साहब के माध्यम से दर्शाया है। माओ साहब जब अपने एक दोस्त को सारी बातें बताता है कि उसके टेलीविजन पर दो प्रेत दिन रात मैथुनरत रहते हैं जिससे वे बहुत परेशान हैं। प्रेत का नाम सुनकर उसका दोस्त हँसता है और उसे इसके यथार्थ से अवगत कराता है। उनका दोस्त उन्हें बताता है कि 'तेरे पड़ोस में कोई पोर्न का रसिया है।' कलपु बाबू ने घोषणा की।/पोर्न...?/

हाँ! ब्लू फिल्में...यह पक्का है कि तेरे पड़ोस में कोई सेक्स मैनियाक पुरुष बसता है या कोई निम्फोमैनियाक महिला या फिर कोई ढंका छुपा देह व्यापार चल रहा है।'[4] और जब इसका हल पूछते हैं माओ साहब तो उनका दोस्त उन्हें कहता है कि वे केबुल का कनेक्शन ले लें। यह सुनकर माओ साहब को यकीन नहीं होता कि ऐसा संभव है लेकिन एक दिन दूध खरीदने के दुकान पर जाते हैं तो वहाँ वे उन्हीं प्रेतनुमा मुद्राओं के चित्र देखते हैं जो उनके टेलीविजन पर दिखाई देते थे। यह देखकर उन्हें यकीन हो जाता है कि यहीं दूध ब्रेड की दुकान पर नीली फिल्मों का व्यापार चल रहा है। कुल मिलाकर कहानी तीन बिंदुओं पर प्रकाश डालती है। एक सेक्स की वीडियो कैसेट्स के व्यापार पर, दूसरा केबुल कनेक्शन पर, तीसरा अप्रत्यक्ष रूप मोबाइल की दुनिया। जो व्यापार पहले पैसे के माध्यम से इन कैसेट्स के रूप में चलता था, वही व्यापार आज मोबाइल और इंटरनेट डेटा के माध्यम से हर व्यक्ति के घर के उसके कमरे और विस्तर में मौजूद है। सोशल माध्यमों की यदि बात करें तो उनमें भी सेक्स का व्यापार तेजी से फल फूल रहा है। अर्द्धनग्न भारतीय महिलाओं और पूर्ण नग्न विदेशी महिलाओं के माध्यम से आज यह व्यापार मोबाइल के जरिए आपके हाथ में देखा जा सकता है। न चाहते हुए भी आपको यह देखना ही पड़ेगा क्योंकि फेसबुक, इंस्टाग्राम आदि सोशल माध्यम आपको यह दिखाने में लगे हुए हैं। इसके लिए व्यापारी वर्ग उन्हें पूँजी दे रहा है। सीडी/डीवीडी की जगह आज मोबाइल व इंटरनेट ने ली है। केबुल कंनेक्शन का आज केवल मध्यवर्ग या निम्न वर्ग से नाता रहा गया है, आए दिनों में लगता है जिसे स्मार्ट फोन या कोई नए तरह का सस्ता फोन बदल देगा। तकनीक के इस युग में राकेश कुमार सिंह की कहानी 'तरंगों में प्रेत' बहुत से बिंदुओं पर चिंतन करती है जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों का समायोजन समाहित है।

'विरासत' लेखक की छोटी सी कहानी है जिसका उद्देश्य बहुत बड़ा है। एक परिवार के माध्यम से लेखक ने यह उद्घाटित किया है कि हमने अपने माँ-बाप को जो दिया है या जो दे रहे हैं वैसा ही आने वाली पीढ़ी से हम वापिस भी पाएँगे चाहे वे मुख से बोले अच्छे व बुरे शब्द ही क्यों न हों। 'कहानी' शीर्षक कहानी में राकेश सिंह ने एक ऐसे लेखक की या अपने जैसे लेखकों की विवशता को प्रकट किया है जो किसी स्थान, स्थिति, घटना या अन्य किसी चीज पर तब तक नहीं लिखते जब तक वह उन्हें अंदर तक इतना प्रभावित न कर दे कि रचनाकार उस पर लिखे बिना रह न सके। एक कहानी को लिखने के माध्यम से यह कहानी जिन महत्वपूर्ण बिंदुओं को उजागर करती है, वे आज के समय के प्रासंगिक बिंदु हैं जो आज के लेखकों की आई बाढ़ के जरिये समझी जा सकती है।

'मन्नत' कहानी में दो हिन्दू-मुस्लिम दोस्त पात्रों के माध्यम से साम्प्रदायिक दंगे, उसके पीछे के कारणों, उसके प्रभावों तथा उससे लाभ लेने वाले तत्वों जैसे मीडिया, राजनीतिज्ञ, पुलिस प्रशासन आदि को उद्घाटित करते हैं। साथ ही इस कहानी में दोनों

पात्रों के माध्यम से यह भी दिखाने का प्रयास लेखक ने किया है कि दंगे में कुछ लोग राम इकबाल और इकबाल राईन के जैसे भी होते हैं जो ईश्वर से मन्नत माँगते हैं कि 'या मेरे मौला... दंगा दे!'[6] क्योंकि उनके जैसे कई परिवार ऐसे होते हैं कि गरीबी के कारण अपनी बेटियों की शादी नहीं कर सकते क्योंकि लड़के वालों की तरफ से दहेज की भारी माँग की जाती है जिसे पूरा करना इकबाल राईन जैसे व्यक्ति के बस के बाहर है। इस प्रकार अगर कहीं ऐसे परिवार के गाँव में दंगा हो जाता है तो मुआवजे के तौर पर सरकार या प्रशासन उन्हें कई हजार रुपये दे देता है जिससे शायद उनके परिवार की बेटियों की शादी जरूर हो जाये या करने की उम्मीद ही जाग जाए। इसीलिए वे अल्लाह या ईश्वर से दुआ करते हैं कि वे यहाँ भी उनके घर, मुहल्ले या गाँव में दंगा दे दें। 'प्रलय की साँझ' कहानी जलजले या भूकम्प जैसी प्राकृतिक आपदा, उसके प्रभावों को तीन कैदी पात्रों- हत्यारा बाबा खान, जेबकतरा काछिया और शातिर चोर पटेल के माध्यम से रेखांकित करते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश करती है कि भौतिक दुनिया अस्थायी है। स्थायी दुनिया मनुष्य की मनुष्यता में है न कि अमानुषता में। 'बांबी' कहानी एक ईमानदार प्रतिबद्ध, कर्तव्य परायण शिक्षक के माध्यम से वर्तमान शिक्षा प्रणाली के खोखलेपन, उसमें फैले भ्रष्टाचार, शिक्षा का व्यवसायीकरण, शिक्षकों की मूल्यहीनता, छात्रों के पतन आदि कई मुद्दों को सामने लाती है। कुल मिलाकर वर्तमान शिक्षा से जुड़े तमाम मुद्दों को मुन्ना और ईमानदार शिक्षक श्रीनाथ के माध्यम से लेखक ने बड़ी बारीकी से इस कहानी में उजागर किया है।

आदिवासी इलाकों के सच,उनमें नक्सली और भूमिगत संगठनों की चर्चा आम बात है। आम जनमानस या मुख्यधारा के समाज में इनका खौफ किस कदर समाया हुआ है या उनके मन-मस्तिष्क में जबदस्ती डाल दिया गया है कि आदिवासी इलाके बहुत खतरनाक होते हैं जिसे और उसके यथार्थ को कहानी 'डर' में राकेश कुमार सिंह सामने लाते हैं। इसी तरह वर्तमान में जो विकास के दावे किये जाते हैं कि हर घर तक बिजली और सड़क पहुँच गई है लेकिन बिहार के उन पिछड़े आदिवासी इलाकों की हकीकत को भी लेखक उन नियुक्त किये शिक्षकों के माध्यम से सामने लाते हैं- 'अंधेरा घिरते ही मानो कर्फ्यू से लग गया था। कोई इकलौती खुली खिड़की देखने को नहीं मिली थी। गाँव-गाँव बिजली पहुँचाने के सरकारी दावे खोखले थे। कहीं प्रकाश का निशान नहीं था। टूटी-फूटी सड़क थी।'[8]

'खलिश' कहानी डॉ. सगीर रहमानी द्वारा किये गए उस कृत्य की चुभन को बयान करती है जो उसने अपने कॉलेज के दिनों में किया था। दरअसल कॉलेज के दिनों में अनजाने में उससे एक गलती हो जाती है जिसका पछतावा उसे हमेशा रहता है लेकिन दोबारा एक दुर्घटनाग्रस्त ट्रेन के घायल यात्रियों का इलाज करते हुए उसकी सत्यभामा से मुलाकात होती है। पहली नजर में ही वह उसे पहचान जाता है लेकिन सत्यभामा अनजान बनी रहती है। दरअसल ट्रेन हादसे में उसका बेटा प्रशांत घायल हो गया होता

है और उसका इलाज डॉ. रहमानी करते हैं। बस इसी इलाज के दौरान जब प्रशांत ठीक हो जाता है और चिकित्सीय शुल्क अदा करने सत्यभामा डॉ. के पास जाती है तो वह फीस लेने से मना करता है। तब सत्यभामा कहती है कि 'औरत अपना पहला प्रेम और पहला संभोग कभी नहीं भूलती चाहे वह एकतरफा ही क्यों न हो। आरोपित क्यों न हो। ...तुम भले कहो कि तुम वही हो पर मैं देख रही हूँ सगीर, अब तुम वह नहीं हो।'[9] पश्चाताप ने उसे बदल दिया था। अब वह बलात्कारी रहमानी नहीं बल्कि पश्चातापी डॉ. सगीर रहमानी है। इसीलिए सत्यभामा उसे माफी देती है और उसकी खलिश को मिटा देती है- 'मैं तुम्हें तुम्हारे भय और द्वंद्व से मुक्त करके विदा होना चाहती हूँ सगीर। सच कहो, क्या इसी फीस के तलबगार नहीं तुम डॉक्टर?/ 'मैं...मैं... मेरा गुनाह...' रहमानी का गला रुंध गया।/' तो डॉ. सगीर रहमानी, मैं सत्यभामा सिंह तुम्हारा गुनाह बख्शती हूँ।'[10] इस प्रकार उसकी खलिश सत्यभामा अंत में मिटा देती जिससे उसके दिल और दिमाग का बोझ उतर जाता है और उसकी वासना का रोपा हुआ बीज प्रेम में परिवर्तित हो जाता है।

'गुरुर्ब्रह्मा' गुरु के प्रति शिष्य की सच्ची भक्ति और प्रेम प्रदर्शित करने वाली कहानी है। नंदू माँझी और सत्यवती का प्रेम केवल शारीरिक न हो होकर आध्यात्मिक और मानसिक कहा जा सकता है। दरअसल लेखक इस कहानी के माध्यम से एक तरफ जहाँ शारीरिक प्रेम से ज्यादा मानसिक प्रेम को दिखाते हैं, वही दूसरी तरफ आदिवासी इलाकों में सक्रिय भूमिगत संगठनों को दिखाते हैं कि किस प्रकार वे मजबूर व्यक्ति की मजबूरी का लाभ लेकर उसे अपने गिरोह में शामिल कर लेते हैं। तीसरे वे गुरुभक्ति के सच्चे उदाहरण पेश करते हैं जो आज के शिष्यों के लिए सीख है। वे यह भी दिखाते हैं कि सच्चा गुरु आपमें चेतना का विकास करता न कि आपको इस्तेमाल करता है या आपकी अंधभक्ति का कायल होता है। सच कहें कहानी कई मायनों में महत्वपूर्ण है जिसे विस्तार से समझने के लिए लेखक का 'जहाँ खिले हैं रक्त पलाश' उपन्यास पढ़ा जा सकता है जो इसी कहानी का विस्तृत रूप है। 'डॉन क्विकजोट' कहानी एक सृजनात्मक लेखन करने वाले हर उस लेखक की रचना है जो कितना भी अच्छा लिख ले, उसकी कहानी/लेख/व्यंग्य प्रकाशित नहीं हो पाता था। संग्रह की अंतिम कहानी 'अतीत की विदाई' में मध्यवर्ग और उच्च वर्ग के दो पात्रों की मानसिकता को सामने लाकर कहानीकार यह दिखाना चाहते हैं कि सुख-चैन, ऐशोआराम आदि भौतिक सुविधाओं का महत्व तभी है, जब हम सच्चे इंसान की कद्र करें, समझें, उसका सम्मान करें और जितना आपके पास है उसी में जियें क्योंकि ज्यादा की चाह में आप वह भी खो सकते हैं, जो आपके पास है। निष्कर्ष रूप में कहें तो राकेश कुमार सिंह वर्तमान दौर के ऐसे विरले लेखक हैं जो हिंदी कथा साहित्य के अनछुए पक्षों को इस कहानी संग्रह में पाठकों के सामने लाते हैं।

संदर्भ :

1. सिंह, राकेशकुमार,रूपनगर की रूपकथा, रुद्रादित्य प्रकाशन, प्रयागराज, पृष्ठ-16
2. वही, पृष्ठ-22
3. वही, पृष्ठ-24
4. वही, पृष्ठ-40
5. वही, पृष्ठ-55
6. वही, पृष्ठ-66
7. वही, पृष्ठ-73
8. वही, पृष्ठ-87
9. वही, पृष्ठ-103
10. वही, पृष्ठ-104

पीएच.डी. शोधार्थी,
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
केन्द्रीय विश्वविद्यालय जम्मू,
साम्बा-181143

अनुवाद एवं अनुवाद चिंतन की परंपरा

डॉ. बालासाहेब सोनवने

समाज में व्यक्तियों के बीच आपसी विचार विनिमय हेतु भाषा का जन्म हुआ और दो भाषा भाषी व्यक्तियों या समुदायों में विचार विनिमय आसान तथा संभव बनाने के लिए अनुवाद का जन्म हुआ। अनुवाद का आरंभ शायद भाषा क्षेत्रों की सीमा पर दो या दो से अधिक भाषाओं के जानकारों द्वारा हुआ होगा। अन्य भाषा के क्षेत्र में रहने के कारण वहाँ की भाषा सीख गए होंगे। अतः कहा जाना गलत नहीं होगा कि अनुवाद की प्राचीनतम परंपरा भाषा के जन्म के उपरांत कुछ ही समय बाद शुरू हुई होगी। इतना ही नहीं, अनुवाद की ये परंपरा लंबे समय तक मौखिक रही होगी तथा लिपि के उद्भव एवं विकास के साथ मौखिक अनुवाद की परंपरा चलती रही होगी। किंतु यह मात्र अनुमान है। ईशा पूर्व लगभग 3000 वर्ष पहले असीरिया का राजा सेरोगोन ने अपने बहुभाषा-भाषी साम्राज्य में अपने वीरतापूर्ण कार्य की घोषणा विभिन्न भाषाओं में कराया था। उक्त आह्वान मूलतः वहाँ की राजभाषा असीरियन में लिखी जाती थी और फिर विभिन्न भाषाओं में अनूदित होती थी। विश्व में अनुवाद का अब तक ज्ञात यह प्राचीनतम उल्लेख है।

दूसरा उदाहरण करीब 21 सौ वर्ष इसवी पूर्व हम्मूरबी के शासनकाल में बेबीलोन शहर का है। कहा जाता है कि वहाँ की जनता के लिए विभिन्न भाषाओं में अनुवाद कराए जाते थे। चौथी-पाँचवीं सदी में यहूदियों में सामूहिक रूप से धर्मग्रंथ सुनाने की परंपरा थी। सुनने वालों में कुछ हिब्रू भाषा ठीक से समझ नहीं पाते तो उन्हें दुभाषिए आमेइक भाषा में अनुवाद करके समझाते थे। अगर देखा जाए तो विश्व का प्राचीनतम प्राप्त अनुवाद दूसरी सदी ई.पू. का है जो रोजेटा प्रस्तर पर है, जिसमें हिरोग्लाइफिक तथा देमांतिक लिपियों में मिस्र के इतिहास तथा संस्कृति संबंधी मूल सामग्री है, जिसका पुरानी भाषा में अनुवाद भी है।

पश्चिम में अनुवाद की व्यवस्थित परंपरा बाइबिल के अनुवादों से चली। बाइबिल की पुरानी पोथी हिब्रू भाषा में है। मिस्र तथा एलल्कजैदिया में काफी यहूदी थे, जो यूनानी भाषा जानते थे। उन्हें हिब्रू नहीं आती थी। इनके लिए यूनानी में पुरानी भाषा के अनुवाद की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिमाणतः तीसरी दुनिया में दूसरी सदी में उसके कई यूनानी अनुवाद किए गए। ऐसे अनुवादों में से सेप्टुआगित नामक अनुवाद प्राचीनतम है।

यूनानियों के उपरांत अनुवाद की परंपरा में रोमियो का नाम आता है। रोमियो द्वारा अनूदित ग्रंथों को मुख्यतः दो वर्गों में रखा जाता है। पहला धार्मिक तथा दूसरा ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु लैटिन में भी बाइबिल की माँग होने पर इस माँग की पूर्ति हेतु रोमियो द्वारा लेटिन में किया गया बाइबिल का अनुवाद है जिसमें सबसे प्रसिद्ध चौथी सदी के सेंट जेरोम द्वारा किया गया अनुवाद है। अन्य अनुवादों में नाटक आदि साहित्य ग्रंथों के लैटिन में अनुवाद हुए। लगभग 240 ईसवी पू. में लिवियस हेंद्रो निकस की आदिसी का

लैटिन में अनुवाद किया गया। बाद में नरविअस तथा एनिअस ने कई नाटकों के अनुवाद किए। इस तरह अनुवाद का आरंभिक विकास यूनानी हो तथा रोमानिया ने किया। इस दिशा में उन्होंने अपना रास्ता स्वयं बनाया।

अरब में प्राचीन काल से अनुवाद की समृद्ध परंपरा मिलती है जहाँ से भारत का सबसे प्राचीन संबंध है। उन्होंने संस्कृत साहित्य का अनुवाद करना शुरू किया। ये अनुवाद आठवीं- नौवीं-दसवीं सदियों में ज्यादातर हुए। अंकगणित, रेखागणित, खगोल विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा, तर्कशास्त्र जैसे अनेक विषयों के अनूदित ग्रंथ मिलते हैं। प्लेटो, अरस्तू आदि लेखकों की महत्वपूर्ण कृतियों के अरबी अनुवाद किए गए। मध्य युग में इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए यूरोप में ग्रीक में लिखे धार्मिक निबंधों का पादरियों ने लेटिन में अनुवाद किए। बेदे ने 735 ईसवी में जॉन के गॉस्पल का अनुवाद किया। 12वीं सदी में यूनानी अरबी सीरियाई आदि भाषाओं से भी अनुवाद होते रहे। सोलहवीं सदी में अनुवाद के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति प्रोटेस्टेड धर्म समर्थक जर्मनी के मार्टिन लूथर थे। लूथर द्वारा जर्मन भाषा में किया गया बाइबिल का अनुवाद काफी प्रभावी रहा। अनुवाद संबंधी मार्टिन लूथर के सिद्धांत के रूप में सात-आठ बातें बताई जाती हैं, जिनका अनुवाद में उपयोग होता रहा।

भारतीय अनुवाद चिंतन की परंपरा में संभवतः सर्वप्रथम पंचतंत्र का पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ जो हकीमपुर बुजोई ने खुसरो के अनौशेरवा के शासनकाल में किया। इसके बाद अब्दुल्ला इब्न अल मूसा ने अरबी भाषा में अनुवाद किया। सन् 1657 में दारा शिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया। आधुनिक युग में महाभारत, रामायण, प्रबंध काव्य, गद्य, काव्य, नाटक साहित्य और स्मृति ग्रंथ, चिकित्सा, विधि आदि से संबंधित संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, फारसी, चीनी, सिंहली आदि भाषाओं में हुए हैं। उदाहरण के रूप में देखें तो ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का अनुवाद फ्रीडिकरोजन ने लेटिन में किया। संपूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद एच. एल विल्सन तथा आर टी. एच. ग्रिफिथ ने अंग्रेजी में किया है। उपनिषदों में से 11 उपनिषदों का जी.ए. जैकब ने अंग्रेजी में अनुवाद किया। सूत्र साहित्य के अंतर्गत पाणीनीय शिक्षा का अंग्रेजी अनुवाद मनमोहन घोष ने किया। बाद में उल्लेख सूत्र का जर्मन भाषा में अनुवाद किया गया। व्याकरण ग्रंथों में से लघु सिद्धांत कौमुदी का अनुवाद वीवी मिरासी ने किया।

वैदिक साहित्य के उपरांत रामायण, महाभारत और पुराणों के अनुवाद अन्य भाषाओं में होते रहे। अंग्रेजी में वाल्मीकि रामायण का प्रबंध अनुवाद आरसीएच ग्रिफिथ ने किया। महाभारत का अंग्रेजी में अनुवाद प्रताप चंद्र राय ने दो भागों में किया। पुराणों में श्रीमद्भागवत का अंग्रेजी में अनुवाद जे.एच सान्याल ने किया। संस्कृत में अनेक महाकाव्य, नाटकों और गीतिकाव्य के अनुवाद विदेशी भाषाओं में हुए। मेघदूत का भारतीय भाषाओं के साथ ही अंग्रेजी जर्मन, फ्रेच इटालियन और तिब्बती भाषा में अनुवाद हो चुके हैं। मेघदूत की तरह अभिज्ञान शाकुंतलम का भी अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में

अनुवाद हुआ है।

हिंदी में अनुवाद चिंतन की परंपरा लगभग 19वीं शताब्दी से मानी जा सकती है। इस दिशा में भारतेंदु जी ने महत्वपूर्ण कार्य किया। भारतेंदु ने स्वयं अंग्रेजी, संस्कृत और बांग्ला में प्रचुर मात्रा में अनुवाद किए हैं। अंग्रेजी से शेक्सपियर के मर्चेंट ऑफ वेनिस का हिंदी में 'दुर्लभबंधु' तथा बंगला से यतीन्द्र मोहन ठाकुर के नाटक का हिंदी में 'विद्या सुंदर' जैसे अनेक अनुवाद इसके प्रमाण हैं। भारतेंदु के बाद इस परंपरा को आगे बढ़ाने का काम महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। उन्होंने वैराग्य शतक, कुमार संभव, भगिनी विलास जैसे निबंधों का हिंदी में अनुवाद किया और इसी परंपरा को आगे बढ़ाने का काम श्रीधर पाठक करते रहे। मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस परंपरा को आगे बढ़ाते हुए उमर खय्याम की रुबाई का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया। आचार्य रामचंद्र शुक्लजी ने अंग्रेजी और बांग्ला से हिंदी में अनेक सफल अनुवाद किए। रिडन ऑफ द यूनिवर्स का 'विश्व प्रपंच', लाइट ऑफ एशिया का 'बुद्धचरित' नाम से अनुवाद कर उक्त परंपरा को शिक्षा का आधार प्रदान किया।

गार्गी गुप्ता ने अनुवाद विषयक अपना मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया। सर्जनात्मक प्रक्रिया, मूल्य का पुनर्गठन समतुल्य विषयक अपने विचार रखे हैं। आगे चलकर अनुवाद और भाषा विज्ञान विषय का अपना मूल्य चिंतन प्रस्तुत कर अनुवाद को एक महत्वपूर्ण दिशा भोलानाथ तिवारी जी ने दी। इस दृष्टि से हिंदी में अनुवाद चिंतन की परंपरा को पांच भागों में विकसित हुए देखा जा सकता है-

१. अनुवादकों की भूमिका के रूप में
२. स्वतंत्र लेखों के रूप में
३. थीसिस के रूप में
४. स्वतंत्र पुस्तक के रूप में
५. समय-समय पर होने वाली गोष्ठियों के रूप में

सारांश के रूप में देखा जाए तो वर्तमान में हिंदी जगत अनुवाद के जरिए विकसित एवं समृद्ध होता जा रहा है। विश्व स्तर पर अनुवाद का बढ़ना, हिंदी से अन्य भाषाओं में और अन्य भाषाओं से हिंदी में अनुवाद तथा बढ़ती अनुवादकों की संख्या हिंदी जगत के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

संदर्भ :

१. अनुवाद विज्ञान (डॉ. भोलानाथ तिवारी), २. अनुवाद विज्ञान सिद्धांत और अनुप्रयोग (डॉ नगेंद्र, ३. अनुवाद संवेदना और सरोकार (डॉक्टर सुरेश सिंहल), ४. अनुवाद विज्ञान स्वरूप एवं व्याप्ति (डॉक्टर पितांबर सरोदे), ५. अनुवाद क्या है (राजूरकर और राजमल बोरा)

कैंप एजुकेशन सोसायटी
डॉ. अरविंद तेलंग महाविद्यालय निगड़ी, पुणे

महात्मा ज्योति राव फुले

डॉ. स्मृति चौधरी

'अगर देखनी हो मेरी पंखों की परवाज
तू आसमां से कह दे थोड़ा और ऊँचा हो जाए'

हमारी कई आदर्शवादी धारणाएँ हकीकत के आईने में मजाक जैसी लगती हैं। धर्म से लेकर संस्कृति तक के तमाम आख्यानों में हमारे यहाँ बड़े गर्व से कहा जाता है- 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता' अर्थात जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवताओं का वास होता है। अगर यह सच है तो फिर हमारे यहाँ सचमुच देवता नहीं दानवों का वास है क्योंकि तथ्य इस सच्चाई की चीख-चीख कर तस्दीक करते हैं कि प्राचीन काल एवं मध्य युगीन काल में नारियों की दशा अत्यंत दयनीय स्थिति में थी। अशिक्षा के कारण समाज में उनकी स्थिति शोचनीय स्तर पर थी। नारी को इंसान के रूप में देखने के प्रयास संभवत कम ही हुए हैं। उसे अपने अधिकारों से वंचित किया गया। अशिक्षा, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, बाल विवाह, तलाक प्रथा जैसे अनेक मुद्दों ने हमारे समाज को जकड़ा और सारे मुद्दों में नारी ही ध्रुवीकरण का केंद्र बनी। इन सब में मुख्य मुद्दा था अशिक्षा का। शिक्षा के अभाव में स्त्री विकास संभव नहीं था। ब्रिटिश शासन के दौरान महिलाओं की स्थिति में मामूली बदलाव शुरू होने लगे थे और उसके मुख्य कर्णधार थे महात्मा ज्योतिबा फुले एवं सावित्री बाई फुले। इन दोनों ने स्त्री शिक्षा का बीड़ा उठाया क्योंकि वे इस बात को बार-बार कहते थे कि स्त्री शिक्षा के बिना महिलाओं का उत्थान संभव नहीं है। अगर महिलाओं को जागृत करना है तो उन्हें शिक्षित होना पड़ेगा। तभी वह समाज में अपना स्थान बना सकती है। इन दोनों ने इसी विचारधारा को लेकर अपना संघर्ष शुरू कर दिया था। फुले दंपति के अलावा 19वीं सदी में शायद ही कोई ऐसी शख्सियत होगी, जिन्होंने अपनी पूरी जिंदगी वंचित समाज की शिक्षा और उत्थान के लिए लगाया होगा। जात-पात, अछूत प्रथा, ब्राह्मणवाद, अंधविश्वास, महिलाओं की दुर्दशा, किसानों और मजदूरों के शोषण के खिलाफ संघर्ष में सावित्रीबाई फुले को उनके जीवन-साथी महात्मा ज्योति राव फुले का बराबर सहयोग मिलता रहा। ज्योतिबा यह जानते थे, कि देश व समाज की वास्तविक उन्नति तब तक नहीं हो सकती, जब तक देश का बच्चा-बच्चा जाति-पाँति के बंधनों से मुक्त नहीं हो जाता और जब तक देश की नारियों को समाज के प्रत्येक क्षेत्र में समान अधिकार नहीं प्राप्त होते। इसके लिए उन्होंने स्त्री शिक्षा की नींव रखी। सबसे पहले उन्होंने सावित्रीबाई फुले को पढ़ना-लिखना सिखाया क्योंकि वह कहते थे कि शिक्षा की धार से गुलामी की जंजीर कट सकती है। इसी विचारधारा को मुख्यधारा बनाकर फुले दंपति ने कदम से कदम मिलाकर समाज का उत्थान किया। ज्योतिबा फुले सावित्रीबाई फुले दोनों जीवन साथी होने के साथ-साथ एक दूसरे की हिम्मत भी थे। सावित्रीबाई फुले तो ज्योति राव जी को अपना शिक्षक भी मानती थीं और उनके बताए

रास्तों को तय भी करती थीं। ज्योतिबा मानते थे, कि शिक्षा के बिना शूद्र और अतिशूद्र महिलाओं को मुक्ति नहीं मिल सकती। उन्होंने लिखा है-

विद्या बिना मति गई
मति बिना नीति गई
नीति बिना गति गई
गति बिना वित गया
वित बिना शुद्र टूटे
इतने अनर्थ एक विद्या ने किया***

ज्योति राव फुले अविद्या को सारे अनर्थों की जड़ मानते थे। उन्होंने बार-बार इस बात को रेखांकित किया है कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने जान बूझकर शूद्रों अतिशूद्रों और महिलाओं को शिक्षा से दूर रखा ताकि दास बना कर रखा जा सके, उनका शोषण किया जा सके। शिक्षा की महत्ता को समझते हुए उन्होंने अपनी बुआ सगुनाबाई के साथ मिलकर सावित्रीबाई को पढ़ना-लिखना सिखाया। सावित्रीबाई ने पूर्ण शिक्षा ग्रहण करने और अध्यापन कार्य का प्रशिक्षण लेने के बाद ज्योतिबा फुले के साथ शूद्रों, अतिशूद्रों और महिलाओं की मुक्ति के लिए एक साथ जीवन-संघर्ष में उतरीं। शूद्रों और अतिशूद्रों और महिलाओं की शिक्षा की जरूरत के संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि मेरे देश बंधुओं में महार, मांग, चमार दुख और अज्ञान में डूबे हुए हैं। स्त्रियों की शिक्षा ने उनका ध्यान सबसे पहले आकर्षित किया क्योंकि स्त्री ही परिवार की रचनाकार है। अगर वह अशिक्षित होगी तो परिवार अंधकार में होगा और अशिक्षा के गर्त में जाएगा। स्त्री ही बच्चों पर संस्कार डालती है। उसी में उन बच्चों के भविष्य के बीज होते हैं। ज्योतिराव फुले और सावित्रीबाई फुले ने स्त्री शिक्षा का बीड़ा उठाया था और अपनी कल्पना और आकांक्षाओं से एक न्याय संगत और एक समान समाज बनाने के लिए 1848 में लड़कियों के लिए एक स्कूल खोला। यह देश का पहला लड़कियों के लिए विद्यालय था। उनकी पत्नी सावित्रीबाई अध्यापन का कार्य करती थीं। उनका स्कूल खोलना एक क्रांतिकारी कदम था। आगे और भी इस तरह के स्कूल खोले गए। 4 वर्षों में करीब 18 स्कूल खुल चुके थे और उनमें पढ़ने वालों में सब महिलाएँ थीं। जो महिलाएँ दलित पिछड़े इत्यादि वर्ग से थीं, वो भी इनमें शामिल थीं। हालाँकि फुले दंपति को प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणों का जबरदस्त विरोध झेलना पड़ा, उनके ऊपर गोबर फेंके गए। जानलेवा हमला भी हुआ उन पर। एक उच्च शोचनीय घटना यह भी हुई कि उन्हें उस समय अपना घर छोड़ने के लिए मजबूर किया गया। इस तरह के दबाव और धमकियों के बावजूद वे अपने लक्ष्य से नहीं भटके और सामाजिक बुराई के खिलाफ लड़ते रहे, उनके खिलाफ लोगों में चेतना फैलाते रहे। इसका असर लोगों पर भी होने लगा। बहुत से लोगों की सोच बदली और अपनी बेटियों को फुले दंपत्ति के स्कूल में भेजना शुरू किया। और यहीं से हुआ नए युग का उत्थान। जिस स्त्री शिक्षा का सपना लेकर इस दंपति ने यह युद्ध आरंभ किया

था, उस पर विजय की मुहर लग चुकी थी। बदलते समाज की जो कल्पना की थी, वह आज पूर्ण हो रहा था।

1873 में लिखी गई मशहूर और अहम किताब 'गुलामगिरी' में ज्योतिबा फुले ने कहा कि इस गुलामी और शोषण से निजात अगर पाना है तो शिक्षा लो और अज्ञानता दूर करो। शिक्षा से ही शूद्र और अतिशूद्र अपनी परिनिर्भरता को समझ पाएँगे। अज्ञानता, रीति रिवाज, रूढ़िवादी परंपराओं की बेड़ियों में बंधे-बंधे पिछड़ गए सबसे। परिमाण स्वरूप गरीबी के तेजाब में झुलस गए। शिक्षा का मार्ग ही नारी-मुक्ति का मार्ग है। स्वाभिमान से जीने हेतु बेटियों को खूब पढ़ाओ। पाठशाला रोज जाकर नित अपना ज्ञान बढ़ाओ। हर इंसान का सच्चा आभूषण शिक्षा है। हर स्त्री को शिक्षा का गहना पहनना है। हमारा समाज जो अपंग था, निष्प्राण था, उसमें प्राण भरने का जो कार्य इस दंपति ने किया, वह सदैव अविस्मरणीय रहेगा और खासकर स्त्री शिक्षा का जो युद्ध आरंभ किया, वह इतिहास में सदैव याद रखा जाएगा। उनका यह सराहनीय कार्य समाज के युवाओं के लिए प्रेरणा स्त्रोत बनकर रहेगा क्योंकि एक स्त्री ही परिवार का, इस समाज का, इस देश का आधार स्तंभ होती है। अगर हमारा आधार स्तंभ ही कमजोर रहेगा तो वह सदैव उन्नति में बाधक रहेगा। इसलिए आधार स्तंभ का मजबूत होना अत्यंत आवश्यक है। इन्होंने अपने सारे सुख त्याग करके स्त्री शिक्षा से स्त्री को जागृत तो किया ही, साथ ही उन्हें स्वावलंबी बनाया। अपने अधिकारों के प्रति जागृत भी किया। इसलिए वे गुलामी की जंजीर से बाहर निकालकर स्त्रियों के लिए भगवान स्वरूप वंदनीय रहेंगे। भारतीय महिलाओं की स्थिति बड़ी दयनीय थी। पुरुष वर्चस्व की मार झेल रही स्त्रियों का स्वाभिमान और आत्म गौरव ध्वस्त हो चुका था। इसे उन्होंने अपनी किस्मत मान कर समझौता कर लिया था। इसलिए उस समय में फुले दंपति ने महिलाओं को सामाजिक शोषण से मुक्त करने, उनकी समान शिक्षा के लिए पुरजोर प्रयास किया और आज वे एक इतिहास निर्माता नायक की तरह पूजनीय हैं।

फूले दंपत्ति ने सामाजिक हित के लिए अपने व्यक्ति हित को भी दाव पर लगाया था क्योंकि यह काम महिलाओं को सिर्फ शिक्षित करने तक सीमित नहीं था। वो चाहते थे कि महिलाओं को सभी क्षेत्रों में बराबरी का सम्मान मिले, अधिकार मिले, जो पुरुषों को प्राप्त है। इसके लिए उन्होंने ब्राह्मणवादी विवाह पद्धति की जगह 'सत्यशोधक विवाह पद्धति' की शुरुआत की, जिसमें लड़के-लड़कियों की सहमति आवश्यक थी। न तो पुरोहित का कोई स्थान नहीं था, न कन्यादान का होना था। इसके साथ-साथ समाज की अन्य समस्याओं की ओर भी उन्होंने ध्यान देना आरंभ किया। सबसे खराब हालत विधवाओं की थी। वे ज्यादातर उच्च जातियों के ब्राह्मण परिवारों से थीं। वे विधवा विवाह के समर्थक थे और ऐसी महिलाओं से बहुत सहानुभूति रखते थे, जो शोषण का शिकार हुई थीं या किसी कारणवश परेशान थीं। इसलिए उन्होंने ऐसी महिलाओं के लिए अपने दरवाजे खुले रखे थे, जहां उनकी देखभाल की जाती थी। ज्योतिबा फुले को 19 वीं

सदी का प्रमुख समाज सेवक माना जाता है। उन्होंने भारतीय समाज में फैली कुरीतियों को दूर करने के लिए वैसी ही बेचैनी दिखाई जैसी कोई व्यक्ति बहुत दिनों तक जेल के अंदर अपनी जिंदगी गुजारने वाला अपने भाई बहनों से मिलने के लिए, स्वतंत्र रूप से आजाद पंछी की तरह घूमने के लिए, जेल से मुक्त होने के दिन का इंतजार करता है। ऐसे समय खुशकिस्मती कहिए कि ईश्वर को उन पर दया आई। इस देश में अंग्रेजों की सत्ता जाने के बाद लोकशाही आई और हम शारीरिक गुलामी से मुक्त हुए। विडंबना देखिए कि आज महिलाओं को अच्छी-बुरी पवित्र-अपवित्र, पतिव्रता या कुलटा के रूप में परिभाषित किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्र में आज भी ऐसे रीति रिवाज हैं, जिनमें महिलाओं से इस आधार पर भेदभाव किया जाता है। आज भी कस्बों में स्त्रियाँ बड़ा ही कठिन जीवन जीती हैं। सच कहूँ तो सावित्रीबाई फुले की तरह ही हर एक स्त्री को पूरी कर्मठता से दूसरी स्त्रियों के बारे में पूरी ईमानदारी से अपना प्रथम कर्तव्य समझ मन से इस काम में जुड़ जाना चाहिए क्योंकि गाँव में स्त्रियों का आज भी पिछड़ा रहना एक चुनौती है। अतः जागरूक स्त्रियों की प्रथम जिम्मेदारी है तभी उनकी जागरूकता हमारे सच को प्रकट कर पाएगी।

अंत में यह कहना समीचीन होगा कि फुले दंपति ने देश, समाज और संस्कृति की तमाम बुराइयों के लिए संघर्ष करते हुए एक स्वस्थ, सुंदर, सुदृढ़ समाज का निर्माण किया। वे समाज सेवा को ही ईश्वर-सेवा मानते थे। महाराष्ट्र में सामाजिक सुधार के जनक समझे जाने वाले महात्मा फुले ने आजीवन सामाजिक सुधार हेतु कार्य किया। मानव-मानव के बीच का भेद उन्हें असहनीय लगता था। उनकी सेवा, उनके इसी बलिदान के कारण उन्हें 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित किया गया। फुले दंपति एक पथ-प्रेरक के रूप में सदैव याद किए जाते हैं। उनका बलिदान अविस्मरणीय रहेगा।

कैंप एजुकेशन सोसायटी
निगड़ी पुणे

शास्त्री नित्य गोपाल कटारे की 'देख प्रकृति की ओर' तथा 'जल ही जीवन है' का वनस्पति शास्त्रीय अनुशीलन

प्रा. अलोक गुडे
डॉ. भगवती उपाध्याय

कविता का प्रमुख उद्देश्य कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक संप्रेषण करना रहा है। 'कविता और माननीय संवेदना के बीच गहरा संबंध है। कवि अपनी अनुभूति, विचार, संकल्प और संवेदनाओं को कविता द्वारा संप्रेषित करता है।'[1] कविता के संदर्भ में यही विचार गोपाल दास सक्सेना 'नीरज' ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है-

'आत्मा के सौंदर्य का शब्द रूप है काव्य,
मानव होना भाग्य है कवि होना सौभाग्य।'[2]

ऐसे ही एक सौभाग्यशाली कवि हैं शास्त्री नित्य गोपाल कटारे। कटारे जी मूल रूप से संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान हैं। शास्त्री जी ने संस्कृत में सौंदर्य दर्शनम्, संस्कृत हाइकू, संस्कृत लोक गीतम्, नर्मदा स्तुति, आगच्छ कृष्णः तथा जयतु मध्यप्रदेश जैसी रचनाएँ लिखी हैं। उन्होंने हिन्दी में धरती माता' जल ही जीवन है, देख प्रकृति की ओर, देखो वसंत आया, भारत भूमि, वर्षा ऋतु, सतपुड़ा के महाजंगल, नर्मदा की धारा तथा होली जैसी रचनाएँ लिखकर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है। प्रस्तुत शोधालेख में हमने शास्त्री जी की दो प्रमुख कविताओं का वनस्पति शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

'जल ही जीवन है' कविता में कवि ने एक ओर जल को जीवन का मूल आधार माना है, वहीं दूसरी ओर जल को सृष्टि के उद्‌गव तथा सृष्टि के विनाश अर्थात् प्रलय का कारण भी माना है। इस संदर्भ में शास्त्री नित्य गोपाल कटारे जी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

'जल ही जीवन है / जल से हुआ सृष्टि का उद्‌गम /
जल ही प्रलय घन है/ जल पीकर जीते सब प्राणी / जल ही जीवन है।'[3]

जल केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं, बल्कि अन्य जीवधारियों के लिए भी परम आवश्यक संसाधन है।' कवि ने कविता की अगली पंक्तियों में जल की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए, उसके भौतिक, रासायनिक तथा प्राकृतिक गुणों का परिचय दिया है। कवि के अनुसार जल की तासीर ठंडी होती है। जल गंध हीन होता है। जल पारदर्शी तथा निराकार होता है। जल द्रव रूप में मौजूद होने के कारण जिस पात्र में रखा जाता है' उसी पात्र का आकार ग्रहण कर लेता है। जल को ठोस, द्रव तथा गैस तीनों अवस्थाओं में स्थिर किया जा सकता है। जल को शून्य डिग्री के तापमान पर नीचे लाते ही बर्फ के रूप में ठोस अवस्था में स्थिर किया जा सकता है। उसी बर्फ को पुनः उच्च तापमान पर ले जाने के बाद उसे द्रव रूप में प्राप्त किया जा सकता है। इसी जल को १०० डिग्री तापमान पर

गर्म करने के बाद वाष्प में बदला जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जल एक ऐसा प्राकृतिक संसाधन है, जो ठोस, द्रव तथा गैस तीनों अवस्थाओं में पाया जाता है। जल स्वच्छता का प्रतीक तो है ही, वह तीनों गुणों सत्व, रज तथा तम का परिचायक भी है। जल का स्पर्श बड़ा सुखकर होता है। उसका स्वाद तृप्तिकारक तथा झरने के रूप में दिव्य तथा सुदर्शन होता है, इस सन्दर्भ में कवि की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

'सहित स्पर्शी शुचि सुख सर्वस / गंध रहित युत शब्द रूप रस /
निराकार जल ठोस गैस द्रव / त्रिगुणात्मक है सत्व रज तामस /
सुखद स्पर्श सुस्वाद मधुर ध्वनि / दिव्य सुदर्शन है।'[4]

कवि के अनुसार जल एक नैसर्गिक संसाधन है। जिसकी उपस्थिति इस भू - मंडल में यत्र - तत्र - सर्वत्र है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर जल अपनी अलग -अलग अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। इस संदर्भ में शास्त्री नित्य गोपाल कटारे जी की ये पंक्तियाँ पढ़ने योग्य हैं -

'भूतल में जल सागर गहरा / पर्वत पर हिम बनकर ठहरा /
बनकर मेघ वायु मंडल में / घूम घूम कर देता पहरा /
पानी बिन सब सून जगत में / यह अनुपम धन है।'[5]

इस प्रकार कवि ने जल को एक अनुपम निधि माना है। कवि का मानना है कि जल वनस्पति जगत के लिए भी उतना ही उपयोगी है, जितना प्राणि जगत के लिए। मनुष्य के शरीर में 70 प्रतिशत भाग जल अथवा तरल पदार्थ के रूप में मौजूद है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जल की उपयोगिता कुछ अधिक बढ़ जाती हैं। कृषि योग्य भूमि वनों, उपवनों, झाड़ियों एवं घासों के लिए भी जल नया जीवन लेकर आता है। हमारे देश की फसलें मानसून की वर्षा पर निर्भर करती हैं। कृषकों को मानसून की वर्षा का बेसब्री से इंतजार रहता है, ताकि उनकी फसलों की पैदावार बढ़ सके। अर्थात् जल हमारी कृषि, सिंचाई, उद्यान विभाग, पुष्प उत्पादन तथा फल सब्जियों के उत्पादन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाना है। जिस वर्ष वर्षा समय पर होती है, अच्छी मात्रा में होती है, उस वर्ष किसान भाइयों के चेहरे खिल उठते हैं, इस प्रकार जल का संबंध हमारी कृषि अर्थव्यवस्था से भी है। इसीलिए शास्त्री जी कहते हैं -

'बादल अमृत सा जल लाता / अपने घर आँगन बरसाता /
करते नहीं संग्रहण उसका / तब बह बह कर प्रलय मचाता /
त्राहि - त्राहि करता फिरता कितना मुख / मन है।'[6]

उक्त पंक्तियों में कवि ने यह संकेत किया है कि एक ओर जल प्राणी जगत तथा वनस्पति जगत के लिए अमृत तुल्य है, वहीं दूसरी ओर उसका सही संग्रहण (भंडारण) न हो पाने के कारण वह बाढ़ जैसी तबाही लेकर आता है। इस तरह कवि ने उक्त पंक्तियों में वर्षा जल संग्रहण (Rain Water Harvesting) का संदेश भी दिया है। 'देख

प्रकृति की ओर' कविता नित्यगोपाल शास्त्री जी की पर्यावरण से जुड़ी दूसरी महत्वपूर्ण रचना है। इसमें कवि ने समाज को विविध प्रकार के प्रदूषणों जैसे - वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण तथा ध्वनि प्रदूषण आदि के प्रति जागरूक करते हुए चेतावनी दी है कि मनुष्य की अत्यधिक महत्वाकांक्षा कहीं उसके अस्तित्व का विनाश न कर दे। इस संदर्भ में उनकी 'देख प्रकृति की ओर' कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

'वायु प्रदूषित नभ मंडल / दूषित नदियों का पानी /
क्यों विनाश आमंत्रित करता है / मानव अभिमानी /
अंतरिक्ष व्याकुल सा दिखता / बढ़ा अर्नगल शोर / देख प्रकृति की ओर।'[7]

आधुनिक मानव की विकासोन्मुख अत्यधिक महत्वाकांक्षा के कारण विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हो रहा है। अत्यधिक दोहन ओर शोषण से मनुष्य विनाश के द्वार पर खड़ा है। यातायात के अत्यधिक साधनों तथा फैक्ट्रियों से निकलने वाले धुँवे के कारण वायु प्रदूषित हो चुकी है। कारखानों - फैक्ट्रियों से निकलने वाले जहरीले रसायनों के कारण नदियों का जल प्रदूषित हो चुका है। गन्दी नालियों की निकासी नदियों में होने के कारण नदी का जल पीने योग्य तो छोड़िये, सिंचाई के योग्य नहीं रह गया है। मशीनों' वाहनों तथा सायरनों की आवाज ने अत्यधिक ध्वनि प्रदूषण उत्पन्न कर दिया है। ध्वनि प्रदूषण से बच्चे, बूढ़े तथा बीमार सभी त्रस्त हो गए हैं। कवि ने भारत के समृद्ध अतीत का स्मरण दिलाकर पाठकों को यह संदेश दिया है कि भारत की संस्कृति पुरातन आरण्यक संस्कृति रही है। हमारे प्राचीन ऋृषियों - मुनियों ने वन प्रदेशों, पर्वतों में निवास करते हुए महान ग्रंथों की रचना की है। अध्यात्म तथा दर्शन के लिए आरण्यक जीवन सबसे अधिक अनुकूल था। अरण्य प्राचीन कृषि परंपरा का अभिन्न अंग रहा है। बड़े -बड़े ऋृषि महर्षि वन कानन में ही रमकर साहित्य' तथा कला की साधना करते थे। अरण्य में उपजी वनस्पति तथा वहाँ निवास करने वाले जीवधारियों के बीच एक सह - अस्तित्व का वातावरण था। वन में निवास करने वाले पशु - पक्षी तथा आदिवासी वनवासी परस्पर मिल - जुल कर जीवन यापन करते थे। इस प्रकार जंगल में मंगल का वातावरण निर्मित हो चुका था। 'देख प्रकृति की ओर - कविता की कुछ पंक्तियाँ इस बात की साक्षी हैं -

'कहाँ गए आरण्यक लिखने वाले / मुनि - संन्यासी /
जंगल में मंगल करते / वे वन्य पशु वनवासी /
वन्य पशु नगरों में भटके / वन में डाकू चोर / देख प्रकृति की ओर।'[8]

जब से मनुष्य ने तथाकथित रूप से विकास करना प्रारम्भ किया है' तब से परस्थितियाँ बिलकुल विपरीत हो गयी हैं। कवि के अनुसार वनों के अत्यधिक कटान तथा मनुष्य द्वारा अतिक्रमण के कारण वन्य जीव अपना स्वाभाविक ठौर - ठिकाना छोड़कर नगरों - गाँवों का रुख कर रहे हैं। इतना ही नहीं' अब जंगलों में चोर - उचक्के तथा डाकू घूमने लगे हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह प्रकृति की ओर देखे उसकी देख - भाल

करे। शास्त्री जी ने बोलचाल के सरल शब्दों में यह संकेत किया है कि प्रत्येक नागरिक को अपने जन्मदिन पर एक पेड़ लगाना चाहिए। नदियों तथा स्वच्छ जल में उद्योग - धंधों से निकलने वाले जहरीले रसायनों को नहीं बहाना चाहिए। पर्यावरण संरक्षण हेतु कड़े अनुशासन का पालन करना चाहिए। तभी हम पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचा सकते हैं।

'निर्मल जल में औद्योगिक मल / बिलकुल नहीं बहाएँ /
हम सब अपने जन्मदिवस पर / एक एक पेड़ लगाएँ /
पर्यावरण सुरक्षित करने / देख प्रकृति की ओर।'[9]

कवि ने कविता की अगली पंक्तियों में प्राणि जगत तथा वनस्पति जगत के सहअस्तित्व को दर्शाने के अपने दार्शनिक भाव को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है -

जैसे स्वस्थ त्वचा से आवृत / रहे शरीर सुरक्षित /
वैसे पर्यावरण सृष्टि में / सब प्राणी संरक्षित /
क्षिति, जल, पावक, गगन वायु में / रहे शांति चहुँ ओर / देख प्रकृति की ओर।'[10]

नित्यगोपाल जी का मानना है कि जिस प्रकार स्वस्थ त्वचा से शरीर की सुरक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार संरक्षित पर्यावरण से सभी जीवधारी सुरक्षित रहते हैं। मनुष्य का शरीर पाँच तत्वों - धरती, आकाश, अग्नि, जल, तथा वायु से निर्मित है। एक भी तत्व की कमी पूरे जीवन के संतुलन को बिगाड़ सकती है। मनुष्य पंचतत्व से जन्म लेकर पंचतत्व में ही विलीन ही जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस में यह संकेत किया है कि मनुष्य का शरीर पाँच तत्वों से मिलकर निर्मित हुआ है।

'तारा विकल देखि रघुराया, दीन्ह ज्ञान हर लीन्हीं माया।
क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा / पंच तत्व यह अधम सरीरा।'[11]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जीवधारियों तथा वनस्पतियों के बीच नैसर्गिक साहचर्य अर्थात् सहअस्तित्व को बनाये रखने के लिए पर्यावरण का संरक्षण तथा सुरक्षा दोनों आवश्यक हैं।

संदर्भ :

1. डॉ. शिवकुमार सी. एस. हडपद, स्त्री कविता में माननीय संवेदना, पृ. 7
2. गोपालदास सक्सेना 'नीरज' 'काव्यांजलि' पृ. 11
3. शास्त्री नित्य गोपाल कटारे की, जल ही जीवन है, विपन्नबुद्धि उवाच, पृ. 23, http://vipannbudhi.blogspot.com/
4. वही
5. वही
6. वही
7. शास्त्री नित्य गोपाल कटारे की, देख प्रकृति की ओर, अनुभूति http://www.

anubhuti–hindi.org/chhandmukt/s/shastrinityagopalkatare/dekh-prakritikiore.htm
8. वही
9. वही
10. वही
11. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड, पृ. 693

वनस्पति शास्त्र विभाग
संत जेवियर्स कॉलेज (स्वायत्त), मुंबई - 400001.
हिंदी विभाग
संत जेवियर्स कॉलेज (स्वायत्त), मुंबई - 400001.

'समीचीन' के लिए शुभकामनाओं सहित

श्रीमती सुनीता गुप्ता

पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष
एल. एस. रहेजा कॉलेज
सांताक्रुज (पश्चिम),
मुंबई-400054

उदय प्रकाश की कहानियों में भूमंडलीकरण एवं भारतीय संस्कृतिः एक अनुशीलन

इति सिंह

उदय प्रकाश की कहानियाँ समकालीन घटनाओं का जीवंत साक्षात्कार कराती हैं। उनकी कहानियाँ संघर्षरत मनुष्य के भविष्य की अकुलाहट एवं बेचैनी तथा मौजूदा दौर की परिस्थितियों को एक जागरूक रिपोर्टर की भाँति रूबरू कराती हैं। उनके कथा साहित्य में एक लेखक का वह क्षुब्द मन है जो समाज के बदलते रूप, खत्म होती मानवता तथा बढ़ती महत्वाकांक्षाओं के प्रति न सिर्फ चिंता व्यक्त करता है बल्कि आगाह भी करता है। बाजार के घुसपैठिये स्वभाव को वे बड़ी ही सूक्ष्मता से देखते हैं और बताते हैं कि यह समय बाजार, शक्ति, सत्ता, पूँजी एवं उपभोक्तावाद का है। अभी तक हिंदी कहानी की जो चली आ रही परिपाटी थी, उससे हटकर उन्होंने लम्बी कहानी के माध्यम से हिंदी कहानी को एक नए कलेवर में प्रस्तुत किया। उदय प्रकाश की कहानी मोहनदास, दत्तात्रेय का दुःख, छप्पन तोले का हार, हीरालाल का भूत, तिरिछ, दिल्ली का दीवार आदि सभी कहानियाँ मानव मन को झकझोर देती हैं, आँखों के सामने से रंग-बिरंगे मायाजाल का पर्दा हटा देती हैं और समाज का ऐसा रूप दिखाती हैं जिसे देखकर यकीन नहीं होता कि हम इसी समाज में रहते हैं। उदय प्रकाश के कथा साहित्य में यूँ तो समाज के विभिन्न आयाम और उनके बदलते स्वररूप को परखा जा सकता है लेकिन भूमंडलीकरण एवं भारतीय संस्कृति पर इसके प्रभाव का अनुशीलन इनके कथा साहित्य को नए ढंग से पढ़ने और विश्लेषण करने का नवीन द्वार खोलता है।

एक समय बाजार की उपयोगिता इसलिए थी कि वह हमारी जरूरतों को पूरा करने का एक विकल्प था लेकिन अब बाजार ने इतने विकल्प खोल दिए हैं कि हम उनमें से किसी न किसी को चुनने के लिए विवश हैं। भूमंडलीकृत इस बाजार ने मनुष्य का एक ऐसा वर्ग तैयार कर दिया है जो सिर्फ अपने नफा-मुनाफे के बारे में सोचता है। जो अपनी इच्छा-पूर्ति हेतु कुछ भी करने को तैयार है। भारतीय समाज पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को उदय प्रकाश की कहानी 'और अंत में प्रार्थना' के इन पंक्तियों से समझा जा सकता है -

'रुपयों के आने का प्रमाण था कि दिल्ली से एक हजार पाँच सौ किलोमीटर से भी ज्यादा दूर मध्य प्रदेश के एक बेहद पिछड़े इलाके के इस कस्बे में मारुती, टाटा सिएरा जैसी कारें, जापानी तकनीक से बनी मोटरसाइकिलें, वाक मैन, कैसेट रिकॉर्डर्स दिखाई देने लगे थे। अब ऐसी आधुनिकता आ रही थी जिसका सम्बन्ध क्षेत्र के विकास या पिछड़ेपन से नहीं, बल्कि, रुपयों अर्थात मुनाफे से था। जिसके पास रुपया था वह आधुनिक हो रहा था जिसके पास नहीं था वह पिछड़ रहा था। कोतमा के कोलियारी के मजदूर जिनके लिए इस शताब्दी के महान दार्शनिकों ने घोषित किया था कि यह

वह वर्ग है जिसके श्रम की बुनियाद पर सभ्यता का सारा ढाँचा टिका हुआ है और जो आने वाले दिनों में जब अपने आप को शोषण और जहालत की जंजीर से मुक्त करेगा तो एक नयी सभ्यता और समाज व्यवस्था का चेहरा उभरेगा, वही कोतमा-कोलियारी का मजदूर ओवर-शिफ्ट में पैसा कमा रहा था, दारू पी रहा था, वी सी आर किराये में लेकर ब्लू और बम्बइया फिल्में देख रहा था और मस्त था। शहर के बाहर चुँगी नाके पर छोटे-छोटे ढाबे खुले हुए थे जहाँ शराब मिलती थी और स्नो-पाउडर पोतने वाली आदिवासी लड़कियाँ ग्राहकों के पास बैठती थीं।'[1]

'मैं बाजार का विरोधी नहीं हूँ, लेकिन मार्केट कोई 'कलेक्टिव ड्रीम नहीं है, यह कोई यूटोपिया नहीं है, इसमें कोई स्वप्न नहीं देखा जा सकता, इसमें ऐसा कुछ नहीं है जो उदात्त, विराट और नैतिक हो। मुनाफा, नगदी, लाभ, घाटा, इसके सारे इंग्रेडिएंट्स घटिया, क्षुद्र और छोटे लोग हैं, यह लालच ठगी होड़ स्वार्थ और लूट-खसोट के मनोविज्ञान से परिचालित होता है।' यह कहना है उदय प्रकाश की कहानी 'पीली छतरी वाली लड़की' के पात्र 'किन्नू दा' का। वे आगे कहते हैं 'क्या तुम अपनी आँखों से नहीं देख सकते कि यह मार्केट जहाँ-जहाँ, जिन-जिन देशों में आया है, उसने उन्हें टुकड़ों-टुकड़ों में तोड़ कर, उन्हें रक्तपात और हिंसा के हवाले कर डाला है।'[2]

अपनी कहानी 'सुनो कारीगर' (1980, पृष्ट.12) में उदय प्रकाश ने एक कविता 'सुराही' के माध्यम से समाज तथा संस्कृति पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को दिखाने का बखूबी प्रयास किया है-

'बाजार के मुताबिक / तैयार करो सुराही / नहीं तो वो गेंडा सा तुंदियल /
टेढ़ा-मेढ़ा हाथी का बच्चा ठेकेदार कहेगा / टेढ़ी कैसी है / सुराही की गर्दन?'[3]

यह दबाब मालिक का अपने मजदूर के ऊपर नहीं है, बल्कि यह दबाब है, बाजार के आधिपत्य में अपने आप की जगह बनाने का। इस छोटी सी कविता में उदय प्रकाश, समाज के सामने एक व्यापक एवं महत्वपूर्ण प्रश्न रखते हैं, जिसमें कहा जा रहा है कि बाजार के हिसाब से सामान तैयार करो! क्यों? क्या सिर्फ बाजार ही मूलभूत आवश्यकता है? मनुष्य की कला, उसका विवेक कोई वस्तु नहीं? क्या आकर्षण ही एक मात्र विकल्प रह गया है? और यदि कोई आकर्षक नहीं, तो क्या उसका कोई मूल्य नहीं? यह एक बड़ा सवाल है बाजार की इस उपभोक्तावादी संस्कृति से। अब कोई नया गांधी पैदा होने वाला नहीं, जिसका सपना था अपने देश में कुटीर उद्योगों का विकास, लेकिन मॉल कल्चर कुटीर उद्योगों को जड़ से मिटाने के लिए मानो आतुर हो। हम अपनी चीजों को इतना नापसंद करने लगे हैं कि क्या कहा जाये! आलम यह है कि गाँव की या हस्त कला को हम नजरअंदाज कर देते हैं और कोई दूसरा जो बाजार के लुभावने मंतव्य को जानता है, वह उसी सस्ती या फिर घरेलू चीजों को किसी शोरूम तक पहुँचा देता है जहाँ उसकी कीमत आसमान छूती है और लोग अचंभित होकर क्रय-विक्रय करते हैं और एंटीक और यूनिक कहकर खरीदते हैं। इसमें हानि सिर्फ उनकी होती है जिसने

उसमें अपना श्रम लगाया और बहुमूल्य समय बिताया और अपना स्व झोंका।

पहले भारत या विश्व इतिहास के तमाम विकासशील देशों में वर्गभेद की यंत्रणा को लोगों ने झेला था लेकिन अब का वर्ग-भेद जो बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति ने पैदा किया है, उसके लिए कोई सिद्धांत और कोई मूवमेंट काम नहीं देगा। यहाँ तो सिर्फ पैसा चाहिए, जरूरतों को पूरा करने के लिए और जो गरीब मजदूर या जो पढ़े लिखे नहीं हैं वो मजदूरी से कितना ही अपनी जरूरतों को पूरा कर पाएँगे। ऐसे में वो कुछ ऐसा करना चाहेंगे जिससे उनकी जरूरतें पूरी हो सकें। 'और अंत में प्रार्थना' में लेखक पाठकों का ध्यान इन्हीं समस्याओं की ओर ले जाते एवं बेरोजगार एवं मजदूरों के बारे में लिखते हैं-

'वे अक्सर किसी पुलिया में बैठे किसी ट्रक, बैंक,या दुकान को लूटने की फैंटसी करते। दो चार पुलिस कांस्टेबल के साथ बैठकर गाँजा, चरस या अफीम की नेपाल सीमा से तस्करी करके मालामाल हो जाने की तरकीबें सोचते, इस इलाके में किस सेठ के पास सोना-चाँदी है, कहाँ गाँजा चरस मिलता है, किस-किस मोहल्ले की कौन-कौन सी लड़कियाँ चालू हैं, थाने का कौन सा इस्पेक्टर और कौन कांस्टेबल रिश्वत में क्या-क्या पसंद करता है- उन्हें सारी जानकारी रहती थी, टी वी में वो तरह-तरह के विज्ञापन देखते। उनके मन में उन चीजों को हासिल करने का लालच पैदा होता, लेकिन रुपये उनके पास नहीं थे, इसलिए दस पाँच मिलने पर ही वे सट्टा खेलते, लॉटरी की टिकट खरीदते। यह पैसा कमाने का उतना ही अवास्तविक हवाई और अनिश्चित तरीका था, जितना खुद उनका जीवन और उनकी स्थिति।'[4]

विज्ञापन और प्रिंट/इलेक्ट्रॉनिक/सोशल मीडिया ने रातों-रात अमीर बनने का एक ऐसा प्लेटफार्म उपलब्ध करवाया है जहाँ अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए शरीर को वस्तु बनाया जा रहा है। फेमिनिज्म की बात करते हुए यदि इसको भी लोग स्वतंत्रता मानें तो यह उनका विकल्प होगा लेकिन ध्यान लगाकर देखें तो नंगा करवाने वाला यह समाज अपने उतरे हुए कपड़ों से अपना मनोरंजन करता है और ऐसा नहीं कि कपड़े उतारने वाली स्त्री का ही जलवा बना रहे, वो आपको इतना महत्वाकांक्षी बना देते हैं कि मात देने के लिए वो दूसरे चेहरे को लाएँगे जिससे थोड़ा और ज्यादा डिमांड करेंगे और ये होड़ चलता रहेगा। आपकी इसी छद्म स्वतंत्रता का आनंद समाज लेगा। उदय प्रकाश इस सच्चाई का वर्णन करते हुए कहते हैं :-

'अभी आठ महीने पहले किशनगंज के जनता फ़्लैट में रहने वाले सर गंगाराम हॉस्पिटल के सफाई कर्मचारी राम औतार आर्य की सत्रह साल की बेटी सुनीला रातों रात मालामाल हो गयी थी क्योंकि किसी टी वी के विज्ञापन में वह आठ फुट बाई चार फुट साइज के विशाल ब्लेड के मॉडल पर नंगी सो गयी थी। सुनीला को अपने चेहरे पर उस ब्रांड के ब्लेड से होने वाली शेविंग से उपजने वाली चिड़ियों के पर के स्पर्श जैसे सुख और आनंदातिरेक को दस सेकंड के भीतर-भीतर व्यक्त करना था। यह काम अपने

चेहरे के क्लोज शॉट में उसने इतनी निमग्न, कुशलता, और स्वप्नातीत भावप्रवणता के साथ किया था कि देश के एक सबसे बड़े चित्रकार ने एक अंग्रेजी अखबार में वक्तव्य दिया था कि वे एक हफ्ते में उस विज्ञापन को डेढ़ सौ बार देख चुके हैं।'[5]

यह समाज का सबसे घिनौना पक्ष है। इसके त्रासद परिणाम क्या होंगे और कितनी मात्रा में होंगे यह समय ही व्याख्यायित करेगा। आधुनिक समाज पर विज्ञापन ने अपना ऐसा छाप छोड़ा है कि मानव चेतना किसी अंधकार गुफा में जाकर कैद हो गयी है। चारों तरफ प्रतिस्पर्धा का माहौल है, एक दूसरे से बेहतर दिखने-दिखाने का एक ट्रेंड बन गया है। हम सामने वाले को नीचा दिखाने और अपने आप को बेहतर बनाने में मानवीय मूल्यों के प्रति न सिर्फ लापरवाह हुए हैं बल्कि अपने सोचने-समझने, विचारने की क्षमता को भी खो दी है। हम मेहनत और संघर्ष से कटते जा रहे हैं और शार्ट-कट का ऐसा मार्ग देख रहे हैं या उसे अपनाना चाह रहे हैं, जिससे आसानी से हम सफलता एवं ऐशोआराम पा सकें और इस चक्कर में हम कितने दमनकारी और निरंकुश होते जा रहे हैं, कोई नहीं जानता।

'मोहनदास' कहानी में गरीब मनुष्य के जीवन की यंत्रणा और संघर्ष को दिखाया गया है, जहाँ कहानी का नायक 'वीर', फर्स्ट होकर भी अपनी पहचान और अपनी नौकरी के लिए भटक रहा है, जिसे गाँव के 10वीं फेल विसनाथ ने घूस देकर खरीद लिया। मोहनदास कहानी सिर्फ एक रचनाकार की रची एक कालजयी रचना ही नहीं वरन पूरे भारत में गरीब और लाचार लोगों के इंसाफ के लिए लड़ती एवं बड़े लोगों द्वारा किये गए अन्याय एवं भ्रष्टाचार का पदार्फाश करती है। व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि हेतु अपनी बीबी तक को आकर्षक बाजारू उत्पाद बना देने की चेष्टा रखने वाले लोगों पर कटाक्ष करने के लिए, कहानी 'मोहनदास' में विसनाथ का किरदार बनाकर उदय प्रकाश लिखते हैं -

'विसनाथ ने गजब की व्यवस्था कर रखी थी। अपने फ्लैट में श्रीवास्तव जी का जमकर सत्कार किया। अपनी पत्नी अमिता को उसने लो कट ब्लॉउज और नीची साड़ी में शरबत का ट्रे लेकर ड्राइंग रूम में आने का निर्देश दे रखा था। लेनिन नगर मार्केट में हाल में खुले शिल्पा ब्यूटी पार्लर में जाकर अमिता ने अपना फेसिअल कराया था। इंक्वायरी अफसर की नजर बार-बार अमिता की खुली नाभी पर अटक जाती थी। टी वी पर इन दिनों दिल्ली-मुंबई में चलने वाले फैशन शो के कार्यक्रम समाचार चैनलों पर खूब दिखाये जाते थे लेकिन यहाँ तो बिलकुल जिन्दा मॉडल जैसी औरत सामने खड़ी थी।'[6]

'पालगोमरा का स्कूटर' (2006) में भी उदय प्रकाश ने दिखाने का प्रयास किया है कि हम पाश्चत्य रंग में इतने रंगते जा रहे कि अपनी ही चीजों से घृणा आ रही। अपनी ही भाषा बोलने में हिचक हो रही। रामगोपाल नाम भी इतना ट्रेडिशनल लगने लगा कि दिल्ली के एक छोटे कवि ने अत्याधुनिक बनने और उपभोक्तावादी संस्कृति के हाथों अपना विवेक बेचने के लिए आतुर होकर तथा समाज की बराबरी करने के लिए अपना नाम 'पाल गोमरा' रख दिया। लोगों के बीच में छदम प्रशंसा एवं छदम इज्जत पाने के

लिए उसने स्कूटर खरीदा जबकि उसे चलाने नहीं आती। चूँकि नाम करना था समाज में सो उपभोक्ता बन गए। आप सोचिये हम किस गर्त में जा रहे? यही बेचैनी लेखक की सभी कहानिओं में दृष्टिगोचर होती है-

'दीवाली की रात थी। बच्चों ने कुत्ते की पूंछ में पटाखे की लड़ी बाँध दी और बत्ती को तीली दिखा दी थी। पटाखे धड़ा-धड़ फूट रहे थे और कुत्ता बदहवास, होशो-हवास खो कर चीखता, भोंकता, रोता, गिरता, पड़ता भाग रहा था। कुत्ता जब विनायक दत्तात्रेय के पास से गुजरा, तो उन्होंने कुत्ते के सामने हड्डी के टुकड़े फेंक दिए। एक तरफ लालच में कुत्ता हड्डी चबा रहा था, दूसरी तरफ पूंछ में बँधे पटाखों के लगातार फूटने की वजह से चीख, पुकार भी मचा रहा था। एक तरफ कुत्ते के मुँह से लार बह रही थी दूसरी तरफ उसके गले से चीख निकल रही थी। एक अद्भुत ट्रैजिक-कॉमिक दृश्य था। विनायक दत्तात्रेय हँसे। लोगों ने पूछा 'आप क्यों हँस रहे हैं?' तो उन्होंने जबाब दिया 'देखो इस कुत्ते को, यह बिलकुल तीसरी दुनियां का उपभोक्तावादी मनुष्य लग रहा है। उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद का दुर्दांत दृष्टान्त'[7]

तीसरी दुनिया के इसी उपभोक्तावादी मनुष्य के बारे में उदय जी ने सविस्तार चर्चा की है। विनायक दत्तात्रेय की वह व्यंग्यात्मक हँसी जिसमें पूरे मानव वर्ग का इतिहास है, यह सामान्य बात नहीं है, इससे पूरा समाज पूरा देश जुड़ा है। सच्चाई तो यह है कि हम सब जानते हुए एक ही चीज देख रहे हैं जो है पैसा, सफलता, सुविधा, जो येन केन प्रकारेण पूरा होना चाहिए। ऐसा नहीं है कि भारतीय इतिहास या विश्व इतिहास में बाजार पहले स्थापित नहीं था, लेकिन, तब हमारी इच्छाएँ सीमित थीं। हम वही चीज लेते थे जिसकी आवश्यकता अधिक थी। आज बाजार मनुष्य पर ऐसा हावी हो गया है कि हम अनावश्यक चीजों के उपभोग में दृढ विश्वास करने लगे। अंग्रेजों ने जब भारत को अपना उपनिवेश बनाया तभी से बाजार और उपभोक्ता की उस संस्कृति ने जन्म लिया जो भारत को खोखला बना दिया। व्यवसायी परिवार में लोग अंग्रेजों को खुश करने के लिए अपने बेटियाँ उन्हें भेंट के रूप में देने लगे। ऐसे ही एक परिवार की लड़की थी मोहिनी ठाकुर, जिसके पिता मछली और तम्बाकू व्यापर का ठेका, कंपनी से लेने के लिए, उसे बाजारू अस्त्र के रूप में तैयार कर रहे थे, जिसने शेक्सपियर के कुछ नाटकों के अंश कंठस्थ कर रखा था, बीफ खाना शुरू कर दिया था, पियानो बजाती थी और बिलकुल ब्रिटिश उच्चारण के साथ अंग्रेजी बोलती थी। एक दिन उसके ये सब मना करने पर उसकी माँ बोलती है- 'मोना, दुनिया तेजी से बदल रही है। यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो गयी है। ईस्ट इंडिया कंपनी सारी इंडिया को अपने कब्जे में करेगी। तुम जरा सा प्रैक्टिकल हो जाओ तो हम ऐश करेंगे।'[8]

समाज का कोई ऐसा तबका नहीं जहाँ बाजार ने अपनी जड़ें न जमाई हों, गरीब-अमीर सभी, यहाँ तक की बच्चे स्त्रियाँ सभी लोग एक जैसा ब्रांड पहनना चाहते हैं, लोग किसी से कम नहीं दिखना चाहते। अमीर बनने की त्वरित लालच का वर्णन उदय प्रकाश

अपनी कहानी 'दिल्ली की दीवार' (2017) में बताते हैं कि किस तरह औरतें रात में ठेले पर सामान बेचतीं और खंडहर में अपने ग्राहकों को खुश करतीं और सबके बीच में वो सबसे अमीर होतीं। अपनी कहानी 'ईश्वर की आँख' में भारत में शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ रहे निजीकरण और वैश्विक निवेश के गंभीर दुष्प्रभाव का एक नमूना देते हुए उदय प्रकाश बताते हैं -

'प्राथमिक शिक्षा के निजीकरण के परिणाम ये पब्लिक स्कूल हैं, जो कैपिटेशन, फीस, कॉशन मनी, और डोनेशन के नाम पर बच्चों के अभिभावकों से मनमाना रुपया निचोड़ते हैं और एक अद्भुत लोकतान्त्रिक सरकार के कंधें से कन्धा मिलकर अकूत कमाई कि बारामासी फसल काट रहें है। और इन स्कूलों से जो पौध बाहर आई, अपने वास्तविक परिवेश के प्रति उसकी अनभिज्ञता कम हैरतअंगेज नहीं है। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संस्थान में प्रवेश पाने वाले छात्रों से यह प्रश्न पूछा गया कि राष्ट्रगीत में जिन-जिन प्रांतों का जिक्र है उनके नाम बताइये - तो आश्चर्य यह था, साधारण टाट पट्टी से पढ़कर आने वाले बच्चों ने सही उत्तर दिया लेकिन पब्लिक स्कूल के बच्चों ने 'उच्छलल' 'विंध्यतिरंगा को भी भारत के प्रांतों में गिना डाला।'[9]

निष्कर्षः भूमंडलीकरण व बाजारवाद ने मानवीय संबंधों को दरकिनार कर दिया है, प्रेम सौंदर्य, सौहार्द, भाईचारा तो न जाने बाजार कि कौन सी स्कीम में विलुप्त होते जा रहा। इस बाजार ने अपनी जड़ें इतनी मजबूत बना ली हैं कि उससे निकल पाना मुश्किल होता जा रहा। पति अपने पत्नी के देह का इस्तेमाल कर रहा तो पत्नी या स्त्रियां उसे ऐशों आराम के लिए बेच रही ऐसे बाजारू नीति ने मनुष्य के मन आत्मा मस्तिष्क और देह तक को वस्तु बना दिया है जिसको आसानी से खरीदा एवं बेचा जा सकता है। शिक्षा इतनी बिकाऊ हो गई कि यह अब दिखावे ओर मुनाफे का केंद्र बनकर रह गई है। आकर्षक और भव्य तरीके से बनाये जा रहे प्राइवेट संस्थान बच्चों के व्यक्तित्व का एक अलग ही साँचा गढ़ रहें हैं।

समाज के असलियत को उदय प्रकाश ने अपनी कहानियों के माध्यम से लोगों तक पहुंचाने का काम किया है। भूमंडलीकरण ने जिस संस्कृति को जन्म दिया वो भविष्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकती है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने सभी जगह अपनी धाक जमा रखी है। कुल मिलकर उदयप्रकाश के कहानियों में बाजारवाद और भूमंडलीकरण के प्रसार का भारतीय संस्कृति पर बढ़ते दुष्प्रभाव को देखा जा सकता है। परंपरागत भारतीय संस्कृति एवं हमारे समृद्ध मूल्यों को इन दुष्प्रभावों से बचने हेतु हर स्तर पर प्रयास की आवश्यकता है।

संदर्भ :

1. प्रकाश उदय, और अंत में प्रार्थना 2006, पृष्ट.162
2. प्रकाश उदय, 'पीली छतरी वाली लड़की, 2005, पृष्ट.90
3. प्रकाश, उदय, 'सुनो कारीगर' (1980), पृष्ट.12

4. प्रकाश उदय और अंत में प्रार्थना, 2006, पृष्ट.163
5. प्रकाश, उदय. और अंत में प्रार्थना. नयी दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2006, पृष्ट.164
6. प्रकाश उदय, मोहनदास, 2006, पृष्ट.53
7. प्रकाश, उदय, पालगोमरा का स्कूटर, नयी दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2006, पृष्ट.42
8. प्रकाश उदय, वारेन हेस्टिंग्स का साँड़. नयी दिल्लीः वाणी प्रकाशन. 2014, पृष्ट.36
9. प्रकाश, उदय. ईश्वर की आँख, (1999) नयी दिल्लीः वाणी प्रकाशन. पृष्ट.35

शोधार्थी,
हिंदी विभाग,
बरकतुल्ला विश्वविद्यालय,
भोपाल

आगामी अंक

शोध - मीमांसा अंक

जुलाई - सितंबर 2022

प्रेमरंजन अनिमेष की रचनाओं पर केन्द्रित

अक्टूबर-दिसंबर 2022

Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222

देवेश ठाकुर

रचना-यात्रा के सात दशक

जन्म : 23 जुलाई, 1933, नानी के गाँव पैठानी (अल्मोड़ा, उत्तरांचल) में

रचना संसार

उपन्यास : भ्रमभंग, प्रिय शबनम, काँचघर, इसीलिए, अपनाअपना अकाश, जनगाथा, गुरुकुल, शून्य से शिखर तक, अंततः, शिखर पुरुष, जंगल के जुगनू, कातर बेला, जीवा, देवता के गुनाह, संध्या छाया, स्वप्न दंश, व्यक्तिगत, मारिया, कैम्पस कथा, स्मृतियों के कोलाज,

शीघ्र प्रकाश्य : तीसरी लड़ाई, ऐसा भी होता है, अपने अपने अंतर्द्वंद्व

काव्य : मयूरिका, अंतरछया, अवकाश के क्षणों में, कविताएँ (संपूर्ण कविताएँ)

कहानी : सिर्फ संवाद, फैसला तथा अन्य कहानियाँ

समीक्षा : नयी कविता के सात अध्याय, नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया, मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, हिन्दी कहनी का विकास, साहित्य की सामाजिक भूमिका, साहित्य के मूल्य, आलेख

शोध : प्रसाद के नारीचरित्र (पीएच. डी.), आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ, हिन्दी साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन (विश्वविद्यालय अनुदान अयोग की विशिष्ट परियोजना के अंतर्गत)

संपादन : कथाक्रम1, कथाक्रम2 (कुल 175 कहानियाँ), कथावर्ष1976, कथावर्षझ1977, कथावर्ष1978, कथावर्ष1979, कथावर्ष1980, कथावर्ष1981, कथावर्ष1982, कथावर्ष-1983, कथावर्ष1992, कथावर्ष1994, हिन्दी की पहली कहानी, रचना प्रक्रिया और रचनाकार, प्रेमचंद साहित्य के अध्येता : डॉ. कमल किशोर गोयनका किशोर साहित्यः दो सहेलियाँ (कहानी संग्रह), ममता (उपन्यास)

समाज और राजनीति : आजादी की आधी सदी और आम आदमी (तीन खंडों में)

जीवनी : बुद्धगाथा

आत्मकथा : मैं यों जिया (आरंभिक अंतर्यात्रा, चंदन वन के बीच, इस यात्रा में) (तीन खंडों में) इसके अतिक्त 6 लोकप्रिय अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद। 1500 से अधिक लेखों, शोधपत्रों, कहानियों, कविताओं, पुस्तक समीक्षाओं और स्तम्भ लेखों का प्रकाशन।